

सरण करते हुए पाणिनि ने लगभग २००० मूल शब्दांशों (Verbal root) की उद्भावना की थी जो धातु कहलाती हैं। धातुपाठ में इन्हीं का संग्रह है जिन्हें भ्वादिगण आदि १० गणों में विभक्त किया गया है। सभिन्त सूत्रों से काम चलाने के लिए गणपाठ की रचना की गई है। जब अनेक शब्दों के विषय में एक ही बात संज्ञा, प्रत्यय विधान आदि) कहनी हुई तो एक गण या समूह गणपाठ में दे दिया गया तथा गण के प्रथम शब्द से आदि' जोड़कर सूत्र बना दिया गया; जैसे—सर्वादीनि सर्वनामानि १।१।२७, यहाँ 'सर्व' आदि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा की गई है तथा गणपाठ में 'सर्व' से लेकर 'रिम्' तक सर्वादिगण प्रस्तुत किया गया है। (देखिये गणपाठ)

उणादिसूत्र को भी पाणिनिवृत्त बतलाया जाता है। वस्तुतः यह पाणिनि की रचना नहीं है। हाँ, पाणिनि ने उणादयो बहुलम् ३।३।१ सूत्र द्वारा उणादि सूत्रों की प्रामाणिकता अवश्य स्वीकार की है। इसी प्रकार पाणिनीय 'संज्ञा तथा लिङ्गानुशासन' नामक लघुग्रन्थों को भी पाणिनि की रचना मानना वैवादास्पद ही है। इनके अतिरिक्त यह भी कहा जाना है कि पाणिनि ने आताल-विजय या जाम्बवती-विजय नामक एक महाकाव्य की रचना की थी, जो आज उपलब्ध नहीं है।

वस्तुतः भगवान् पाणिनि ने शब्दानुशासन द्वारा संस्कृत भाषा को परिमार्जित व परिष्कृत करने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती वैशाकरणों के त्रुटिपूर्ण समीक्षा करके एक ऐसे व्यवस्थित व्याकरण की रचना की है जिसमें संस्कृत भाषा के दृढमानी रूप का विश्लेषण किया गया है। पाणिनि ने व्याकरण के सर्वसम्मत नियमों के साथ साथ पूर्ववर्ती वैशाकरणों के विशिष्ट त्रुटिपूर्ण का भी उल्लेख किया है जैसे 'मोक्ष' शाकल्यस्य ८।३।११, धवद् स्तोत्रा-नस्य ९।१।१२४' इत्यादि। पाणिनि व्याकरण्य संस्कृत भाषा की समृद्धि है। इस विविध रचना का उदय होने पर प्राचीन व्याकरण्य मुत्तप्राय न रहे। कोई उभरवर्ती व्याकरण भी पाणिनि व्याकरण्य के समान दृढ़ न हो पाया।



पतञ्जलि (२०० ई० पू० तथा प्रथम ई० शती के मध्य)

पतञ्जलि ने महामाध्य नामक ग्रन्थ की रचना की है अतः वे महामाध्यायकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका समय भी विद्वानों के विचार का विषय रहा है। कुछ विद्वानों के अनुसार उनका समय ईसा की प्रथम शती है। डा० वेनयेत्कर उनके समय १५० ई० पू० माना है। इस मत का आधार यह है—महामाध्यकार ने एक सूत्र की व्याख्या में लिखा है 'इह पुष्यमित्र याज्ञपामः' (यहाँ पुष्यमित्र को यज्ञ कराते हैं)। इस प्रयोग से विदित होता है कि पतञ्जलि ने पुष्यमित्र को यज्ञ कराया था। कथनतः वे पुष्यमित्र के समकालीन थे। इतिहासकारों ने पुष्यमित्र का समय १५० ई० पू० माना है। अतः पतञ्जलि का समय भी यही है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से भी इस मत की पुष्टि होती गई है। किन्तु युधिष्ठिर भीमाशक इस मत की स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि भारतीय गणना के अनुसार पुष्यमित्र का समय १२०० ई० पू० के लगभग होना चाहिये। इसलिये पतञ्जलि का समय भी वही होगा।

पतञ्जलि को शेषनाग का अवतार माना जाता है। अतः वहीं वहीं उनके लिये फणभृत्, महिषति इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। उन्होंने अपना मत प्रकट करते हुए गोनर्दीय शब्द का प्रयोग किया है—'गोनर्दी-त्वाह'। इससे विदित होता है कि वे गोनर्द प्रदेश के रहने वाले थे। व्याख्याकारों का अनुमान है कि जहाँ गाय बोल अधिक हृष्ट-पुष्ट होते हैं अतः विशेष गाय से गाद करते हैं (माधुनिक पञ्जाब तथा हरयाणा आदि), सम्भवतः यही पतञ्जलि का निवास स्थान रहा होगा।

पतञ्जलि ने पाणिनि के मुख्य मुख्य सूत्रों तथा कात्यायन के वातिकों की सहायता व्याख्या की है। पाणिनि के प्रति उनकी अत्यधिक श्रद्धा प्रकट होती है। उन्होंने पाणिनि के कतिपय सूत्रों का प्रत्याख्यान भी किया है, किन्तु वहाँ पर एवं तथ्य-निरूपण की दृष्टि ही रही है। पतञ्जलि के मतानुसार जिस वाक्य पाणिनि का एक वर्ण भी निरर्थक नहीं हो सकता, अतः उसके दोष का दुःसाहस कैसे किया जा सकता है? वातिककार के वातिकों की भी महामाध्यकार ने व्याख्या की है उनकी उपयोगिता पर विचार भी किया है।

साथ ही सूत्रकार एवं व्याकरणकार के वचनों की समीक्षा करते हुए अपना निर्णय भी दिया है। पाणिनीय व्याकरण में महाभाष्य के मन्तव्य सबसे अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं। 'यद्योत्तरं भुनिनां प्रामाण्यम्' इस न्याय के अनुसार पाणिनि के वचनों की छोड़ा कात्यायन के वचन अधिक प्रामाणिक हैं तथा कात्यायन के वचनों से भी अधिक पतञ्जलि के वचन प्रामाणिक हैं। वस्तुतः पाणिनीय व्याकरण के परिनिष्ठित रूप का निर्धारण करना पतञ्जलि का ही कार्य है।

व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से ही पतञ्जलि का कार्य महत्वपूर्ण नहीं है। प्रत्युत शैली की दृष्टि से भी उनका महत्त्व सर्वोपरि है। उन्होंने रोचक शैली तथा प्रवाहमयी भाषा में व्याकरण के सूक्ष्म तत्वों का विश्लेषण किया है। व्याकरण जैसे गीरस माने गये विषय को इतनी सरल सरस शैली में स्पष्ट रूप से समझाना पतञ्जलि की अद्वितीय विशेषता है। इनकी शैली में नाटकीयता है, यत्र तत्र रोचक सवादों के दर्शन होते हैं। भोजनचाल की मुहावरेंदार भाषा का व्याख्यान उपलब्ध होता है। हाँ, शैली की सरसता एवं रोचकता में कभी-कभी यह निश्चय करना भी कठिन हो जाता है कि महाभाष्यकार का स्वमन्तव्य वस्तुतः क्या है।

व्याकरण के प्रतिरिक्ता महाभाष्य में अन्य अनेक विषयों के संवेत भी उपलब्ध होते हैं। उसमें भारतीय इतिहास के कितने ही विवादास्पद सन्दर्भों पर नवीन प्रकाश पड़ता है, सरकारी भारतीय समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं का परिचय भी मिलता है। किञ्च, व्याकरण-दर्शन के विभिन्न मन्तव्यों का बीज भी महाभाष्य में विद्यमान है। इसी के आधार पर आगे चलकर भर्तृहरि ने व्याकरण-दर्शन का विनाश विवेचन किया है। महाभाष्य व्याकरण का आधार ग्रन्थ है।

यह ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत है। यहाँ सरस भाषा में सूक्ष्म एवं सहज धर्मों को प्रकट किया गया है। अतः चिरकाल में कुरलिप्य-परम्परा द्वारा महाभाष्य के मर्मों को समझने का प्रयास किया जाता रहा है। इसके अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये अनेक टीकाएँ भी लिखी गई हैं। उनमें से कतिपय टीकाएँ

अधिक प्रसिद्ध रही हैं । भर्तृहरि ने 'महाभाष्य टीका' नामक एक टीका लिखी थी जिसका कुछ अंश ही उपलब्ध हो सका है । शायद तो महाभाष्य के मर्म को समझने के लिये कैयटकृत 'प्रदीप' तथा नागेशकृत 'प्रदीपोद्योत' नामक टीकाएँ ही विशेष सहायक समझी जा सकती हैं ।

### द्वितीय युग

महाभाष्य के साथ २ पाणिनि व्याकरण का प्रथम युग समाप्त हो गया । ईसा की सातवीं शताब्दी में फिर अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य पर कुछ सरलटीका-ग्रन्थ लिखे जाने लगे । यहीं से द्वितीय युग का प्रारम्भ हुआ समझना चाहिए । इस युग में पाणिनि व्याकरण पर अनेक टीका-ग्रन्थ लिखे गये । भर्तृहरि ने महाभाष्य पर टीका लिखी । वामन तथा जयादित्य (६६० ई०) ने अष्टाध्यायी पर 'काशिका' नामक वृत्ति लिखी । 'काशिका' पर जिनेन्द्र बुद्धि ने 'न्यास' नामक ग्रन्थ लिखा तथा हरदत्त ने 'पदमञ्जरी' नामक व्याख्या की । इन युग में ही पाणिनि व्याकरण का दार्शनिक विवेचन भी प्रारम्भ हो गया । भर्तृहरि (६५० ई०) ने 'वाक्यपदीय' नाम का ग्रन्थ लिखकर इस विवेचना का श्रीगणेश किया । इस युग की अन्तिम रचना कैयट की प्रदीप नामक टीका कही जा सकती है जो महाभाष्य पर लिखी गई सुन्दर टीका है ।

भर्तृहरि—(सप्तम शताब्दी)

भर्तृहरि का सङ्कृत व्याकरण में अत्यन्त उच्च स्थान है । व्याकरण के मुनित्रय के पश्चात् उनकी ओर ही दृष्टि जाती है । फिर भी उनके विषय में हमारी जानकारी बहुत ही कम है ।

भर्तृहरि का समय भी अनिश्चित सा ही है । अनेक विद्वान् इन्डिय नामक चीनीयात्री के सेल का अनुसरण करके भर्तृहरि का समय सप्तम शती ई० का उत्तरार्ध मानते हैं । भारतीय परम्परा के अनुसार भर्तृहरि महाराज विजयनगर के भाई थे । मुक्तिष्टर मीमांसक ने इन्डिय के सेल की भूल की ओर संकेत करते हुए मुक्ति एवं प्रमाणों के आधार पर यह मिथ्या करने का प्रयास किया है कि भर्तृहरि का समय ईसा से कई शताब्दी पूर्व होना चाहिये ।

भट्टहरि के जीवनवृत्त के विषय में कुछ क्रिबदन्तिमाँ प्रचलित है। कुछ प्रामा-  
णिक विवरण भी मिलता है। वाक्यपदीय पर लिखी हुई पुष्पराज की टीका  
से विदित होता है कि भट्टहरि के कुछ बसुरात थे। 'प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमय-  
मागमसग्रहः' इस पंक्ति की प्रवृत्तिका में पुष्पराज ने लिखा है—'तत्र  
भगवता बसुरातगुदरा ममायमागमः सञ्जाय वात्सल्यात् प्रणीतः।' इतिहास के  
विवरण के अनुसार वाक्यपदीय का रचयिता भट्टहरि बौद्ध था उसने सात बार  
प्रव्रज्या ग्रहण की थी। किन्तु वाक्यपदीय के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि  
भट्टहरि वैदिकमतानुयायी थे। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—'वेदशास्त्रा-  
विरोधी च तर्कश्वभुरपश्यताम्'। इसी प्रकार अन्य छन्दों में भी उनकी वेद के  
प्रति भावना दिसलाई देती है।

भट्टहरि की रचनाएँ—संस्कृत वाङ्मय में भट्टहरि के नाम से अनेक ग्रन्थ  
मिलते हैं जैसे महाभाष्यटीपिका, वाक्यपदीय, नीतिशतक आदि शतकत्रय, भट्टि-  
काव्य तथा भागवृत्ति नामक अष्टाध्यायी की एक प्राचीन वृत्ति। इनके अतिरिक्त  
'वेदान्तसूत्रवृत्ति' आदि कतिपय अन्य ग्रन्थों का भी भट्टहरि से सम्बन्ध जोड़ा  
जाता है।

दुपिण्डर भीमाश्रम ने यह सिद्ध किया है कि वाक्यपदीय तथा महाभाष्य-  
टीपिका का रचयिता एक ही भट्टहरि है, भट्टिकाव्य तथा भागवृत्ति के कर्ता  
उससे भिन्न हैं, किञ्च भट्टिकाव्य एवं भागवृत्ति के रचयिता भी परस्पर भिन्न  
ही हैं। इस प्रकार तीन भट्टहरि हुए हैं, यह परिणाम निकलता है। जहाँ तक  
शतकत्रय का प्रश्न है, उसके विषय में यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि  
यह किस भट्टहरि की रचना है।

महाभाष्यटीपिका महाभाष्य पर लिखी गई एक विस्तृत व्याख्या थी।  
इतिहास के अनुसार इसका परिमाण २५००० श्लोक के बराबर था। यह  
व्याख्या अभी तक पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं हो सकी है। इसके उद्धारण अनेक  
ग्रन्थों में मिलते हैं। भट्टहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मवाक्य की स्वोपज्ञ टीका में भी  
इसकी ओर संकेत किया है—'सहितसूत्र-भाष्यविवरणो बहुधा विचारितम्'।

आधुनिक युग में डा० कीलहार्न ने महाभाष्यदीपिका का प्रथमतः परिचय दिया है। जर्मनी में बर्लिन के पुस्तकालय में महाभाष्यदीपिका के एक ग्रंथ की हम्बुल्टि विद्यमान है। इसकी फोटो कापी लाहौर तथा मद्रास के पुस्तकालयों में भी है। पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने इसका सम्पादन प्रारम्भ किया था।

वाक्यपदीय—यह व्याकरण दर्शन का ग्रन्थ है इसके तीन काण्ड हैं—ब्रह्म-काण्ड, वाक्यकाण्ड, प्रकीर्णकाण्ड। इसमें समस्त विश्व की शब्दब्रह्म का विवर्तना गता गया है, स्फोट रूप शब्द का विशद वर्णन किया गया है तथा व्याकरण के विविध विषयों का प्रक्रिया एवं भयं की दृष्टि से विवेचन किया गया है। वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड के कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं, शेष वाक्यपदीय भी प्रकाशित हुआ है अभी कुछ समय पूर्व वाक्यपदीय का टिप्पणी सहित अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

इस प्रकार भर्तृहरि केवल महाभाष्य के व्याख्याकार ही नहीं हैं। उनका विशिष्ट महत्त्व तो इसमें है कि उन्होंने व्याकरण दर्शन के स्वरूप को व्यवस्थित किया है। महाभाष्य में जो व्याकरण दर्शन के मूलव्यय यत्र-तत्र कहीं संकेत रूप से तथा कहीं स्पष्ट रूप में विद्यमान थे, उनका क्रमबद्ध वैज्ञानिक विश्लेषण प्रथमतः भर्तृहरि ने ही किया है। अपने इस मौलिक कार्य के कारण भर्तृहरि का सदा आदरपूर्वक स्मरण किया जाता रहेगा।

## तृतीय युग

तृतीय युग में पाणिनि व्याकरण के अध्ययन की दृष्टि बदल गई। विषय-विभाग के अनुसार अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्यवस्था की जाने लगी। वास्तव में ३ युग में शब्द-सिद्धि की प्रक्रिया पर अधिक बल दिया जाने लगा और सूत्रों के विवेचन पर कम। इस दिशा में सर्व प्रथम प्रयास विमल सरस्वती (१३५०) का था जिन्होंने 'रूपमाला' लिखी। इसी दृष्टि से रामचन्द्र (१५ शती) ने त्रैया-कौमुदी लिखी। १ प्रक्रिया-युग में सब से महत्त्वपूर्ण स्थान भट्टोजि धित का है। इस समय के व्याकरण के दार्शनिक विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थों में

‘वैयाकरण भूपण’ उल्लेखनीय है जिसे भट्टोजि दीक्षित के भतीजे कौण्डभट्ट ने लिखा था ।

भट्टोजि दीक्षित—(१६वीं शताब्दी ई० के लगभग)

भट्टोजिदीक्षित महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे । इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था । वैयाकरण भूपण के लेखक कौण्डभट्ट इनके छोटे भाई रङ्गोजिभट्ट के पुत्र थे । प्रौढमनोरमा की टीका ‘शब्दरत्न’ के लेखक हरिदीक्षित इनके पौत्र थे ।

पण्डितराज जगन्नाथ कृत ‘प्रौढमनोरमा-खण्डन’ नामक ग्रन्थ में विदित होता है कि भट्टोजिदीक्षित ने मूसिह के पुत्र शेषकृष्ण से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था । भट्टोजिदीक्षित ने ‘शब्दकोस्तुभ’ के शेषकृष्ण के लिये कुछ शब्द का प्रयोग भी किया है । एक अन्य स्थल पर इन्होंने ग्रन्थव्य दीक्षित को भी नमस्कार किया है । (ध्या० भा० का इतिहास पृ० ४४०) ।

बेलवलकर ने भट्टोजि दीक्षित का समय १६००-१६५० ई० माना है । कुछ विद्वान् इनका समय १५८० ई० (१६३७ वि० सं०) के लगभग मानते हैं । प० मुषिपठिर भीमासाक ने कतिपय प्रमाणों के आधार पर यह निर्धारित किया है कि इनका जन्म-काल वि० सं० की सोमहथी शताब्दी का प्रथम दशक मानना चाहिये ।

भट्टोजि दीक्षित की कृतियाँ—

भट्टोजि दीक्षित ने अनेक ग्रन्थ लिखे थे । इन्होंने अष्टाध्यायी पर ‘शब्द-कोस्तुभ’ नामक एक कृति लिखी थी । आज इस कृति के प्रारम्भ के दार्द प्रध्याय तथा अठुयं अध्याय ही उपलब्ध हैं । यह ग्रन्थ किसी समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता रहा होगा । इसीलिये इस पर अनेक टीकाएँ लिखी खी गई थीं । सम्भवतः पण्डितराज जगन्नाथ ने ‘शौस्तुभ-खण्डन’ नामक ग्रन्थ भी लिखा था ।

सिद्धान्तकौमुदी या वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी भट्टोजि दीक्षित की कीर्ति का प्रसार करने वाला मुख्य ग्रन्थ है । यह ‘शब्द कोस्तुभ’ के पश्चात् लिखा गया था । भट्टोजि दीक्षित ने स्वयं ही इस पर प्रौढमनोरमा नाम की टीका लिखी है । सिद्धान्तकौमुदी की प्रक्रिया-वृत्ति का सर्वोत्तम ग्रन्थ समझा जाता है । इससे पूर्व



को प्रक्रिया काय रिते गये थे उनमें सध्याध्यायी के सभी सूत्रों का समावेश नहीं था। भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में सध्याध्यायी के सभी सूत्रों को विविध प्रकारों में व्यवस्थित किया है, इसी के सम्बन्ध में सत्य धानुषा क कर्त्तों का विवरण दे दिया है तथा मौक्तिक मन्त्र के व्याकरण का विवरण करते वैदिक-प्रक्रिया एवं स्वर-प्रक्रिया को ध्यान में रखा दिया है। यही भट्टोजि दीक्षित ने वाग्विद्या, व्यास एवं परमहंस्य आदि सूत्रप्रमाणानुसारिणी व्याख्याओं तथा प्रक्रिया कौमुदी और उगकी टीकाओं के सभी की समीक्षा करते हुए प्रक्रिया पद्धति के अनुसार पाणिनीय व्याकरण का सर्वांगीण रूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने भावस्वरानुसार परिभाषाओं बानिरो तथा भाष्येष्टियों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने मुनिवच के मन्त्रों का सामञ्जस्य दिखनाया है तथा महाभाष्य का आधार लेकर कुछ स्वकीय मन भी रचाए हैं। साथ ही प्रसिद्ध ऋषियों द्वारा कृत किन्हीं विशदाम्ब प्रयोगों की साधना पर भी विचार किया है। मातृवुग में सिद्धान्तकौमुदी का अपना प्रचार एवं प्रसार हुआ कि वालुनि व्याकरण की प्राचीन पद्धति एवं सुषरोध आदि व्याकरण पद्धतियाँ विनीत होती जाती गईं। जालान्तर में प्रक्रिया-पद्धति तथा सिद्धान्त-कौमुदी के दोषों की ओर भी विद्वानों की दृष्टि गई किन्तु वे इसे छोड़ न सके।

इनके अतिरिक्त भट्टोजि दीक्षित का 'विदभाष्यमार' नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है (भारतीय विद्याभवन, बम्बई)। यह श्रुवेद सापणभाष्य का सार है। इसकी भूमिका में भट्टोजि दीक्षित की ३४ कृतियों का उल्लेख किया गया है। इनमें 'धातुपाठ-निर्णय' नामक ग्रन्थ भी है। हस्तलिपियों में इनकी 'अमरटीका' नामक कृति उपलब्ध हुई है।

पाणिनीय व्याकरण में भट्टोजि दीक्षित का महत्वपूर्ण स्थान है। पाणिनि-व्याकरण पर उनका ऐसा मज्झा प्रभाव पड़ा है कि महाभाष्य का महत्व भी भुला दिया गया है। यह समझा जाने लगा है कि सिद्धान्तकौमुदी महाभाष्य का द्वार ही नहीं है अपितु महाभाष्य का सशिष्ट किन्तु विशद सार है। इसी हेतु यह उक्ति प्रचलित है :—

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिधमः ।

कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिधमः ॥

प्रक्रिया के पुन को शास्त्रार्थ के क्षेत्र में प्रविष्ट कराने वालों में नागेश भट्ट का नाम अग्रगण्य है। इनकी प्रतिभा झूठी थी। इनका विविध शास्त्रों पर समान अधिकार था। उन्होंने व्याकरण के क्षेत्र में गङ्गा के उपाध्याय द्वारा प्रदत्त लघुन्याय की शैली का प्रवेश दिया तथा अनेक भौतिक एवं व्याख्यात्मक ग्रन्थों की रचना की।

नागेश भट्ट—(१७ वी तथा १८वीं शती ई०)

नागेश भट्ट या नागोजि भट्ट के जीवन वृत्त के विषय में भी बहुत कम ज्ञात हो सका है। जनधुति के अनुसार वे महाराष्ट्र के एक श्रद्धेयी ब्राह्मण थे। शब्देन्दु-शेखर के मङ्गल से विदित होता है कि उनके पिता का नाम शिवभट्ट तथा माता का नाम सती देवी था—'शिवभट्टमुतो धीमान् सतीदेव्यास्तु गर्भजः'। नागेश भट्ट के पूर्वज 'उपाध्याय' कहलाते थे। मङ्गल श्लोक में बताया गया है कि नागेश-भट्ट शृङ्गवेरपुर के राजा राम के छात्रिन थे। शृङ्गवेरपुराधीशद् रामतो लब्ध-जीविनः। विद्वानो का विचार है कि शृङ्गवेरपुर को छात्रवस शिगरीरा कहा जाता है, यह प्रयाग से कुछ मील पर स्थित है (परमलघुमञ्जूषा बहोश १६६१, धूमिका)। लघुशब्देन्दुशेखर के अन्तिम श्लोक से पता चलता है कि उनके कोई सन्तान न थी, शब्देन्दुशेखर को पुन धीर मञ्जूषा को बन्धा मानकर उन्होंने शिव को अर्पित किया था—

शब्देन्दुशेखरः पुत्रो मञ्जूषा श्वेद बन्धवा ।

स्वमती सम्पुन्याय शिवयोरपिनी मया ॥

जनधुति है कि वे सोइल वर्ग की छात्रु तक प्रतिष्ठित रहे। एक बार अपनी प्रतिष्ठा के कारण उन्हें पण्डितों की भर्त्सना सहन करनी पड़ी, जिसने उनके जीवन की दिशा बदल गई। तभी वे सरस्वती देवी की अन्ति में लग गये और सरस्वती के वरदान से विभूत हो गये। उन्होंने हरिदोशित (भट्टोजि के पोत्र) से व्याकरण महाभाष्य का अध्ययन कि—



छा० वेङ्कटकर का विचार है कि श्रीङ्गनोरमा की टीका शब्दरत्न जो हरिदीक्षित के नाम से प्रसिद्ध है वह भी नागेश भट्ट की ही कृति है। इनके अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी नागेश भट्ट के ग्रन्थ हैं, जैसे काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका पर उद्योत नाम की टीका है, रसगङ्गाधर तथा योगसूत्रों पर भी व्याख्याएँ हैं।

वस्तुतः संस्कृत शास्त्रमय विशेषकर व्याकरण शास्त्र नागेश भट्ट के द्वारा गौरवान्वित हुआ है। नागेश भट्ट ने महाभाष्य के मर्मों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। व्याकरण दर्शन के क्षेत्र में उनका अद्वितीय स्थान है उन्होंने मञ्जूषा ग्रन्थ में व्याकरण दर्शनों का विषद विवेचन किया है। इस विवेचन में वेदान्त की हृदयग्राह्यता है और व्यास की तर्कप्रवणता।

सिद्धान्त-कौमुदी पर अन्य भी घनेक टीकाएँ लिखी गईं। उनमें परिव्राजकाचार्य ज्ञानेश्वर सरस्वतीकृत 'तत्त्वबोधिनी' विशेष महत्वपूर्ण है। किन्तु छात्रों की दृष्टि से 'बालमनोरमा' नामक टीका अधिक उपयोगी है। पाणिनि-व्याकरण में बालकौ का प्रवेश कराने के लिये भट्टोजि दीक्षित के शिष्य बरदराजाचार्य ने लघुकौमुदी तथा मध्यकौमुदी का निर्माण किया। लघुकौमुदी में व्याकरण प्रक्रिया का सभी अपेक्षणीय विवरण बरदराज ने दिया है यह सिद्धान्त कौमुदी का संक्षिप्त संस्करण होते हुए भी एक विसमरूप इति है।

१—पाणिनि व्याकरण के अध्ययनार्थं ज्ञातव्य बातें—

पाणिनि व्याकरण के सामान्य परिचय के साथ साथ यह भी जानना आवश्यक है कि संशोध की ओर पाणिनि का विशेष ध्यान रहा। इसके लिये उन्हें घनेक उपायों की काम में लाना पड़ा। जिनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाना है—

(१) प्रत्याहार—जब सादि के अक्षर का अन्त के इत्संज्ञक के साथ ग्रहण किया जाता है और उसके द्वारा भादि तथा मध्य के समस्त अक्षरों का बोध होता है तो उसे प्रत्याहार कहते हैं। १ ये प्रत्याहार विशेषकर वरुणोपासना के वर्णों का बोध कराने के लिये माहेश्वरगुरुओं के आचार पर बनाये गये हैं; जैसे—

१. आदिरन्त्येन सहेता १।१।७१

अइउए । १। अलृक् । २। एओङ् । ३। ऐऔच् । ४। हयवरेट् । ५। लण् । ६। अमट्णनम् । ७। भभञ् । ८। घवघप् । ९। जवगट्ठदम् । १०। खफट्ठयचट्ठत् । ११। कपय् । १२। शयसर् । १३। हल । १४।

ये १४ माहेश्वरसूत्र माने जाते हैं । इन सूत्रों के आधार पर अण्, प्रादि-४२ प्रत्याहार बनते हैं । इन सूत्रों में अन्तिम हल् (व्यञ्जन) की इत्संज्ञा होती है । प्रादि अक्षर को इत्संज्ञक के साथ मिला कर प्रत्याहार बनता है; जैसे 'अइउए' में अण् प्रत्याहार बनता है जो अ, इ, उ, का बोध कराता है । इसी प्रकार अन्य प्रत्याहारों के विषय में भी जानना चाहिये; जैसे तिङ् प्रत्याहार है, यहाँ प्रादि 'ति' २ को अन्तिम इत्संज्ञक ङ के साथ मिला कर 'तिङ्' बनता है और इससे क्रिया से लगने वाले १८ (१६ परस्मैपद + २ आत्मनेपद) प्रत्ययों का बोध होता है । वर्णमाला के ४२ प्रत्याहार ये हैं—(प्रकारादि क्रम से)

|       |        |        |        |        |         |
|-------|--------|--------|--------|--------|---------|
| १ अक् | ८ अण्  | १५ ऐष  | २२ जश् | २९ अप् | ३६ रल्  |
| २ अच् | ९ इक्  | १६ इय् | २३ भय् | ३० मय् | ३७ बल्  |
| ३ अट् | १० इच् | १७ खर् | २४ भर् | ३१ यम् | ३८ वल्  |
| ४ अण् | ११ इरा | १८ डम् | २५ भञ् | ३२ यण् | ३९ शर्  |
| ५ अण् | १२ उक् | १९ चय् | २६ भञ् | ३३ यम् | ४० णप्  |
| ६ अम् | १३ एङ् | २० षर् | २७ भप् | ३४ यय् | ४१ हल्  |
| ७ अल् | १४ एच् | २१ छय् | २८ बश् | ३५ यट् | ४२ हुम् |

(२) इत्संज्ञा - अष्टाध्यायी में निम्न वर्णों की इत्संज्ञा की गई है—  
 (I) घन्त वा हल् ३, (II) उपदेश ४ में अनुनासिक अच्, (स्वर) ५ (III) प्रत्यय के प्रादि में आने वाले चवर्ग, टवर्ग ६ तथा पकार ७ (IV) तद्धितभिन्न प्रत्ययों  
 १. हलन्त्यम् १।३।३, २. तिप्तसभित्तिष्मथमिषवम्सुताताभ्या—  
 सायाध्वमिद्वहिमहिद् ३।४।७८, ३. हलन्त्यम् १।३।३  
 ४. धातुसुत्रगणोणादिवाक्यसिद्धान्तशासनम् ।  
 प्रागमप्रत्यादेशा उपदेशा प्रतीतिरिति : ॥  
 ५. उपदेशोऽनुनासिक इत् १।३।२, ६. पुट् १।३।७, ७. वःप्रत्ययस्य १।३।६

पाने वाला लकार, शकार तथा क वर्ग । १ (V) घातु के आदि  
२ इत्संज्ञक का लोप हो जाता है । ३ किन्तु लोप हो जाने पर भी  
लक्षण मानकर कुछ कार्य हो जाया करता है । जैसे 'गर्गादिभ्यो यञ्'  
से यञ् प्रत्यय होता है जिसमें ङ् इत् संज्ञक है अतः यञ् प्रत्यय  
वने श्रित होने से आदि को वृद्धि होती है और 'गार्ग्य' रूप बनता  
है । 'अनुबन्ध' कहलाते हैं और इनके कारण व्याकरण में बड़ा लाघव

प्रधिकार—कुछ सूत्र ऐसे बनाये गये हैं जो यह बताते हैं कि घमुक्त  
सूत्र तक यह प्रत्यय होगा या यह कार्य होगा । ये प्रधिकार  
जाने हैं । जैसे—'कारके ३' अथवा 'प्राग्दिशो विधत्तिः ३२८'

अनुवृत्ति—लाघव के लिये पाणिनि ने ऐसा किया है कि एक (पूर्व)  
एक पद रस दिया, अग्रिम सूत्रों में जहाँ उस पद की आवश्यकता  
से लेकर धातु कर लिया गया । पूर्व सूत्रों से अग्रिम सूत्रों में  
अनुवृत्ति की ही अनुवृत्ति कहने हैं । सामान्यतः यह अनुवृत्ति एक  
पद वाले अग्रिम सूत्र में जाती है और फिर हमेशा धातु के सूत्रों में  
किन्तु कभी २ बीच के सूत्रों में किसी पद की अनुवृत्ति नहीं होती  
य धातु के (अवर्तन) सूत्र में हो जाती है । उसे अनुवृत्ति या  
अनुवृत्ति कहने हैं । (देखिये पृ० १८) ।

प्रत्यय—जहाँ घाने के सूत्र से पूर्व सूत्र में किसी पद की लोप  
है अर्थात् अन्विष्ट किया जाना है वहाँ प्रत्यय कहा जाता है  
(११५) ।

प्रत्ययक शब्द—(i) एकादेश—जहाँ दो वर्गों की मिलाकर  
जाता है वह एकादेश कहलाता है जैसे घ+इ=ए एकादेश होना  
परस्पर—जहाँ पूर्व तथा पर शब्द की मिलाकर परस्पर हो  
जाता है, जैसे—घ+एङ्गे=अङ्गे, यहाँ घ+ए-

परस्पर ११३८

य संत. ११३८

२ पारिविदुः ११३८

ए होता है । (iii) पूर्वरूप—जहाँ पूर्व तथा पर वर्णों के मिलने पर पूर्वरूप हो जाता है वह पूर्वरूप कहलाता है; जैसे—हरे+भव=हरेऽव, यहाँ ए+भ=ए होता है । (iv) प्रकृतिभाव—जहाँ वर्णों को प्राप्त होने वाला कोई विकार नहीं होता, वह प्रकृतिभाव (जैसा का तैसा रहना) कहलाता है; जैसे मो+भप्रम्=मो भप्रम्; यहाँ विकल्प से मो+भ=मो+भ ही रहता है; पूर्वरूप आदि नहीं होता ।

(७) कुछ ज्ञातव्य संज्ञाएँ—(i) भङ्ग—जिस धातु या प्रातिपदिक से प्रत्यय का विधान किया जाता है उसे भङ्ग कहते हैं । १ जैसे—कर्ता, यहाँ कृ (प्रकृति) से कृष् प्रत्यय कहा गया है । कृ भङ्ग है ।

(ii) प्रातिपदिक—धातु और प्रत्यय (प्रत्ययान्त) को छोड़ कर सभी धर्मयुक्त शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है । २ प्रत्ययान्तों में भी कृदन्त तादृशान्त तथा समस्त पदों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है । ३ प्रातिपदिक सशक शब्द से सु आदि (सुप्) प्रत्यय लगते हैं ।

(iii) पद—(क) सुबन्त तथा तिङन्त की पद संज्ञा होती है; ४ जैसे—राम+सु=रामः यह सुबन्त है और पठ्+य+ति=पठति यह तिङन्त पद है । सु से लेकर सुप् तक के सातों विभक्तियों के २१ प्रत्यय सुप् कहलाते हैं तथा ति से लेकर महिद् तक धातु से लगने वाले १८ प्रत्यय तिङ् कहे जाते हैं । ये सुप् और तिङ् प्रत्याहार हैं । (ख) सिद् (जिसमें स् की इत्संज्ञा हो) प्रत्यय परे होने पर पूर्व की पदसंज्ञा होती है । ५ (ग) सर्वनामस्थान ६ को छोड़कर सु से लेकर कप् तक के प्रत्यय परे होने पर पूर्व की पद संज्ञा होती है । ७ पद संज्ञा हो जाने से राजत्वम्=(राजन्+त्व) में नलोप होता है ।

१ यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १।४।१३

२ धर्मवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५

३ कृत्तद्धितसम्प्रसारश्च १।२।४६

४ मुक्तिङ्

५ नपु

॥ सिति च १।१।१६

के तीन प्रत्यय सु, शी, जस् तथा द्वितीया कहलाते हैं (सुडनपुंसकस्य १।१।४३) ।

(Vi) भ संज्ञा—(क) जिस प्रत्यय के आरम्भ में यकार या यच् (स्वर) है उसके परे होने पर पूर्वं की भ संज्ञा होती है, पद संज्ञा नहीं । (ख) अन्त और सकारान्त शब्द की मत्वर्थ प्रत्यय परे होने पर भ संज्ञा है । २

V) विभाषा—प्रतिषेध तथा विकल्प की विभाषा संज्ञा होती है (नवेति १।१।४४) विभाषा का अर्थ है किसी कार्य का विवक्ष्य से होना । या 'अन्यतरस्याम्' शब्दों का भी विभाषा शब्द के अर्थ में प्रयोग किया है । यह विभाषा कई प्रकार की होती है, जैसे १. प्राप्त विभाषा—नियम से प्राप्त हुए कार्य का विकल्प, २. अप्राप्त विभाषा—किसी नियम पर कार्य का विकल्प से विधान, ३. उभयत्र विभाषा (प्राप्ताप्राप्त) —कहीं प्राप्त तथा कहीं अप्राप्त विधि का विकल्प, ४. व्यवस्थित—व्यवस्था से विकल्प अर्थात् कहीं कार्य होना कहीं न होना (देखिये ) ।

1) उपधा—अन्तिम वर्ण से पहले वाले वर्ण की उपधा संज्ञा होती (उज्ज्याद पूर्व उपधा १।१।६३) । जैसे—पद् में पकार से आगेले अकार १ संज्ञा है ।

2) टि—किसी शब्द का अन्तिम स्वर-सहित आगे वाला अक्षर टि है (अक्षोऽन्त्यादिटि १।१।६४) जैसे पद् में अद् टि संज्ञक है ।

3) संयोग—अथ व्यञ्जनी (हल्) के बीच में स्वर नहीं होते तो यह का संयोग कहलाता है (हलोऽन्तराः संयोग. १।१।७) । जैसे अल्प : ए का संयोग है ।

4) सम्प्रसारण—य, व, र, ल, के स्थान पर होने वाले ह, उ, ऋ १ सम्प्रसारण संज्ञा होती है (इभ्यः सम्प्रसारणम् १।१।४५)

गुण—अ, ए तथा ओ की गुण संज्ञा होती है (अदेर्गुणः १।१।११) ।

वृद्धि—आ, ऐ तथा औ की वृद्धि संज्ञा होती है (वृद्धिरादेर्च्



(Xii) लोप—प्राप्त प्रत्ययादि का अपने स्थान पर दृष्टिगोचर न होना कहलाता है (अदणं लोपः १।१।६०) । प्रत्यय के लोप की विविध स्थितियाँ हैं, शत्रु तथा शत्रु संज्ञा होती है (प्रत्ययस्य शत्रुशत्रुशत्रुः १।१।६१) प्रत्यादि संज्ञा से प्रत्यय का लोप कहा जाता है उसकी वही संज्ञा होती है ।

(Xiii) आदेश—किसी वर्ण आदि के स्थान पर दूसरा वर्ण आदि होना कहलाता है, जैसे समास में क्वा के स्थान पर स्थप् हो जाता है ।

(Xiv) आगम—किसी वर्ण आदि का प्रकृत या प्रत्यय के साथ आगम कहलाता है । ये आगम प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—टित्, तथा मित् । जो टित् आगम होता है, वह जिसे कहा जाता है उसके आदि ११ है, किन्तु अन्त में होता है ११ मित् अन्त्य के अच् से चरे होता है १२

टप्पणी—आदेश तथा आगम प्राचीन संस्कार हैं, पाणिनि ने इनके लिये सूत्र नहीं बनाया ।

(c) शब्द-सिद्धि में सहायक कुछ अन्य सुवाय—(i) योग-विभाग—कभी कुछ प्रयोगों में किसी प्रत्यय आदि का विधान यथोपलब्ध नियमों से होता ऐसी दशा में महाभाष्यकार आदि ने सूत्र के दो घंश (योग) करके शब्दों की सिद्धि दिखलाई है यही योग-विभाग कहलाता है । (ये सूत्र ६८ आदि) ।

(ii) सापेक्ष—कभी कभी किसी नियम के अनुसार कोई शब्द सिद्ध नहीं किन्तु किसी आचार्य के द्वारा किये हुए प्रयोग से उसकी साधुता होती है । इसी प्रकार कुछ अन्य प्रकार

कुछ सूत्रादि द्वारा प्रकट न होने वाली या इष्टि नाम से प्रसिद्ध है ।

में यंत्र सत्र कुछ पारिभाषिक शब्दों [पृ० २५०] आकृतियण आदि । किया गया है । इन सब बातों

सहायक है ।

## अथ कारकप्रकरणम्

१ । प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६।  
नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्राति-  
पदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात् ।

अथ कारकप्रकरणम्—‘कारक’ शब्द का अर्थ है किया से सम्बन्ध रखने वाला । किसी वाक्य में जिस सज्ञा, सर्वनाम आदि का किया से सम्बन्ध होता है, वही कारक कहलाता है । जिन शब्दों का किया से सीधा सम्बन्ध नहीं, वे कारक नहीं कहलाते, जैसे—“देवदत्तः यज्ञदत्तस्य पुस्तकं पठति” (देवदत्त यज्ञदत्त की पुस्तक पढ़ता है) यहाँ देवदत्त पठन किया का करने वाला है और पुस्तक पढ़ी जाती है अतः ये दोनों कारक हुए, किन्तु ‘यज्ञदत्त’ का पठन किया से कोई सम्बन्ध नहीं, उसका सम्बन्ध है पुस्तक से, इसलिये ‘यज्ञदत्त’ यहाँ कारक नहीं । इस प्रकार सम्बन्ध को कारक नहीं कह सकते । संस्कृत व्याकरण के अनुसार केवल ६ कारक हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण; जैसा कि कहा भी है—

कर्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं सर्वं च ।

अपादानाधिकरणे इत्याहुः कारकाणि पद ॥

वस्तुतः सिद्धान्तकीमुदी का यह प्रकरण विभक्ति-प्रकरण है, जिसमें सातों, विभक्तियों का वर्णन किया गया है ।

प्रथमा विभक्ति । १. प्रातिपदिकेति—शब्द से जिस अर्थ की नियमपूर्वक उपस्थिति होती है वह प्रातिपदिकार्थ है । सूत्र में ‘मात्र’ शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है, अतः केवल प्रातिपदिकार्थ लिङ्ग मात्र एवं परिमाण मात्र अधिक होने पर तथा संख्या मात्र को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है ।

इस प्रकार प्रथमा विभक्ति निम्न चार अर्थों में होती है—

- (१) प्रातिपदिकार्थ मात्र, (२) लिङ्ग मात्र ॥ युक्त प्रातिपदिकार्थ,
- (३) परिमाण मात्र से युक्त प्रातिपदिकार्थ, (४) वचन मात्र ।

१. क्रियान्वयित्वं कारकत्वम् ।

(Xii) सोप—प्राप्त प्रत्ययादि का अपने स्थान पर दृष्टिगोचर न होना सोप कहलाता है (अदन्तं सोपः १।१।६०)। प्रत्यय के नीचे की विविध स्थितियों पर लुप्, श्नु तथा लुप् संज्ञा होती है (प्रत्ययस्य लुक्शुनुलुप् १।१।६१) पर्याप्त जिस संज्ञा से प्रत्यय का सोप कहा जाता है उसकी वही संज्ञा होती है।

(Xiii) आदेश—किसी वर्ण आदि के स्थान पर दूसरा वर्ण आदि होना आदेश कहलाता है, जैसे समास में क्वा के स्थान पर क्वाप् हो जाता है।

(Xiv) घागम—किसी वर्ण आदि का प्रकृति या प्रत्यय के साथ आ मिलना घागम कहलाता है। ये घागम प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—टित्, कित् तथा मित्। जो टित् घागम होता है, वह जिसे कहा जाता है उसके आदि में होता है, कित् अन्त में होता है। १ मित् घन्त्य के घप् से परे होता है। २

टिप्पणी—आदेश तथा घागम प्राचीन संज्ञाएँ हैं, पाणिनि ने इनके लिये कोई सूत्र नहीं बनाया।

(८) शब्द-सिद्धि में सहायक कुछ अन्य उपाय—(i) योग-विभाग—कभी-कभी कुछ प्रयोगों में किसी प्रत्यय आदि का विधान यथोक्त नियमों से नहीं होता ऐसी दशा में महामाध्यकार आदि ने सूत्र के दो अंग (योग विभाग) परके शब्दों की सिद्धि दिखलाई है यही योग-विभाग कहलाता है। (देखिये सूत्र ६८ आदि)।

(ii) शापक—कभी कभी किसी नियम के अनुसार कोई शब्द सिद्ध नहीं होता किन्तु पाणिनि आदि आचार्यों के द्वारा किये हुए प्रयोग से उसकी साधुता सिद्ध होती है यह शापक सिद्ध प्रयोग होते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य प्रकार के भी शापक होते हैं (देखिये पृ० २८)।

(iii) इष्टि—महामाध्यकार ने कुछ सूत्रादि द्वारा प्रकट न होने वाली बातों को अभीष्ट माना है वे भाष्येष्टि या इष्टि नाम से प्रसिद्ध हैं।

(६) इसके अतिरिक्त विविध प्रकरणों में यत्र तत्र कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रसङ्ग भी आ गया है। जैसे—निपातन [पृ० २२०] साहित्यिक आदि। उनकी व्याख्या यथास्थान करने का प्रयास किया गया है। इन सब बातों

का ध्यान रखना सरकृत व्याकरण के अध्ययन में विशेष सहायक है।

## अथ कारकप्रकरणम्

१ । प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।०५।  
नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्राति-  
पदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात् ।

अथ कारकप्रकरणम्—‘कारक’ शब्द का अर्थ है क्रिया से सम्बन्ध रखने वाला<sup>१</sup> । किसी वाक्य में जिस संज्ञा, सर्वनाम आदि का क्रिया से सम्बन्ध होता है, वही कारक कहलाता है । जिन शब्दों का क्रिया से सीधा सम्बन्ध नहीं, वे कारक नहीं कहलाते, जैसे—‘देवदत्तः यशदत्तस्य पुस्तकं पठति’ (देवदत्त यशदत्त की पुस्तक पढ़ता है) यहाँ देवदत्त पठन क्रिया का करने वाला है और पुस्तक पढ़ी जाती है अतः वे दोनों कारक हुए, किन्तु ‘यशदत्त’ का पठन क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं, उसका सम्बन्ध है पुस्तक से, इसलिये ‘यशदत्त’ यहाँ कारक नहीं । इस प्रकार सम्बन्ध को कारक नहीं कह सकते । संस्कृत व्याकरण के अनुसार केवल ६ कारक हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण; जैसा कि कहा भी है—

कर्त्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तर्पणं च ।

अपादानाधिकरणे इत्याहुः कारकाणि पद ॥

वस्तुतः सिद्धान्तकौमुदी का यह प्रकरण विभक्ति-प्रकरण है, जिसमें सातों, विभक्तियों का वर्णन किया गया है ।

प्रथमा विभक्तिः । १. प्रातिपदिकेति—शब्द से जिस अर्थ की नियमपूर्वक उपस्थिति होती है वह प्रातिपदिकार्थ है । भूत में ‘मात्र’ शब्द का प्रायेक के साथ सम्बन्ध है, अतः केवल प्रातिपदिकार्थ लिङ्ग मात्र एवं परिमाण मात्र अधिक होने पर तथा संख्या मात्र को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है ।

इस प्रकार प्रथमा विभक्ति निम्न चार अर्थों में होती है—

- (१) प्रातिपदिकार्थ मात्र, (२) लिङ्ग मात्र से युक्त प्रातिपदिकार्थ,
- (३) परिमाण मात्र से युक्त प्रातिपदिकार्थ, (४) वचन मात्र ।

१. क्रियान्वयित्वं कारकत्वम् ।

उच्चैः। नीचैः। कृष्णः। श्रीः। ज्ञानम्। अलिङ्गा नियतलिङ्गाश्च  
प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदाहरणम् अनियतलिङ्गास्तु लिङ्ग-  
मात्राधिक्यस्य। तटः। तटी। तटम्। परिमाणमात्रे, द्रोणो ग्रीहिः।

प्रातिपदिकार्थमात्रे—सार्वक शब्द को प्रातिपदिक कहते हैं। अंग्रेजी में जो शब्द की Crude form कहलाती है वही प्रातिपदिक समझना चाहिये। जिस शब्द के खोलने पर जो अर्थ नियम से उपस्थित होता है, उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं। शब्द के इस नियत अर्थ को प्रकट करने के लिये भी विभक्ति लगानी पड़ती है, क्योंकि संस्कृत में पद का ही प्रयोग किया जाता है (नापदं प्रयुज्यते तथा न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रापयः) और मुच्यन्त या तिङन्त को ही पद कहते हैं (मुत्तिङन्तं पदम्)। प्रातिपदिकार्थ से प्रथमा विभक्ति होती है। जो शब्द अलिङ्ग है अर्थात् किसी लिङ्ग का बोध नहीं कराते अथवा जो नियत लिङ्ग वाले हैं अर्थात् उनके अर्थ के साथ-साथ लिङ्ग का बोध भी नियत रूप से हो जाता है, वे ही इसके उदाहरण हैं। जैसे—उर्ध्वम्, नीचम् ये अलिङ्ग अव्यय शब्द हैं। इनसे प्रथमा विभक्ति होकर उर्ध्वम् + गु → गुः सोप, 'अव्ययों में गुः का सोप हो जाता है) और पद हो जाने से गुः को बिगने होकर उच्चैः आदि रूप होते हैं ॥। कृष्ण शब्द से पुंलिङ्ग की, 'श्री' शब्द से स्त्रीलिङ्ग की तथा 'ज्ञान' शब्द से नपुंसक लिङ्ग की नियम से प्रतीति होती है। अतः ये नियतलिङ्ग के उदाहरण हैं। इनसे प्रथमा विभक्ति होकर कृष्णः, श्रीः तथा ज्ञानम् रूप होते हैं।

लिङ्गमात्राधिक्ये—प्रातिपदिकार्थ के बिना केवल लिङ्ग आदि की प्रतीति हो जाती नहीं अतः लिङ्ग मात्र का अधिक बोध कराने के लिये प्रथमा होती है वह अर्थ समझना चाहिये। अनियत लिङ्ग वाले शब्द इन के उदाहरण हैं। जैसे—तटः, तटी, तटम् ये शब्द 'विनारा, अर्थ के साथ-साथ अवतः पुंलिङ्ग आदि का भी बोध कराते हैं, जो इनका नियत अर्थ नहीं। तट शब्द

... लिङ्ग वाला है, इसका नियत लिङ्ग एक नहीं। कभी पुंलिङ्ग कभी कभी नपुंसकलिङ्ग हो जाता है। इस प्रकार 'तटः' आदि शब्द

... के अनुसार अव्यय शब्दों से भी प्रथमा विभक्ति प्रतीति है

... और हो जाता है। विभक्ति लगाने पर ही अव्यय शब्द पर

... है और प्रयोग के योग्य होते हैं।

द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो ब्रोह्मिरित्यर्थः । प्रत्ययार्थे  
परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम्, प्रत्ययार्थस्तु  
परिच्छेदपरिच्छेदकभावेन ब्रोह्मी विशेषणमिति विवेकः । वचनं  
संख्या । एकः । द्वी । बहवः । इहोक्तार्थत्वादिभक्ते रप्राप्तौ वचनम् ॥

का निमित्त भयं तदस्य विनाशः) है । उसने अधिक पुस्तक आदि का ज्ञान भी  
यहाँ होता है । अतः ये लिङ्गभाषादिभर के उदाहरण हैं ।

परिमाणमात्राधिक्ये—(उपर्युक्त रीति से) परिमाण मात्र अधिक होने  
पर प्रथमा विभक्ति होती है । जैसे द्रोणः ब्रोहिः । 'द्रोण' एक परिमाण  
(मात्र) का नाम है । यदि यहाँ 'द्रोणः' शब्द से प्रातिपदिकार्थ से प्रथमा विभक्ति  
होती तो 'द्रोण रूप जो परिमाण उससे अधिक ब्रोहि' यह अर्थ प्रतीत होता ।  
क्यों ? यहाँ जो परिमाण है वह नाम (प्रातिपदिक) का अर्थ होता; और  
नियम यह है कि समान विभक्ति वाले नाम पदों के अर्थों का अभेदान्वय  
हूँगा करना है (नामार्थबोधभेदान्तरः) । किन्तु यहाँ 'द्रोण परिमाण से मात्रा  
हूँगा ब्रोहि' यह अर्थ असंभव है । अतः परिमाणमात्राधिक्य से प्रथमा विभक्ति  
का विधान दिया गया है । कलनः—यहाँ द्रोण शब्द से होने वाली प्रथम  
सामान्यगणिमान अर्थ को प्रकट करती है । द्रोण शब्द का अर्थ है—द्रोण  
नामक परिमाण-विशेष । इसलिये द्रोण (पदार्थ) का अर्थ (परिमाण-विशेष  
प्रथमा के अर्थ परिमाण सामान्य से अभेद सम्बन्ध से अन्विष्ट हो जाता है और  
'द्रोण रूप परिमाण' यह अर्थ हो जाता है) अर्थ परिमाण प्रत्यय का अर्थ  
है अतः इस अर्थ का परिच्छेद/परिच्छेदक-भाव सम्बन्ध से ब्रोहि से सम्बन्ध होता  
है और 'द्रोण रूप परिमाण से मात्रा हूँगा ब्रोहि' यह अर्थ हो जाता है

वचनमात्रे—वचन कहते हैं संख्या को । वचन लक्ष्य को प्रकट कर  
के निचे प्रथमा विभक्ति होती है, जैसे एकः, द्वी, बहवः । यहाँ एकत्व, द्वि  
तया बहुत्व शब्दों के अर्थ से ही प्रकट है । विष्णु, प्रथमा विभक्ति के ३  
प्रत्यय पुं, औ, जम् है उनका भी वचनः एकाव, द्विव, बहुत्व अर्थ हो  
है । अतः 'उदादा-नामप्रयोगः' (उक्त अर्थों का पुनः प्रयोग नहीं होता) है

१. जिससे कोई चीज जाती या लौटी जाती है वह परिच्छेदक ब्रह्माज्ञा  
और जो चीज जाती या लौटी जाती है वह परिच्छेदः ।

२। संबोधने च ।२।३।४७। इह प्रथमा स्यात् । हे राम ॥  
इति प्रथमा ॥

३। कारके १।४।२३। इत्यधिकृत्य ॥

४। कर्तुरीप्सिततमं कर्म १।४।४६। कर्तुः क्रियया प्राप्तु-  
मिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । कर्तुः किम् ? मापेप्श्वश्वं

स्यात् से प्रथमा विभक्ति नहीं होनी चाहिये थी, इसीलिये-सूत्र में 'वचन' प्रहण किया गया है ।

२ सम्बोधन इति—सम्बोधन में अर्थात् प्रातिपदिकार्थ की अपेक्षा सम्बोधन मात्र अर्थ अधिक होने पर भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है । इस प्रकार संस्कृत भाषा में सम्बोधन के लिये पृथक् विभक्ति नहीं है । जैसे—हे राम ! यहाँ राम शब्द से प्रथमा विभक्ति होकर (राम+सु), सम्बोधन में सु का लोप हो जाता है । इति प्रथमा ।

द्वितीया विभक्ति ३ कारके—इस सूत्र से कारक का अधिकार करके कर्म आदि कारकों की संज्ञा की गई है । यह अधिकार सूत्र है । इसके भागे जो कर्म आदि संज्ञाविधायक सूत्र हैं उन सब में 'कारक' पद का अन्वय होता है ।

४ कर्तुरिति—कर्त्ता अपनी क्रिया से जिस पदार्थ को प्राप्त करने की अधिक इच्छा रखता है वह कारक कर्मसंज्ञक होता है ।

कर्तुः किमिति—जो कर्त्ता की क्रिया द्वारा उसे सबसे अधिक अभीष्ट होता है वही कर्मसंज्ञक होता है । ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि यदि कोई पदार्थ कर्म आदि को अभीष्ट हो और कर्त्ता को अभीष्ट न हो तो उसकी कर्म संज्ञा नहीं होगी, जैसे—'उड़दों (माप) में घोड़े को बाँधना है ।' यहाँ उड़द कर्म (अश्व) को अभीष्ट हैं वही उन्हें खाना चाहता है । कर्त्ता के उड़द अभीष्ट नहीं, उसका अभीष्ट तो अश्व को बाँधना ही है । इस हेतु अश्व को कर्म संज्ञा होगी माप को नहीं । 'माप' बन्धन क्रिया का अधिकरण है अतः सप्तमी विभक्ति है ।

बध्नाति । कर्मण ईप्सिता माया न तु कर्तुः । तमग्रहणं किम् ?  
पयसा ओदनं भुङ्क्ते । कर्मत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहणमाधार-  
निवृत्त्यर्थम् । अन्यथा गेहं प्रविशतीत्यत्रैव स्यात् ।

५ । अनभिहिते २।३।१। इत्यधिकृत्य ॥

तमग्र इति—ईप्सित शब्द में तमप् प्रत्यय क्यों लगाया ? इसलिये कि जो  
वस्तु कर्ता को अपनी क्रिया द्वारा सबसे अधिक अभीष्ट हो, उसकी कर्म संज्ञा  
होनी चाहिये, अन्य की नहीं । जैसे -- 'पयसा ओदनं भुङ्क्ते' (दूध से भात  
खाता है) यहाँ कर्ता को अपनी भोजन क्रिया से ओदन अभीष्टतम है । यद्यपि  
यह दूध भी प्रातः करना चाहता है तथापि दूध भोजन क्रिया में साधन ही है,  
यह भोजन का उद्देश्य नहीं है । इससे ओदन की कर्म संज्ञा होती है पयः  
की नहीं ।

कर्म इति—यहाँ पाणिनि के सूत्रों का क्रम है—आचारोऽधिकरणम् १।४।४५,  
अधिशीङ्ख्यासां कर्म १।४।४६, अभिनिविशश्च १।४।४७ उपान्वध्याह्वसः  
१।४।४८ कर्तुं दीप्सिततमं कर्म १।४।४९। इस प्रकार 'अधिशीङ् रखासां कर्म'  
१।४।४६ सूत्र से 'कर्म' आ ही रहा था (अनुवृत्ति हो रही थी) फिर 'कर्म'  
का ग्रहण आधार निवृत्ति के लिये किया गया है । नहीं तो कर्म के साथ  
आधार भी जाता जाता तब 'गेहं प्रविशति' आदि में अभीष्टतम आधार 'गेहं'  
की ही कर्म संज्ञा होती, 'हरि भजति' आदि में हरि की नहीं । कर्म ग्रहण  
करने पर तो वही से किसी शब्द की भी अनुवृत्ति नहीं होती और हरि  
भजति आदि में भी कर्म संज्ञा हाँकर द्वितीया विभक्ति होती है ।

५ अनभिहित इति—'अनभिहित अर्थ में' इसका अधिकार करके ।  
अनभिहित शब्द का अर्थ है—अनुक्त । जिस अर्थ में कोई प्रत्यय आदि होता है  
यह अर्थ उक्त हो जाता है, जैसे—'सिष्यते' में कर्म से (विष्) प्रत्यय हुआ है,  
यहाँ कर्म उक्त हो जाता है । उक्त अर्थ से भिन्न अर्थ अनुक्त या अनभिहित  
होता है । यह अधिकार सूत्र है । आगे के द्वितीया आदि विभक्ति के विधायक  
सभी सूत्रों में 'अनभिहिते' वद का अन्वय होता है ।



६ । कर्मणि द्वितीया २।३।२। अनुवृत्ते कर्मणि द्वितीया  
 स्यात् । हरिं भजति । अभिहिते तु कर्मणि प्रातिपदिकार्थ-  
 भात् इति प्रथमेव । अभिधानं तु प्रायेण तिङ्शतद्धितसमासैः ।  
 तिङ्, हरिः सेव्यते । कृन्, सदम्या सेवितः । तद्धितः, शतेन

१ कर्मणीति—अनुक्त कर्म से द्वितीया विभक्ति होती है ।

हरिं भजति—[हरि को भजना है] इस वाक्य में कर्ता (भक्त) का ईप्सि-  
 टउय 'हरि' है । हरि की 'भ', 'कृन्' (लिंगान्त) कर्म से कर्म संज्ञा हो  
 जाती है । 'भजति' किया कर्तृवाच्य की है यही लकार (वि) कर्ता से हुआ  
 है । इसलिये कर्म अनुक्त है । किसी प्रत्यय आदि से कह नहीं गया । अनुक्त  
 कर्म होने से 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति होती है ।

अभिहित इति—उक्त कर्म से तो प्रातिपदिकार्थ इत्यादि नियम से प्रथमा  
 ही होती है ।

संदेह में बह सम्भवा आदि से हि कर्तृवाच्य के कर्म से द्वितीया विभक्ति  
 होती है । कर्मवाच्य के लकार कर्म में होता है अतः कर्म उक्त हो जाता है ।  
 यही (उक्त) कर्म से प्रातिपदिकार्थ वाच्य की प्रकट करने के लिये प्रथमा  
 विभक्ति होती है, जैसे—'हरिः सेव्यते' यही 'हरि' प्रथमा विभक्ति से है ।

अभिधानं चेति—वाच्य तिङ्, कृन्, तद्धित और समास से कर्म आदि  
 कारक उक्त होते हैं ।

हरिः सेव्यते—यही कर्म तिङ् से उक्त है, क्योंकि यही कर्म से लकार  
 होता है, कर्मवाच्य की किया है । अतः 'हरिः' में प्रातिपदिकार्थ वाच्य से  
 प्रथमा विभक्ति है ।

लकारादिति—ये 'सेव्यते' लकार 'कृन्' लङ् से 'भ' प्रत्यय (इत्)  
 होकर बना है । 'ल' प्रत्यय कर्म से हुआ है । कर्ता कर्म इत्यन्तर 'भ' से उक्त  
 हो गया । इसी से 'लकारादिति' यही यही 'हरि' से द्वितीया विभक्ति नहीं

\* अङ्गि कर्म उक्त होने से प्रातिपदिकार्थ वाच्य से प्रथमा होती है ।

प्रीतः शत्यः । समाप्तः, प्राप्त आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः ।  
वचचिन्निपातेनाभिधानं यथा 'विषयुक्तोऽपि संवर्ग्यं स्वयं छेत्तुम-  
साम्प्रतम् । साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यत इत्यर्थः ।

७। तथापुक्तं चानोप्सितम् । १।४।१०। ईप्सिततम-  
वधिक्रयया मुक्तमनोप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । प्राप्तं  
गच्छन् तुल्यं स्पृशति शोदनं भुज्जानो विषं भुङ्क्ते ॥

शब्दः—शब्देन प्रीतः (तो से खरीदा हुआ) । यहाँ शब्द शब्द से कर्म अर्थ  
में 'यत्' तद्धित प्रत्यय ( कृताञ्च ट्यप्तावगते ३।१।२१।) होकर 'शत्यः, शब्द  
व्यवस्था है कर्म तद्धित से उत्पन्न है अतः 'शत्यः' में द्वितीया विभक्ति में होकर  
प्रथमा ही होती है ।

प्राप्तानन्दः—प्राप्तः आनन्दो यं सः (देवदत्तादिः) प्राप्तानन्दः । यहाँ प्राप्त  
शब्द आनन्द दोनों शब्दों का द्वितीयार्थ में बहुव्रीहि समास हुआ है । अग्य  
पदार्थ (देवदत्तादि) का कर्म बहुव्रीहि समास से उत्पन्न हो जाना है इसलिये  
'प्राप्तानन्दः' इस समयका पद का जो अग्यार्थ है उसके बावजूद पद के  
द्वितीया नहीं होती अतः प्रातिपदिकार्थ बाध में प्रथमा ही होती है प्राप्तान-  
न्दो देवदत्तः' इति ।

'अभिधानं तु प्राप्तेन' में प्राप्तेन शब्द रखने का तात्पर्य दिखाना है वचचिन्निपातेनेति  
कही-कही निपात के द्वारा भी कर्म बाध उत्पन्न हो जाते हैं । अ, वा इत्यादि  
अग्यार्थों की निपात संज्ञा है । 'साम्प्रतम्' यह भी निपात है । 'साम्प्रतम्' का  
अर्थ है-अब । साम्प्रतम्-अबित नहीं (बहुव्रीहि) विषयुक्तोऽपि आदि में  
विषयस्य 'संवर्ग्यं तथा 'दिगुम्' का कर्म है । साम्प्रतम् निपात द्वारा विरहस्य  
को पद कर्मण उत्पन्न हो गई है, इसी हेतु विरहस्य शब्द से द्वितीया विभक्ति  
नहीं होती, प्रथमा होती है । विग्रहों का अर्थ है कि यह कर्म 'अवि' निपात  
द्वारा 'उत्पन्न' हो गया है ।

७. तथापुक्तवर्जित—जो पदार्थ वर्जों के अदीनित होते हुए भी ईप्सिततम  
को तरह किन्ना से पुनः होते हैं, उनकी जो कर्म संज्ञा होती है ।

१. तदीयेन इत्युक्तमर्थः । १।४।१०॥

८ । अकथितं च १ । ४ । ५ । अपादानादिविरोपरिविवक्षितं  
कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

ये अनोपित पदार्थ दो प्रकार के होते हैं — १. उदेव—जिनके प्रति कर्ता उदासीन रहता है और २. द्वेष्य—जिनके प्रति कर्ता द्वेष रखता है । इन दोनों प्रकार के पदार्थों पर यदि क्रिया का फल पड़ता है तो वे कर्मसंज्ञक होते हैं और कर्म में द्वितीया होती है ।

ग्रामं गच्छात्पुनं स्पृशति — (ग्राम को जाना हुआ जिनके को छूना है) यहाँ जाने वाले के लिये 'पुनं' उपेक्ष्य है किन्तु छूना क्रिया के फल में युक्त होने के कारण 'पुनं' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है ।

विषं भुङ्क्ते—(विष खाता है) यहाँ विष द्वेष्य है किन्तु जिस प्रकार ओदन (घात) खाने में ओदन का भोजन क्रिया से सम्बन्ध होता है उसी प्रकार यहाँ विष पर भी भोजन क्रिया का फल पड़ता है, इसी लिये विष की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है ।

टिप्पणी—यदि किसी को पुनं का स्पर्श करना अपवा विष खाना ही अभीष्ट है तो वहाँ जो 'पुनं स्पृशति', विषं भुङ्क्ते प्रयोग होंगे उनमें पूर्वसूत्र (४) से ही कर्मसंज्ञा होगी ।

॥ अकथितमिति—अपादान आदि विशेष रूपों से अविवक्षित कारक कर्मसंज्ञक होता है ।

अभिप्राय यह है कि जहाँ अपादान आदि का अर्थ प्रकट होता हो किन्तु कर्ता उसका प्रयोग नहीं करना चाहता । (अकथित—अविवक्षित) तथा कर्म की विवक्षा रखता है वहाँ उस कारक की कर्म संज्ञा होती है ।

टिप्पणी—(१) अकथितं च सूत्र से जो कर्म होता है उसे गौण या अग्रधान कर्म कहते हैं और 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' से जो कर्म होता है वह प्रधान कर्म कहा जाता है ।

(२) जिन घातुओं में दो कर्म होते हैं वे द्विकर्मक कहलाती हैं ।

दुह्याचपचदण्डरुधिप्रच्छिन्नशामुजिमयमुषाम् ।

कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहुकृष्णहाम् ॥

दुहादीनां द्वादशानां तथा नोप्रभृतीनां चतुर्णां कर्मणा

यद्युज्यते तदेवाकथितं कर्मेति परिगणनं कर्तव्यमित्यर्थः ।

गां द्योमि पयः । बलि याचते वसुधाम् । अविनीतं विनयं याचते ।

तण्डुलानोदनं पचति । गर्गान् शतं दण्डयति । यजमवरुणद्वि गाम् ।

दुह्, इति—१-दुह्, (दुहना), २-याच् (मांगना), ३-यच् (पकाना), ४-दण्ड (दण्ड देना), ५-यच् (रोचना), ६-प्रच्छ् (पूछना), ७-वि (चुनना), ८-य् (बहना), ९-शाम् (शासन करना), १०-त्रि (जीतना), ११-मय् (मचना), १२-मुष (मुषणा), १३-नी (ने जाना), १४-हु (हरना, ने जाना), १५-य् (धीवना), १६-वह्, (ने जाना, डोना),—इन दुह्, आदि १२ तथा नी आदि ४ कुल मिलकर १६ धातुओं के कर्म से मिलकर सम्बन्ध होता है (कर्मयुक्) और मिलने अपरादान आदि की विवक्षा नहीं होती, बही अवस्थित कर्म बड़ा जाता है । इस प्रकार यही धातु आदि से परिवर्तन किया गया है ।

१. गां द्योमि पयः—(गाय से दूध होना है) यहाँ गाय नामान्यतः अपरादान कारक है, किन्तु यह अपरादान कारक के रूप में विवक्षित नहीं, अतिसु दूध हर कर्म के निमित्त रूप में विवक्षित है अतः उपसृष्टि विदम (अवदित य) से गाय की कर्म मंडा होकर कर्म में द्वितीया विवक्षित होती है । इसका अर्थ होता है—नीमगन्धी पयःकर्मक होना । यदि अपरादान की विवक्षा होती तो पञ्चमी विवक्षित ही होगी, तथा 'नोदोमि पयः' वही प्रयोग होता । यहाँ 'पयः' प्रधान कर्म है और 'द्याम्' गौय कर्म ।

२. बलि याचते वसुधाम्—(बलि से पृथ्वी मिलना है) यहाँ बलि अपरादान है । इसकी विवक्षा होने पर बलि की कर्म मंडा होकर द्वितीया होती है । अपरादान बलि गौय कर्म है । अपरादान की विवक्षा से 'वतेर्द्वितीये वसुधाम्' यह प्रयोग होता ।

**माणवकं पन्थानं पृच्छति । वृक्षमवचिनोति फलानि ।** माणवकं

**अविनीतं विनयं चाधत्ते—**(अविनीत से विनय के लिये प्रार्थना करता है) यहाँ 'याच्' धातु का अर्थ अनुनय या प्रार्थना है । 'अविनीत' इसका मुख्य कर्म है—अविनीतं विनयाय अनुनयति (अविनीत से विनय के लिये अनुनय करता है) यह अर्थ होता है । 'विनय' में सम्प्रदान की विवक्षा न होने पर 'अकर्मिणं च' से कर्म संज्ञा होती है तथा द्वितीया विभक्ति होती है । अग्यों का मत है कि 'विनय' इसका मुख्य कर्म है । अविनीतकर्तृक विनय की प्रार्थना करता है अतएव 'अविनीत' वर्ता है । उसमें कर्मत्व की विवक्षा में द्वितीया होती है । अन्य मत के अनुसार 'अविनीत' से विनय की प्रार्थना करता है' यह अर्थ है । अविनीत अपादान है । अपादानत्व की अविवक्षा में इसकी कर्मसंज्ञा होती है ।

**१. तण्डुलान् ओदनं पचति—**(चावलों से भात पकाता है) यहाँ ओदन मुख कर्म है । तण्डुल करण है । तण्डुल में भी कर्म की विवक्षा में द्वितीया विभक्ति होती है । तण्डुल गौण कर्म है ।

**४. गर्गं शतं दण्डयति—**(गर्गों से सौ शय्या छुर्माता लेता है) यहाँ 'शत' मुख्य कर्म है । गर्गों से सौ शय्या दण्ड का लिया जाता है । शय्य अपादान कारक है । शय्य में कर्मत्व की विवक्षा होने से द्वितीया विभक्ति होती है ।

**५. वृक्षमवदण्डि गाम्—**(गाय को वृक्ष में रोक्ता है) यहाँ 'गाम्' अवदण्डि का मुख्य कर्म है । 'वृक्ष' (गोशाला) जो आधार या अधिकरण है, उसकी अविवक्षा होने पर अकर्मित कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ।

**६. माणवकं पन्थानं पृच्छति—**(लड़के से मार्ग पूछता है)—यहाँ पृच्छ मुख्य कर्म है । माणवक अपादान है । उसमें कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया विभक्ति होती है । कुछ का मत है कि माणवक करण है ।

**७. वृक्षमवचिनोति फलानि—**(वृक्ष से फलों को चुनता है)—यहाँ फल

धर्मं श्रुते शास्त्रि वा । शतं जयति देवदत्तम् । मुष्ठां क्षीरनिधिं  
प्रपूनाति । देवदत्तं शतं मुष्णाति । ग्राममजो वयति हरति  
कपयति वहति वा ।

मुष्ण धर्म है । दूध अनादान है । अनादान की विविधता से धर्म संज्ञा होकर  
झिनीया होती है ।

८, ९. माधवकं धर्मं श्रुते शास्त्रि वा—(माधवक ॥ तिये धर्म वा  
अनादान कहना है)—यहाँ धर्म मुख्य धर्म है । माधवक सम्प्रदान है । उससे  
धर्म की विविधता होने पर झिनीया विधत्ति होती है ।

१०. शतं जयति देवदत्तम् (देवदत्त से लो करके जीतता है)—यहाँ  
'शत' मुख्य धर्म है । देवदत्त अनादान है । उससे धर्म की विविधता होने पर  
झिनीया होती है ।

११. मुष्ठां क्षीरनिधिं प्रपूनाति—(लागर से अमृत मचका है)—यहाँ 'मुष्ठा'  
मुख्य धर्म है । 'क्षीरनिधि' अनादान है । उससे धर्म की विविधता होने पर  
झिनीया होती है । मुष्ठा के अन्त में 'क्षीरनिधि' मध्वन का मुख्य धर्म है । 'मुष्ठा  
॥ तिये क्षीरनिधि को मचका है' यह अर्थ है । मुष्ठा सम्प्रदान है । उससे  
धर्म वा होकर झिनीया हो जाती है ।

१२. देवदत्तं धर्मं मुष्णाति (देवदत्त से लो करके हराता है)—यहाँ 'धर्म'  
अनादान धर्म है । देवदत्त अनादान है । उससे धर्म वा होकर झिनीया विधत्ति  
होती है ।

१३, १४. धर्मं अजो वयति, हरति, कपयति, वहति वा—(दीव से बचने को  
से जाना है)—यहाँ 'अजो' मुख्य धर्म है । अ.व. अविपरल है । उससे धर्म  
संज्ञा होकर झिनीया विधत्ति होती है ।

अर्थनिवन्धनेयं संज्ञा । बलि मिशते वसुधाम् । माणवकं धर्मं भाषते अभिधत्ते वस्तीत्यादि । कारकं किम् ? माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति । # (या) अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽप्यत्र च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम् ॥ कुरुन् स्वपिति । मासमास्ते । गोदोहमास्ते । क्रोशमास्ते ।

अर्थनिवन्धनेति—‘अकर्मक’ से जो कर्म संज्ञा होती है, वह अर्थाभिन है अर्थात् दुह आदि धातुओं के समान अर्थवाली अन्य धातुओं के योग में भी अपादान आदि की अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा हो जाती है । इसीलिये ‘माप्’ धातु के अर्थ वाली भिक्षु धातु के योग में भी ‘बलि’ की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है तथा ‘बू’ धातु के अर्थ वाली ‘भाप्’ आदि धातु के योग में ‘माणवक’ में द्वितीया हो जाती है । इसी प्रकार अन्य परिगणित धातुओं की समानार्थक धातुओं के योग में भी यह कर्मसंज्ञा हुआ करती है ।

कारकं किमिति—सूत्र के अर्थ में ‘कारक’ शब्द रखने का क्या अभिप्राय है ? यह कि अपादान आदि कारकों की अविवक्षा में उनकी ही यह कर्म संज्ञा होती है सम्बन्ध की नहीं, इसलिये ‘माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति’ यहाँ ‘माणवक’ में द्वितीया नहीं होती, अपितु सम्बन्ध में पڑी ही होती है । यहाँ माणवक कारक नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध विद्या से नहीं, अपितु केवल पिता से है ।

अकर्मक इति (या)—अकर्मक धातुओं के योग में देश, काल, भाव तथा गन्तव्य मार्ग की कर्म संज्ञा होती है । जैसे—

कुरुन् स्वपिति (कुरुदेश में सोता है)—यहाँ ‘कुरु’ देशवाची है । यहाँ देश का अर्थ है—ग्रामों का समूह कुरु पाञ्चाल आदि जनपद । कुरु आदि जनपदवाचक शब्दों का बहुवचन में ही, प्रयोग होता है । ‘स्वप्’ धातु अकर्मक है । यहाँ ‘कुरु’ की इस वास्तविक से कर्म संज्ञा होकर ‘अर्थे’ द्वितीया (६) से द्वितीया होती है ।

मासमास्ते (मास भर रहता है)—मास कालवाची है । यहाँ काल शब्द दिन-रात के समूहवाचक मास आदि का ग्रहण होता है । ‘भाप्’ धातु अकर्मक है ।

गोदोहमास्ते (गो दोहन वेला में है)—यहाँ ‘गोदोह’ शब्द का अर्थ है

६। गतिबुद्धिप्रत्ययतानार्थशब्दवर्माकर्मवाणामणिवर्त्तासही  
 १।४।५२। गत्याद्यर्थानां शब्दवर्माणामवर्मवाणां पाणो यः वर्त्ता  
 सही कर्मस्थान् । शून्यमयस्त्वयं येदायं स्वानयेदयन् । ध्यायन्ना-

गोरोहन अर्थात् गो रोहन का समय । 'गोरोह' जल्य आचवार्थी है । आच का अर्थशाव है आगु का अर्थ ।

अंशमाने (कोन ज्ञात हो) :—यहाँ कोन ज्ञात करने का कार्य है। त्रिभुज में दो कोण ज्ञात होना है वह सम्पूर्ण कोण है। इसके द्वारा यहाँ कार्य के परिमाण के वाक्य 'कोन' काटि कर ज्ञात होना है।

शिवजी—(i) जहाँ वातावरणमोक्षदात्मकतासे (२५) से द्वितीया प्राप्त होती होती जहाँ दुःख वास्तव से बचने का द्वार द्वितीया होती है । (ii) दुःख आदि को जड़ अविद्यमान रूप से कहना अभीष्ट होता है जो 'सुरसु खरिदि' आदि प्रमाण भी होते हैं ।

कविपुत्रि हृदि ललन अर्थ बाणी, ज्ञान (बुद्धि) अर्थ बाणी ज्ञान (ज्ञानदान) अर्थ बाणी, कष्टदुर्घट तथा अर्थवश आशुको वा अथवा अथवा ज्ञानवान् अथवा है जो कवि होना है वह ज्ञान अर्थात् प्रेरणावश ज्ञान ही अर्थ हो जाना है ।

[illegible][illegible]

(1) **बंगाल प्रजासत्ताक** - बंगाल प्रजासत्ताक के राज्यपाल के रूप में कार्य करने के लिए नियुक्त किया गया है।



भुतं देवान्येदमध्यापयदधिम् । आसयत्सलिले पृथ्वीं यः समेश्रीहर्नितः ॥

जाने के लिये प्रेरित किया अतः हरि प्रयोजक कर्त्ता है । 'अगमयत्' यह निजन्त दशा का प्रयोग है । इसीलिये अनिजन्त अवस्था का कर्त्ता 'गन्वः' अगमयत् (निजन्त दशा) का कर्म हो जाता है । कर्म में द्वितीया होती है (गन्वः) ।

(२) वेदार्थं स्वान् अवेदयत् (स्वजनों को वेद का अर्थ समझाया) — यहाँ बुद्धि (ज्ञान) अर्थ वाली धातु 'बिद्' है । 'स्वे वेदार्थम् अविदुः' यह साधारण दशा का रूप है । 'अवेदयत्' निजन्त का प्रयोग है । उपर्युक्त नियम से अण्यन्त दशा का 'कर्त्ता' निजन्त की अवस्था में कर्म हो गया है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है — (स्वान्) ।

(३) आशयत् च अमृतं देवान् (देवताओं को अमृत खिलाया) — यहाँ 'अश्' खाना अर्थ वाली धातु है । 'देवाः अमृतम् आशयन्' (देवों ने अमृत खाया) यह साधारण दशा का रूप है । 'आशयत्' निजन्त का प्रयोग है । उपर्युक्त नियम से अण्यन्त अवस्था का कर्त्ता 'देवाः' निजन्त दशा में कर्म हो गया है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है — (देवान्) ।

(४) वेदमध्यापयत् विधिम् (ब्रह्मा को वेद पढ़ाया) — यहाँ 'इद्' पढ़ना अर्थ वाली धातु है । यह ऐसी धातु है, जिसका कर्म शब्द है (शब्दकर्मक) विधिः वेदम् अध्वर्युः (ब्रह्मा ने वेद पढ़ा); ब्रह्मा को हरि ने वेद पढ़ाया — 'हरिः विधिं वेदमध्यापयत्' । 'अध्यापयत्' निजन्त का प्रयोग है । यहाँ साधारण दशा के कर्त्ता 'विधिः' की उपर्युक्त नियम के कर्म संज्ञा-होकर द्वितीया हो जाती है ।

(५) आसयत् सलिले पृथ्वीम् (पृथिवी को जल पर स्थित किया) यह अकर्मक का उदाहरण है । आस् (बैठना, धातु अकर्मक है । 'आसत् सलिले पृथिवी' (पृथिवी सलिल पर स्थित हुई) । 'तां हरिः आसयत्' — उसे हरि ने स्थित किया । इस प्रकार साधारण दशा का 'कर्त्ता' पृथिवी है । 'आसयत्' यह निजन्त का प्रयोग है । उपर्युक्त नियम से साधारण दशा के कर्त्ता पृथिवी को कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हो जाती है ।

॥ शब्द-कर्मकारकं येषां ते शब्दकर्मकाः — शब्द है कर्म कारक जिनका कर्म होता है ।

गतीत्यादि किम् ? पाचयत्योदनं देवदत्तेन । अभ्यन्तानां किम् ? गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तं तमपरः प्रयुङ्क्ते, गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः ॥ ३ (वा) नीवह्योर्न ॥ नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन ॥

श्लोक का अर्थ यह है—जिम श्री हरि ने शत्रुओं को स्वर्ग भेजा, स्वर्ग को वेद का अर्थ समझाया, देवों को अमृत खिनाया, ब्रह्मा को वेद पढ़ाया और पृथिवी को जल पर स्थापित किया वह हरि मेरी गति है ।

(क) गतीत्यादि किमिति—गति आदि अर्थ वाली धातुओं के अभ्यन्त अवस्था के कर्ता को भ्यन्त अवस्था में कर्म संज्ञा देने की है यह क्यों कहा ? इस लिये कि इससे भिन्न धातुओं में यह नियम नहीं लगता । अतएव 'पाचयति ओदनं देवदत्तेन' यहाँ 'देवदत्त' की कर्म संज्ञा नहीं होती, अपितु धातु की साधारण दशा का कर्ता 'देवदत्त' (देवदत्तः ओदनं पचति) प्रेरणार्थक दशा में कर्ता ही (प्रयोज्य कर्ता) रहता है और उसमें "कर्तृकरणयोस्तृतीया" २ । ३ । १८ से तृतीया विभक्ति होती है ।

(ख) अभ्यन्तानां किम् इति—(सूत्र में) अणि अर्थात् अणिजन्त अवस्था के कर्ता को कर्म हो, यह क्यों कहा है ? इसलिये कि यदि गिजन्त अवस्था के कर्ता को कोई अन्य प्रेरित करे तो उसकी कर्म संज्ञा नहीं होगी जैसे :—

(i) 'यज्ञदत्तः पचति'—यहाँ साधारण दशा में 'यज्ञदत्त' कर्ता है ।

(ii) 'गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तम्'—यहाँ अभ्यन्त के कर्ता 'यज्ञदत्त' की भ्यन्त दशा में कर्म संज्ञा हो गई है ।

(iii) 'देवदत्तम् अपरः (विष्णुमित्रः) प्रयुङ्क्ते'—देवदत्त को भी विष्णुमित्र प्रेरित करता है—'गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः'—यहाँ 'देवदत्त' की कर्म संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि वह लिजन्त का कर्ता है, अणिजन्त का नहीं और, ऊपर के सूत्र से अभ्यन्त के कर्ता की ही कर्म संज्ञा होती है ।

नीवह्योर्न इति (वा)—'नी' 'वह्' (ले जाना) गिजन्त धातुओं के प्रयोज्य कर्ता की कर्म संज्ञा नहीं होती । जैसे—भृत्यो भारं नयति, वहति वा यज्ञी 'भृत्य' साधारण दशा का कर्ता है अर्थात् प्रयोज्य कर्ता है । 'नाययति, वाहयति वा भारं भृत्येन' यहाँ गिजन्त के प्रयोग से भृत्य की कर्म संज्ञा नहीं होगी अपितु वह कर्ता ही रहता है और कर्ता में तृतीया होती है । नी-वह् धातुओं का अर्थ है प्राण (पहँचाना=गति कराना) अतः यहाँ मृत्यर्थक होने से ऊपर का नियम प्राप्त था]

\* (वा) नियन्तृ कर्तृ कस्य वहेरनिषेधः ॥ वाहयति रथं वाहान्  
सूतः । \* (वा) आदिस्वाद्योर्न ॥ आदयति स्वादयति वाघ्नं वदुना ।  
\* (वा) भक्षेरहिंसार्यस्य न ॥ भक्षयत्यन्नं वदुना । अहिंसार्यस्य  
किम् ? भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम् ।

नियन्तृ इति—(वा) "नीवहणेन" इस वाकिक से किया हुआ कर्म  
संज्ञा वा निषेध वही नहीं होगा, जहाँ 'वह्' या 'वदु' का कर्ता नियन्तृ (हानि देने  
वाला) होगा । जैसे—

'वाहाः (भववाः) रथं वहन्ति' तान् नियन्ता (सारथि) प्रेरयति—

'वाहयति रथं वाहान् सूतः'—(सारथि अश्वों द्वारा रथ को से जाता  
है)—यहाँ 'वाह' (प्रयोग्य कर्ता) की कर्म संज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति  
हो ही जाती है ।

आदिस्वाद्योर्न (वा) — अभ्यन्त अद् और घाद् वातु के कर्ता को उनके अन्त  
प्रयोग में कर्म संज्ञा नहीं होती अतएव प्रयोग्यकर्ता में लुनीया होती है जैसे :—

आवयति, स्वादयति वा अन्नं वदुना (महके को अन्न खिलाता है)—  
वदुः भक्षम् इति (आदयति वा) तम् अभ्यः प्रेरयति—यहाँ अद् और घाद् वातु  
के भक्षनार्थक हानि के कारण सूत (गनिबुद्धि०) से 'वदु' की कर्म संज्ञा  
प्राप्त थी । उपर्युक्त वाकिक के अनुसार वह कर्म संज्ञा नहीं होती । अतएव  
'वदु' कर्ता ही रहता है और उसमें लुनीया विभक्ति होती है ।

भक्षेरहिंसायाम् न (वा) — जब भक्ष् वातु का भाष हिंसा, (पीड़ा देना  
या हानि पहुँचाना) नहीं होता तो उसके माधारण वशा के कर्ता को नियन्तृ  
के प्रयोग में कर्म संज्ञा नहीं होती । जैसे—

भक्षयति अन्नं वदुना — "वदुः अन्नं भक्षयति" (वदु अन्न खाता है)  
उत्ते दूतया प्रेरित करता है — "भक्षयति अन्नं वदुना ।" यहाँ वदु की कर्म  
संज्ञा नहीं होती तथा कर्ता में लुनीया विभक्ति ही होगी है ।

अहिंसार्यस्य किमिति — जहाँ 'भक्ष' वातु के भाष से हिंसा प्रकट होती  
है वहाँ इसके प्रयोग्य कर्ता की कर्म संज्ञा हो ही जाती है अतएव कर्तार्वर्तः

'वक्षयन्ति' तान् अभ्यः प्रेरयति 'वक्षयन्ति बलीवर्दान् सस्यम्' यहाँ 'वक्षय-

न्ति' होता है । अन्न की हानि वदुन को पीड़ा पहुँचानी है वही

है ।

‡(वा) जल्पयति प्रभृतोनामुपसंख्यानम् ॥ जल्पयति  
भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः । ‡ (वा) दृशेच्च ॥ दर्शयति  
हरि भक्तान् । सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणं न तु तद्वि-  
शेषार्थानामित्यनेन ज्ञाप्यते । तेन स्मरतिजिघ्रसीत्यादीनां न ।  
स्मारयति प्रापयति वा देवदत्तेन ॥

जल्पतीति (वा)—जल्पाति आदि का अत्यन्त अवस्था मे जो कर्ता होता  
है उसकी निजन्त दशा मे कम संज्ञा हो जाती है, यह भी कहना चाहिये ।  
जैसे—‘पुत्रो धर्मं जल्पयति भाषते वा । पुत्र को देवदत्त प्रेरणा देता है ता  
प्रयोग होया—‘जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्र देवदत्तः ।’ यहाँ इस वातिक  
के अनुसार पुत्र की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

दृशेच्च (वा)—दृश् (दिखना) धातु का साधारण दशा का कर्ता प्रेरणार्थक  
के प्रयोग में कर्मसंज्ञक हो जाता है । जैसे—‘भक्ताः हरिं पश्यन्ति ।’  
उन्हें गुरु प्रेरित करता है—‘दर्शयति हरिं भक्तान् ।’ यहाँ इस नियम से  
‘भक्त’ की कर्म संज्ञा होती है तथा धर्म ने द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानाम् इति (गतिबुद्धिः आदि) सूत्र मे बुद्धि शब्द  
से ज्ञानसामान्यवाची बुद्ध्य, ज्ञा आदि धातुओं का ही ग्रहण होता है ज्ञानविशेष  
की वाचक स्मरति, जिघ्रति आदि का नहीं—यह ‘दृशेच्च’ वातिक से (अनेन)  
पता चलना है । यदि ज्ञान विशेष की वाचक धातु भी बुद्धि शब्द से ली  
जाती तो इस वातिक की आवश्यकता ही नहीं थी । इस ज्ञापन का फल  
यह होता है (तेन) वि—‘स्मारयति प्रापयति वा देवदत्तेन’ यहाँ ‘देवदत्त’ की  
कर्म संज्ञा नहीं होती ।

शब्दायतेन (वा)—‘शब्दाय’ धातु के कर्ता की प्रेरणार्थक के प्रयोग मे  
कर्म संज्ञा नहीं होती । ‘शब्दाय’ यह नाम धातु है । शब्द करोति इस अर्थ मे  
शब्द + क्यङ् (शब्दचर ३. १. १७) = शब्दाय । इससे निच् होकर  
शब्दाययति ।

शब्दाययति देवदत्तेन—‘शब्दायते देवदत्तः’ (देवदत्त शब्द करता है)  
उसको कोई प्रेरणा देता

\* (वा) शब्दायतेर्न । शब्दायति देवदत्तेन । धात्वर्थसंगृहीत-  
कर्मत्वेनाकर्मकत्वात्प्राप्तिः । येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न  
संभवति तेऽत्राकर्मकाः । न त्वविवक्षितकर्माणोऽपि । तेन  
मासमासयति देवदत्तमित्यादौ कर्मत्वं भवत्येव । देवदत्तेन  
पाचयतीत्यादौ तु न ॥

ही शब्द रूपी कर्म संगृहीत हो गया है अतः यह धातु अकर्मक है और  
अकर्मक होने के कारण गति० आदि सूत्र से प्रेरणार्थक के प्रयोग में साधारण  
दशा के कर्ता को कर्म संज्ञा प्राप्त होती है । इस वाकिक से उस कर्म संज्ञा का  
निषेध हो जाता है तथा 'देवदत्तेन' में कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है ।

येयामिति— (i) इस सूत्र में अकर्मक धातु से मानी गई हैं, जिनका देश  
काल आदि से भिन्न कर्म सम्भव नहीं । (ii) जो धातुएँ कर्म की अविवक्षा  
होने के कारण अकर्मक हो जाती हैं, वे यहाँ अकर्मक नहीं मानी गईं । इसका  
फल यह होता है—

(i) मासमासयति देवदत्तम्— 'मासमांस्ते देवदत्तः' उसको दूसरा कोई प्रेरण  
देता है— 'मासमासयति देवदत्तम्'—यहाँ 'आस्' धातु का यद्यपि 'मास' (वाल्)  
कर्म है तथापि वह अकर्मक मानी गई है; क्योंकि 'आस्' धातु का देश काल  
आदि से भिन्न कर्म नहीं हो सकता । इसलिये इसका साधारण दशा का कर्ता  
'देवदत्त' प्रेरणार्थक के प्रयोग में कर्मसंज्ञक हो जाता है और उसमें द्वितीया  
होती है ।

(ii) देवदत्तेन पाचयति—'देवदत्तः पचति' यहाँ कर्म अविवक्षित है तथापि  
पच् धातु अकर्मक नहीं मानी जाती, अतएव 'देवदत्तेन पाचयति' में 'देवदत्त'  
की कर्म संज्ञा नहीं होती और कर्ता में तृतीया हो जाती है ।

टिप्पणी—व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से क्रियाएँ चार प्रकार से अकर्मक  
होती हैं—१. धातु का अन्य अर्थ में प्रयोग होने से, जैसे—'बहति घारम्' ।  
यहाँ 'बहति' स्वर्गमक है किन्तु 'नदी बहति', यहाँ अन्य अर्थ (स्यन्दन, बहना)  
अकर्मक हो जाती है । २. धातु के अर्थ में कर्म के संगृहीत हो जाने से,

१०। हृक्प्रोत्पत्तरस्याम् ॥१४॥३॥ हृक्प्रोत्पत्तौ यः कर्ता स एषी  
वा कर्म स्यात् । हारयति कारयति वा भृत्यं भृत्येन वा कटम् ॥  
\* (वा) अभिवादिहृशोरात्मनेपदे वेति घाच्चम् ॥ अभिवादयते  
दर्शयते देवं भवतं भवतेन वा ॥

जैसे—'जीवति' (प्राणधारण करता है) वहाँ 'प्राण' का कर्म घातु के अर्थ में  
ही संगृहीत हो गया है । ३. कर्म के प्रसिद्ध होने से, जैसे—'विषी वर्तति' वहाँ  
बरसने का कर्म (जल) प्रसिद्ध ही है । ३. कर्म को न बहने की इच्छा  
(अविबध्ता) से;—जैसे "हिनाय संगृणुते स किं प्रभु." वहाँ 'संगृणुते',  
अपमंक है क्योंकि इसका कर्म अविबधित है । वहाँ भी है —

आतोवात्सरे स्तर्षात्वर्थेनोर्यमदृष्टम् ।

प्रतिष्ठेदविबध्तातः नम गोऽभिवा किया ॥

(मि० बौ० आत्मनेपदरक्रिया)

१०. हृक्प्रोत्पत्तरस्याम् इति—हृ (ले जाना), कृ (करना) धातुओं का  
साधारण दशा का जो कर्ता है वह निगम्य (प्रेरणापूर्वक) प्रयोग में विचरन  
से कर्मसंग्रह होता है ।

दिग्दर्शी—हृ तथा कृ धातु का गति आदि अर्थ वाली धातुओं में अन्तर्भाव  
नहीं होता अतः यह अश्रुत विभावा है । कृ धातु जहाँ भोजन अथ में होती  
है (= अन्वयवहति) तथा कृ धातु अकर्मक (विकृते) वहाँ यह श्रुत विभावा  
है । इस प्रकार यह प्राप्ताश्रुत—उपपन्न विभावा है ।

कारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम्—(भूत से चटाई बनवाता है)—  
'भूतः कटं करोति' (भूत चटाई बनाता है) उसे स्वामी प्रेरणा देता है—  
"कारयति भृत्यं, भृत्येन वा कटम्" (वह भोकर से चटाई बनवाता है)—यहाँ  
उपायुक्त नियम से भूत की विवक्षित से कर्म संग्रह होती है और द्वितीया ही  
जाती है । जब कर्म संग्रह नहीं होती तो कर्ता में द्वितीया विभक्ति होती है ।  
इसी प्रकार 'हारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम्' (भोकर से चटाई बनवाता है) ।

अभिवादिहृशोति (वा)—अभिपूर्वक वद् धातु तथा हृ धातु का  
साधारण दशा का कर्ता, निगम के आत्मनेपद के प्रयोग में विचरन से कर्म  
हो जाता है ।

अभिवादयते देवं अक्षरं धरतेन वा (धरन से देवता की प्रशंसा  
करवाता है) 'अभिवादयति देव भक्तः' (देव भक्त को प्रशंसा करता है उसे कोई

११ । अधिशीङ्स्यासां कर्म ११।४।४६। अधिपूर्वाणामेषा-  
माधारः कर्म स्यात् । अधिशेते अधितिष्ठति अध्यास्ते वा  
बहुषु ह्रिः ॥

१२ । अभिनिविशद्व ११।४।४७ अभिनीत्येतत्संघातपूर्वस्य  
विशतेराधारः कर्म स्यात् । अभिनिविशते सन्मार्गम् । 'परि-  
क्रपणे संवदानम्—११।४।४४ इति सूत्रादिह मण्डूकसुत्याज्य-

प्रेरित करता है— 'अभिवाद्यते देव भक्तम्, भक्तेन वा'—यहाँ कर्म संज्ञा प्राप्ता  
नहीं थी । उपसर्ग नियम से 'भक्त' की विभक्ति में कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया  
विभक्ति होती है । यथा मे प्राप्ति मं वृत्तिग होती है । इसी प्रकार—“पर्या  
देवं भक्तः” “दर्शयते देवं भक्त भक्तेन वा” । यहाँ 'दृश्येत्' वाचक से निर  
कर्म संज्ञा प्राप्ति थी । इस वाचक से विग्रह से कर्म संज्ञा दिखलाई गई है ।

टिप्पणी—अभिवाद्यते दर्शयते—यहाँ निष्कर्ष ११।४।४४ से आश्रय  
होता है । जब आश्रय नहीं होता तब 'अभिवाद्यति देव भक्तम्' यहाँ कर्म  
में वृत्तिग होती है तथा 'दर्शयति देव भक्तम्' यहाँ 'दृश्येत्' से कर्म संज्ञा होकर  
द्वितीया होती है ।

११. अधिशीङ् इति—अभि उपसर्गपूर्वक शीङ् (सोमा), रधा (दहुरता)  
आम् । वृद्धता वाचक के आधार की कर्म संज्ञा होती है । यहाँ 'आश्रयवि-  
करणम् ११।४।४२ से 'आधार' शब्द की अनुवृत्ति होती है । इसी प्रकार  
आगे के दो सूत्रों में भी ।

अधिशेते बहुषु ह्रिः—यहाँ बहुषु अधिशेते का आधार है । इसी  
उपसर्ग नियम से कर्म संज्ञा हो जाती है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती  
है । इसी प्रकार 'अधिनिष्ठति बहुषु ह्रिः', 'अध्यास्ते बहुषु ह्रिः' ।

१२. अभिनिविशद्व—अभि तथा नि उपसर्ग जब दोनों एक साथ इसी  
कर्म में (उपसर्ग) विभक्ति वाचक के होने आते हैं तब विभक्ति वाचक का आधार  
कर्म शब्द हो जाता है ।

अभिनिविशते सन्मार्गम्—(सन्मार्ग में भवता है) यहाँ 'सन्मार्ग' की  
उत्पत्ति नियम से कर्म संज्ञा होकर इसमें द्वितीया हो जाती है ।

रस्यांग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणात्ववचिन्न । पापे-  
ऽभिनिवेशः ॥

१३ । उपान्वध्याङ् वसः १।४।४।८ उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः  
कर्म स्यात् । उपवसति अनुवसति अधिवसति भावसति वा  
वैकुण्ठं हरिः ॥ \* (वा) अभुक्त्यर्थं न ॥ वने उपवसति ॥

पापेऽभिनिवेशः—यहाँ 'पाप' अभि नि पूर्वक वस् धातु का आधार है  
अतः "अभिनिविशश्च" नियम के अनुसार 'पाप' को कर्म संज्ञा होकर द्वितीया  
होनी चाहिए, किन्तु 'परिकल्पने सम्प्रदातमन्तरस्याम् (१।४।४।८) सूत्र से  
मण्डूकानुनि (मेढक के समान कूदकर अर्थात् बीच के सूत्रों में न आकर) से  
'अन्तरस्या' (वा, विकल्प से) इस सूत्र में से लिया जाता है और उस विकल्प  
(विभाषा) को व्यवस्थित विभाषा (अर्थात् कही जाय, वहीं नहीं) मानकर  
कहीं यह नियम (अभिनिविशश्च) नहीं भी लगता । इसी से 'पापेऽभिनिवेशः'  
में पाप की कर्म संज्ञा तथा द्वितीया नहीं होनी अपितु आधार ने सप्तमी  
होती है ।

१३ उपान्वध्याङ् वसः—उप, अनु, अधि, आ उपसर्ग पूर्वक वस् धातु  
का आधार कर्म हो जाता है ।

उपवसति वैकुण्ठं हरिः—(हरि वैकुण्ठ में वसते हैं) -यहाँ वैकुण्ठ उप-  
पूर्वक 'वस्' धातु का आधार है । उपयुक्त नियम से 'वैकुण्ठ' को कर्म संज्ञा  
होकर द्वितीया विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार 'अनुवसति वैकुण्ठं हरिः',  
'अधिवसति वैकुण्ठं हरिः', 'भावसति वैकुण्ठं हरिः' ।

अभुक्त्यर्थस्य न (वा)—जब उप पूर्वक 'वस्' धातु का अर्थ 'उपवास  
करना' (न खाना) होता है तो उसके आधार की कर्म संज्ञा नहीं होती ।

वने उपवसति (वन में उपवास करता है)—यहाँ उपपूर्वक 'वस्' धातु  
का प्रयोग है । 'वन' उसका आधार है । 'उपान्वध्याङ् वसः' सूत्र के अनुसार  
यहाँ कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति प्राप्त थी किन्तु इस वाकिक के अनुसार  
उपवास अर्थ होने के कारण 'वन' की कर्म संज्ञा नहीं होती तथा अधिकरण  
में सप्तमी विभक्ति होती है ।



\* (वा) उभयसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ॥

द्वितीयाश्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥

उभयतः कृष्णं गोपाः । सर्वतः कृष्णम् । धिक् कृष्णाभवतम् ।  
उपयुं परि लोकं हरिः । अर्ध्यधि लोकम् । अधोऽधो लोकम् ॥

\* (वा) अभितः परितः समयानिकयाहाप्रतियोगेऽपि ॥ अभितः  
कृष्णम् । परितः कृष्णम् । ग्रामं समया । निकया सङ्ग्राम ।  
हा कृष्णाभवतम् । तस्य शोच्यते इत्यर्थः । युमुक्षितं नप्रतिभाति  
किञ्चित् ॥

उपपद द्वितीया विभक्ति - ऊपर जो द्वितीया विभक्ति दिखलाई गई है, वही 'बहु'रीप्सिततम कर्म' आदि सूत्रों से कम संज्ञा होकर 'वर्षणि द्वितीया' २।१।२ से कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति होती है। अतः वह 'कारक विभक्ति' है।

कभी-कभी उपपद (= पास में उच्चारण किया गये पद) के निमित्त से भी द्वितीया आदि विभक्तियाँ हुआ करनी हैं। वे 'उपपद विभक्ति' बही जाती हैं। उपपद विभक्ति पठ्ठी विभक्ति का अपवाद होती है। जैसे :—

उभयसर्वतसोरिति (वा)—इस वाकिक में चार वाक्यांश हैं। उनके अर्थ इस प्रकार हैं—(१) उभयसर्वतसोः द्वितीया कार्या—अब उभ और सर्व शब्द से परे 'तस्' प्रत्यय होता है तो उसके योग में द्वितीया विभक्ति करनी चाहिए। (२) धिक् शब्दस्य प्रयोगे द्वितीया कार्या—धिक् शब्द के योग में द्वितीया, (३) उपर्यादिषु त्रिषु आश्रेडितान्तेषु द्वितीया कार्या—'उपर्यध्यधतः सामीप्ये' २।१।७ में कहे हुए तीन शब्द उपरि, अधि तथा अधः हैं। जहाँ द्विवक्ति होती है वहाँ दूसरे को 'आश्रेडित' कहते हैं। उपर्यध्यधतः० सूत्र से सामीप्य अर्थ में उपरि आदि के स्थान में 'उपरि-उपरि' आदि द्विवक्त प्रयोग का विधान किया गया है। प्रस्तुत नियम से उनके साथ द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये। (४) ततोऽन्यत्रापि दृश्यते—इनसे अन्य स्थलों पर भी द्वितीया देखी जाती है। कृपाः उदाहरण ये हैं—

१) उभयतः कृष्णं गोपाः (कृष्ण के दोनों ओर गोपाल हैं);—यहाँ उभयतः



१५ । कर्मप्रवचनीयाः । १।४।८३ । इत्यधिकृत्य ॥

१६ । अनुलक्षणे । १।४।८।४ । लक्षणे द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात् ।

गत्युपसर्गसंज्ञापवादः ।

मन्तरेण" (देवी वसुमती के विषय में), (काले ८०४), 'कोऽयस्त्वामन्तरेण शक्तः प्रतिकर्तुम्' । (तुम्हे छोड़कर दूसरा कौन प्रतिकार करने में समर्थ है) — (आष्टे ३५), इन सभी प्रयोगों में 'अन्तरेण' के योग में 'हरिम्' आदि में द्वितीया विभक्ति होती है ।

१५ कर्मप्रवचनीयाः इति—इसका अधिकार करके—कर्मप्रवचनीयाः, यह अधिकार गूढ़ है । आगे 'विभाषा कृति १।४।८८ । ॥ ४४ के श्रुतों में इस पद का सम्बन्ध होता है ।

पाणिनि व्याकरण में कुछ उपसर्गों की विशेष स्थलों पर कर्मप्रवचनीय संज्ञा की गई है । यह अन्यर्थ संज्ञा है । जो पहिले क्रिया को वह चुटे हैं 'कर्म—क्रिया प्रोक्तवन्' वे कर्मप्रवचनीय कहलाते हैं । उपसर्ग अवस्था में वे क्रिया के प्रथम के द्योतक होने से । क्रिया के पहिले ही इनका प्रयोग होता था । हिन्तु अब क्रिया से पूर्व स्वयम् रूप में इनका प्रयोग हुआ करता है । वे क्रिया के द्योतक नहीं होते, न सम्बन्ध के वाचक होने हैं, न किसी क्रिया पद का आलोच हो कराते हैं हिन्तु (वाचक पदों के) सम्बन्ध में भेद कराने वाले होते हैं । अर्थात् विभक्ति-विधान के निमित्त होते हैं ।

१६ अनुलक्षणे—किसी लक्षण की द्योतिन करने में 'अनु' की कर्म-प्रवचनीय संज्ञा होती है । जिसमें कोई बात जानी जाती है, उसे लक्षण (पूछा रहते हैं—'सदृशे ज्ञाप्येऽनेनेति लक्षणम्' । यही हेतु के रूप में होने वाला लक्षण विवक्षित है । कर्मप्रवचनीय संज्ञा गति और उपसर्ग संज्ञा का अभाव है अर्थात् लक्षण अर्थ से अनु को गति और उपसर्ग संज्ञा न होकर कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाता है ।

अविभाषा एतेषां कार्य, सम्बन्धस्य न वाचकः ।

गति विभाषादपि, सम्बन्धस्य तु भेदकः ॥ (वाचस्पतीय)

१७ । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । २।३।८। एतेन योगे द्वितीया स्यात् । पर्जन्यो जपमनु प्रावर्षत् । हनुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः । परापि हेताविति तृतीयाज्जेन बाध्यते । 'लक्षणेत्थं-भूत-२१, इत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात् ।

१८ । तृतीयायै । १।४।८।५ अस्मिन् द्योत्येऽनुवृत्तसङ्गः स्यात् । नदीमन्ववसिता सेना । नद्या सह संबद्धेत्यर्थः ॥ पिब् बन्धने क्तः ॥

१७. कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया—कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया विभक्ति होती है ।

पर्जन्यो जपमनुप्रावर्षत्—इसका अर्थ है—हेतु रूप जप से उपलक्षित वर्षा, अर्थात् जप करने से उसके पश्चात् वर्षा हुई । यहाँ हेतु और आपकता (लक्षण) दोनों द्वितीया के अर्थ हैं, ये दोनों 'अनु' द्वारा प्रकट होते हैं । उपभुक्त नियम से 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में 'जप' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है ।

परापि हेतौ तृतीयेति—यद्यपि हेतौ-१७' सूत्र से होने वाली तृतीया इसमें परे है और पाणिनि व्याकरण में दो तुल्य वाच्यों का विरोध होने पर परे वाला कार्य होता है । छ तथापि उसे बाध कर 'जपमनु' में, द्वितीया ही होती है, क्योंकि २६ 'लक्षणेत्थं' १।४।६०। से अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ही जाती फिर १६ 'अनुलंघने' १।४।८४। से लक्षण अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा करने की क्या आवश्यकता थी । यह संज्ञा इसी लिये की गई है कि लक्षण घोषित करने में द्वितीया ही होनी चाहिये, तृतीया नहीं ।

१८. तृतीयायै—जब अनु' तृतीया के अर्थ अर्थात् सहमात्र को प्रकट करता है तो उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

नदीमन्ववसिता सेना—इसका अर्थ है—'सेना नदी के साथ सम्बद्ध है ।' 'नद्या अनु अवसिता' में 'अवसित' शब्द अब उपसर्गपूर्वक पिब् वाचना धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर बना । अतः 'सम्बद्ध' अर्थ होता है । यहाँ ऊपर के नियम

१६ । हीने १।४।८६। हीने चोत्पेज्नुः प्राग्वत् । अनु हरि मुराः ।  
हरेर्हीना इत्यर्थः ॥

२० । उपोऽधिके च १।४।८७। अधिके हीने च चोत्पे उपेत्य-  
व्ययं प्राग्वमंज्ञं स्यात् । अधिके सप्तमी वक्ष्यते । हीने, उप हरि मुराः ॥

२१ । लक्षणेत्यंभूताख्यानभागवोप्तासु प्रतिपर्यन्तः  
१।४।८८। एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादय उक्तसंज्ञाः स्युः ।  
लक्षणो, वृक्षं प्रति पर्यन्तु वा विद्योतते विद्युत् । इत्थंभूताख्याने,

से 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में 'नदीम्' में द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

१६ हीने — हीनता को चोत्तित करने में अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

अनु हरि मुराः — इसका अर्थ है देवतांग हरि से हीन हैं (घटकर हैं) । यहाँ अनु हीन अर्थ को चोत्तित करता है अतः इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और इसके योग में (सूत्र १७ से) 'हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । जिस शब्द में द्वितीया होनी है उससे भिन्न वक्ष्य की हीनता प्रकट हुआ करती है । यहाँ हरि की अपेक्षा देवों की हीनता प्रकट हो रही है ।

२०. उपोऽधिके च — अधिक या हीन का अर्थ चोत्तित करने में 'उप' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होनी है । अब वह 'अधिक' अर्थ को चोत्तित करता है तो सप्तमी होनी है, यह आगे कहा जाएगा ।

उप हरि मुराः — (देवता हरि से घटकर हैं) — यहाँ हीन अर्थ को चोत्तित करने में 'उप' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है तथा इसके योग में 'हरि' से द्वितीया विभक्ति होती है ।

२१. लक्षणेत्थम् इति — लक्षण आदि अर्थों में प्रति, परि तथा अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

(१) वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् (वृक्ष की ओर बिजली चमकती है) — यहाँ वृक्ष बिजली चमकने को लक्षित करता है । यह लक्षण (जापक) है । 'प्रति' लक्षण को प्रकट करता है अतः प्रति की उपर्युक्तनियम से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने के योग से 'अनु' का अर्थ द्वितीया विभक्ति होनी है । इसी प्रकार

भवतो विष्णुं प्रति पर्यनु वा । भागे, लक्ष्मीर्हरिं प्रति पर्यनु वा ।  
हरेर्भाग इत्यर्थः । वीप्सायां वृक्षं वृक्षं प्रति पर्यनु वा सिञ्चति ।  
अत्रोपसर्गत्वाभावात् पत्वम् । एषु किम् ? परिषिञ्चति ॥

भवतो विष्णुं प्रति ( विष्णु के प्रति भक्त है )—यह इत्य भूताख्यान का उदाहरण है । 'इत्थं' का अर्थ है—इस प्रकार । इत्यभूतः—इस प्रकार का हुआ । अर्थात् 'यह इस प्रकार का है' इसका आख्यायन (कथन) किया जान है वही 'प्रति' आदि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है । इस प्रकार उपर्युक्त नियम से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'भवतो विष्णुं परि', भवतो विष्णुम् अनु' ।

लक्ष्मीर्हरिं प्रति—इसका अर्थ है—लक्ष्मी हरि का भाग रहा । यही लक्ष्मी के प्रति हरि का स्वामित्व 'प्रति' आदि से सूचित होता है अतः 'भाग' अर्थ में उपर्युक्त नियम से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और उसके योग में 'हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'लक्ष्मीः हरिं परि' 'लक्ष्मीः हरिम् अनु' ।

वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति (प्रत्येक वृक्ष को सींचता है)—यह वीप्सा का उदाहरण है । वीप्सा का अर्थ है—'व्याप्तिविष्टा' अर्थात् किसी क्रिया का प्रत्येक वस्तु से सम्बन्ध करने की इच्छा । यहाँ वीप्सा अर्थ में 'प्रति' आदि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है अतएव उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती । उपसर्ग संज्ञा का अभाव होने से 'प्रति सिञ्चति' यहाँ 'सु' को 'प्' नहीं होता । उपसर्ग से परे होने पर ही "उपसर्गात् सुनीति० ८।३।६५। सूच से पत्व होता है । यहाँ वृक्ष में द्वितीया विभक्ति कर्म में ही होती है । इसी प्रकार 'वृक्षं परि-सिञ्चति' 'वृक्षं वृक्षम् अनुसिञ्चति' ।

एषु किमिति—'लक्षण' आदि चार अर्थों के विषय में ही प्रति आदि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि इनसे भिन्न अर्थ में नहीं होती, अतएव 'परिषिञ्चति' में लक्षण आदि अर्थ न होने के कारण 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती । उसकी उपसर्ग संज्ञा हो जाने से 'सु' को 'प्' हो जाता है ।

२२ । अग्निरभागे ॥१४॥६१॥ अग्नार्जं सदाग्रादावभि-  
मोर्गताः स्यात् । हरिमभि वर्तते । भवतो हरिमभि । देवं देव-  
नभिनिष्पत्ति । अभागे विम् ? यदत्र ममाभिप्यात्तदीपताम् ॥

२३ । अग्निपरी अनर्थकी ॥१४॥६२॥ उत्तसञ्जी स्तः । मुतो-  
प्यागच्छति । मुतः पपागच्छति । गतिसंज्ञावाचान् 'गतिर्गती  
८॥१७०॥ इति निघातो न ॥

२४ । मुः पूजायाम् ॥१४॥६४॥ मुसितम् । मुस्तुतम् । मनुप-

२२ अग्निरभागे - भाग का छोड़कर ऊपर कहे हुए वेग तीन अर्थों के  
विषय में अभि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

(१) हरिमभि वर्तते (वर्तमान) (२) भवतो हरिमभि (इष्टप्रवचनान्)  
यहाँ 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में द्वितीया होती है ।

(३) देवं देवमभिनिष्पत्ति (बीज्या) । यहाँ सू को पृ नहीं होता ।

अभागे विमति - भाग अर्थ के विषय में 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा  
नहीं होती । इसका परिकाम यह होता है कि 'यदत्र ममाभिप्यात् तद्  
दीपताम्' (जो यहाँ मेरा भाग हो वह दीपिए) यहाँ 'अभि' की उपसर्ग संज्ञा  
ही रहनी है और 'स्यात्' के सू को पृ हो जाता है (उपसर्गानुभ्यामस्तिर्वचरः  
८॥३॥८७॥)

२३. अग्निपरी अनर्थकी—अनर्थक अग्नि, और परि की कर्मप्रवचनीय  
संज्ञा होती है ।

मुतोप्यागच्छति (यह कहाँ से आता है ?)—यहाँ 'अग्नि' की कर्म-  
प्रवचनीय संज्ञा हो जाने से गति संज्ञा नहीं होती । गति संज्ञा के न होने से  
(गतिसंज्ञावाचान्) 'गतिर्गती ८॥१७०॥' इस सूत्र से 'अग्नि' को आ (अग्नि +  
आ + गच्छति) पर होने पर सर्वानुदात्त (निघात) नहीं होता । आगच्छति में  
'आ' गतिसंज्ञक है ।

टिप्पणी - 'निघात' शब्द का अर्थ है—सर्वानुदात्त (अर्थात् किसी शब्द  
के सभी स्वरों का अनुदात्त स्वर हो जाना) ।

२४. मुः पूजायाम्—पूजा अर्थ में मु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

मुसितम्—'मन्वी भाति सीधा है' इसी हेतु वर्त्ता में प्रयुक्त है । यहाँ

सर्गत्वात् पः । पूजायां किम् ? सुपिक्तं किं तवाञ्ज । क्षेपोऽयम् ॥

२५ । अतिरतिशयो च ॥१॥४॥६५॥ अतिक्रमणे पूजायां चातिः  
कर्मप्रवचनीयमंजः स्यात् । अति देवान् कृष्णः ॥

२६ । अपिः पदार्थसंभावनाऽन्वयसमंगर्हसमुच्चयेषु १॥४॥६६  
एषु द्योत्येष्ट्वपि खतसंज्ञः स्यात् । सर्पिषोऽपि स्यात् । अनुपसर्ग-

‘सु’ की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से इसकी उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती तथा उपसर्ग संज्ञा के अभाव में स् को प् नहीं होता । इसी प्रकार ‘सुस्तृणम्’ ।

पूजायां किमिति—पूजा अर्थ में ही सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । ऐसा क्यों ? इसलिए कि “सुपिक्तं किं स्यात् तवाञ्ज” यहाँ क्षेप निन्दा का भाव निकलता है अतः ‘सु’ की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती तथा उ.सर्ग संज्ञा ही हो जाती है । उपसर्ग संज्ञा हो जाने से ‘सुपिक्त’ में ‘स्’ को ‘प्’ हो जाता है ।

२४. अतिरतिक्रमणे च—अतिक्रमण का अर्थ है—बढ़कर होना अथवा सीमा को लाँघना । अनिजमण तथा पूजा अर्थ में ‘अति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

अति देवान् कृष्णः—(कृष्ण देवों से बढ़कर हैं या कृष्ण देवों के पूज्य हैं) । उपयुक्त नियम से ‘अति’ की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर, उसके योग में ‘देवान्’ में द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

२६. अपिः पदार्थ इति—पदार्थ, समावृत्ता, अन्वयसमंग, गहरी तथा समुच्चय इन अर्थों का उदाहरण करने में ‘अपि’ की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

सर्पिषोऽपि स्यात् (मृत का बिन्दु भी हो) —यह पदार्थ का उदाहरण है । पदार्थ का तात्पर्य है—पद का अर्थ । यही ‘अति’ अप्रयुक्त शब्द के अर्थ को द्योतित करता है । ‘सर्पिषोऽपि स्यात्’ का अर्थ है—‘सर्पिषोऽपि स्यात्’ । अपि बिन्दु का द्योतक है । इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से उपसर्ग संज्ञा नहीं होती तथा ‘स्यात्’ के स् को प् नहीं होता, क्योंकि यह उपसर्ग से परे ही हो सकता था ।



२२ । अभिरभागे ।।१।४।६१। भगवर्जे लक्षणादावभि-  
रुक्तसंज्ञः स्यात् । हरिमभि वर्तते । भक्तो हरिमभि । देवं देव-  
मभिसिञ्चति । अभागे किम् ? यदत्र ममाभिप्यात्तद्दीयताम् ॥

२३ । अधिपरी अनर्थको ।।१।४।६३। उक्तसंज्ञो स्तः । कुतोऽ-  
ध्यागच्छति । कुतः पर्यागच्छति । गतिसंज्ञाबाधात् 'गतिर्गतो  
८।१।७०। इति निघातो न ॥

२४ । सुः पूजायाम् ।।१।४।६४। सुसिक्तम् । सुस्तुतम् । अनुप-

२२ अभिरभागे — भाग को छोड़कर ऊपर रहे हुए दोष तीन अर्थों के विषय में अभि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

(१) हरिमभि वर्तते (लक्षण) (२) भक्तो हरिमभि (इत्थंभूताध्याय) यहाँ 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में द्वितीया होती है ।

(३) देवं देवमभिसिञ्चति (सीप्ता) । यहाँ सू को पू नहीं होता ।

अभागे किमिति — भाग अर्थ के विषय में 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती । इसका परिणाम यह होता है कि 'यदत्र ममाभिप्यात् तद् दीयताम्' (जो यहाँ मेरा भाग हो वह दीजिए) यहाँ 'अभि' की उपसर्ग संज्ञा ही रहती है और 'स्यात्' के सू को पू हो जाता है (उपसर्गशानुष्ममिस्तिर्परः ८।१।६७।)

२३. अधिपरी अनर्थको — अनर्थक अधि, और परि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

कुतोऽध्यागच्छति (वह कहाँ से आता है ?) — यहाँ 'अभि' की कर्म-प्रवचनीय संज्ञा हो जाने से गति संज्ञा नहीं होती । गति संज्ञा के न होने से (गतिसंज्ञाबाधात्) 'गतिर्गतो ८।१।७०' इस सूत्र से 'अधि' को आ (अधि + आ + गच्छति) परे होने पर सर्वानुदात्त (निघात) नहीं होता । आगच्छति में 'आ' गतिसंज्ञक है ।

टिप्पणी — 'निघात' शब्द का अर्थ है — सर्वानुदात्त (अर्थात् किसी शब्द के सभी स्वरों का अनुदात्त स्वर हो जाना) ।

२४. सुः पूजायाम् — पूजा अर्थ में सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

सुसिक्तम् — 'भस्मी भानि सींचा है' इसी हेतु वर्त्ता में युग्मता है । यद्वा

सर्गत्वात् यः । पूजायां किम् ? सुपिबतं किं तवाऽत्र । क्षेपोऽयम् ॥  
२५ । अतिरतिशयो च ॥ १४॥६५॥ अतिक्रमणे पूजायां चातिः  
कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् । अति देवान् कृष्यः ॥

२६ । अतिः पदार्थसंभावनाऽन्वयसर्गगर्हासमुच्चयेषु १४॥६६  
एषु चोत्पेध्वपिस्वतसंज्ञः स्यात् । सर्पिषोऽपि स्यात् । अनुपसर्ग-

‘सु’ की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से इसकी उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती तथा  
उपसर्ग संज्ञा के अभाव में स् को प् नहीं होता । इसी प्रकार ‘सुम्नृणम्’ ।

पूजायां किमिति—पूजा अर्थ में ही सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।  
ऐसा क्यों ? इसलिये कि “सुपिबतं किं स्यात् तवाऽत्र” यहाँ क्षेप निम्ना) का  
भाव निकलता है अतः सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती तथा उ।सर्ग  
संज्ञा ही हो जाती है । उ।सर्ग संज्ञा हो जाने से ‘सुपिबतं’ में ‘स्’ को ‘प्’ हो  
जाता है ।

२१. अतिरतिशयो च—अतिक्रमण का अर्थ है—बढ़कर होना अथवा  
सीमा को लांघना । अतिक्रमण तथा पूजा अर्थ में ‘अति’ की कर्मप्रवचनीय  
संज्ञा होती है ।

अति देवान् कृष्यः—(कृष्य देवों से बढ़कर है या कृष्य देवों के पूज्य  
है) । उपसृक्त नियम से ‘अति’ की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर, उसके योग में  
‘देवान्’ में द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

२६. अतिः पदार्थ इति—पदार्थ, संभावना, अन्वयसर्ग, नहीं तथा समुच्चय  
एत अर्थों को धोतित करने में ‘अति’ की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

सर्पिषोऽपि स्यात् (पूत का विन्दु भी हो) —यह पदार्थ का उदाहरण  
है । पदार्थ का सादृश्य है—पद का अर्थ । यही ‘अति’ अप्रयुक्त शब्द के अर्थ को  
धोतित करता है । ‘सर्पिषोऽपि स्यात्’ का अर्थ है—अपि विन्दुः स्यात्” । अति  
विन्दु का धोतक है । इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से उपसर्ग संज्ञा नहीं  
होती तथा ‘स्यात्’ के स् को प् नहीं होता, क्योंकि यह उपसर्ग से परे ही हो  
सकता था ।



नुज्ञा । धिग्देवदत्तम्, अपि स्तुयाद् वृषलम्, गर्हा । अपि सिञ्च, अपि स्तुहि; समुच्चये ॥

१७ । फालाघ्वनोरत्यन्तसंयोगे । २।३।५। इह द्वितीया स्यात् । मासं कल्याणी । मासमधीते । मासं गुह्यानाः । क्रोशं कुटिला नदी । क्रोशमधीते । क्रोशं मिरिः । अत्यन्तसंयोगे किम् ?

धिग्देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम् (देवदत्त को छिन्नकार है, वह छूट ही स्तुति क है) — यहाँ गर्हा अर्थ 'अपि' द्वारा चोक्त किया गया है । गर्हा का अर्थ है — ' । । वमप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से (उपसर्ग मा। १।८७) पत्व नहीं होता ।

अपि सिञ्च, अपि स्तुहि (सीचो भी स्तुति भी करो) — यहाँ अपि द्वारा समुच्चय चोक्त किया गया है । कर्मप्रवचनीय संज्ञा के कारण 'स्' को 'प्' (उपसर्ग मा। ३।६५) नहीं होता ।

२७. फालाघ्वनोरत्यन्तसंयोगे — अत्यन्त संयोग में समयवाची तथा मार्गवाची से द्वितीया विभक्ति होती है । अत्यन्त संयोग का अर्थ है — निरन्तर संयोग । किसी गुण, क्रिया या द्रव्य का किसी काल या मार्ग में पूर्ण रूप से रहना ।

मासं कल्याणी (मास भर कल्याणकारिणी है) — यहाँ कल्याण (गुण) मास भर में लगातार रहता है — अतः उपसर्ग नियम से मास (कालवाचक) में द्वितीया विभक्ति रहती है । इसी प्रकार —

क्रोशं कुटिला नदी (क्रोश भर तक नदी टेढ़ी है) — यहाँ मार्गवाची 'क्रोश' में भी द्वितीया होती है ।

मासमधीते (मास भर पढ़ता है) — यहाँ अध्ययन क्रिया मास भर लगातार चलती है अतः मास शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार मार्गवाचक क्रोश शब्द से भी 'क्रोशमधीते' में द्वितीया होती है ।

मासं गुह्यानाः (मास भर गुह्याना है) — यहाँ गुह्याना (द्रव्य) मास भर लगातार चलता है अतः अत्यन्तसंयोग में मास शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'क्रोशं मिरिः' में भी ।

अत्यन्तसंयोगे किम् — यदि गुण क्रिया और द्रव्य पर कालवाचक या मार्गवाचक से लगातार सम्बन्ध (अत्यन्तसंयोग) होता है तो कालवाची या मार्गवाची से द्वितीया विभक्ति होती है, ऐसा क्यों कहा ? इसका जवाब कि यदि कालवाची या मार्गवाची के एक अंग से —

मासस्य द्विरधीते । क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः ॥ इति द्वितीया ।

२८ । स्वतन्त्रः कर्ता । १।४।५४। क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् ॥

२९ । साधकतमं करणम् । १।४।४२। क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात् । तमवग्रहणं किम् ? गङ्गायां घोषः ॥

द्वितीया विभक्ति न होगी । जैसे—मासस्य द्विरधीते (महीने में दो बार पड़ना है) यहाँ अध्ययन क्रिया का मास से लगातार सम्बन्ध नहीं अतः मास से द्वितीया विभक्ति नहीं होगी अपितु सम्बन्ध में पठ्ठी विभक्ति ही होगी है । इसी प्रकार 'क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः' में भी । ॥ इति द्वितीया ॥

तृतीया विभक्ति । २८ स्वतन्त्रः कर्ता—क्रिया में स्वतन्त्रता से विवक्षित पदार्थ कर्ता कहलाता है ।

कारक विज्ञान के आधीन है, नियत नहीं—'विज्ञात का। कानि भवन्ति', अतः क्रिया का जो आशय है । उसे ही कर्ता कहते हैं, चाहे वह पद हो या चेतन । जैसे—'देवदत्तस्तिष्ठति' 'वृक्षस्तिष्ठति' ।

२९ साधकतमं करणम्—क्रिया की सिद्धि में जो कारक सबसे अधिक सहायक होता है उसकी करण संज्ञा होती है ।

साधकतम शब्द का अर्थ है—प्रकृष्ट उपकारक अर्थात् सबसे अधिक सहायक । जिन पदार्थ के व्यापार के भ्रमणर क्रिया की सिद्धि हो जाती है वही प्रकृष्ट उपकारक है उसकी करण संज्ञा होती है ।

तमवग्रहण किमिति—'साधक करणम्' ? ऐसा ही कहें, कारक का प्रकरण है ही और कारक और साधक पर्याय हैं अतः पुनः 'साधक ग्रहण' से प्रकृष्ट साधक यह अर्थ समझ लिया जाता—फिर प्रकृष्ट अर्थ का प्रादुर्भाव के लिये तमवग्रहण क्यों लगाया ? इसलिये कि तमवग्रहण करने से यह विदित होता है कि इस कारक प्रकरण में अन्वय संज्ञा के बल से प्राण द्वारा विशेष अर्थ नहीं लिया जाता । इस ज्ञापन का फल यह होता है कि आधारेण अधिकरणम्' से व्यापार भाव की अधिकरण संज्ञा हो जाती है । वेदना सिद्ध व्यापार की ही नहीं । अतः 'गङ्गायां घोषः'—(गङ्गा के तट पर घोंगी रहने) यहाँ भी अधिकरण संज्ञा होकर सप्तमी हो जाती है । अन्यथा 'विनेतुर्वैत' आदि में जहाँ वृत्तव्या व्यापक व्यापार है वही सप्तमी होती ।

३० । कर्तृकरणयोस्तृतीया । ३।३।१८। अनभिहिते कर्तरि  
करणे च तृतीया स्यात् । रामेण बाणेन हतो बाली ।

\* (वा) प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम् ॥ प्रकृत्या चारुः । प्रायेण  
याज्ञिकः । गोत्रेण गार्ग्यः । समेनेति । विषमेणति । द्विद्रोणेन  
धाम्यं क्रीणाति । सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि ॥

३० कर्तृकरणयोरिति—अनुक्त कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति  
होती है ।

जहाँ कर्मवाच्य और भाववाच्य का प्रयोग होता है वहाँ कर्ता अनुक्त होता  
है; जैसे — “सदम्या सेव्यते” । अत्र: यहाँ ‘सदम्या’ में तृतीया विभक्ति है ।

रामेण बाणेन हतो बाली—यहाँ ‘हन्.’ में कर्मवाच्य में ‘क्त’ प्रत्यय  
हुआ है, ‘राम’ का कर्तापन अनुक्त है; अतः राम में उपर्युक्त नियम से  
तृतीया हो जाती है । मारने का प्रकृत साधन ‘बाण’ है इसकी ‘साधकतमं  
करणम्’ से करण संज्ञा होकर इसमें भी तृतीया विभक्ति होती है ।

प्रकृत्यादिभ्य इति (वा)—प्रकृति आदि शब्दों से तृतीया विभक्ति होती है ।

प्रकृत्या चारुः (स्वभाव में सुन्दर)—यहाँ प्रकृति शब्द से तृतीया विभक्ति  
हो जाती है । इसी प्रकार प्रायेण याज्ञिकः (प्रायः याज्ञिक है), गोत्रेण गार्ग्यः  
(गोत्र से गार्ग्य है), समेनेति (समन्ति से चन्ति है), विषमेनेति (विषम क्षतता  
है) आदि में भी तृतीया विभक्ति होती है । ये शब्द प्रायः क्रियाविशेषण हैं ।  
क्रियाविशेषण के योग में द्वितीया प्राप्त थी । वहाँ-वहाँ ये करण के अर्थ की भी  
प्रकट करते हैं । जहाँ ये करण होते हैं वहाँ ती करण में तृतीया हो जाती है ।

द्विद्रोणेन धाम्यं क्रीणाति (दो द्रोण सम्बन्धी अथ खरीदता है)—यहाँ  
“दो द्रोण सम्बन्धी धाम्य” इस अर्थ में पठ्यी प्राप्त थी, उपर्युक्त नियम से  
तृतीया विभक्ति होती है ।

सुखेन दुःखेन वा याति (सुख पूर्वक वा दुःखपूर्वक जाता है)—यहाँ ‘सुख’  
आदि शब्द क्रियाविशेषण हैं । क्रियाविशेषण में द्वितीया विभक्ति हुआ करती  
है उसके स्थान पर उपर्युक्त (प्रकृत्यादिभ्यः) नियम से तृतीया विभक्ति  
हो जाती है ।

टिप्पणी—‘प्रकृति’ आदि शब्द आकृति शब्द है अर्थात् इस प्रकार की  
तृतीया यणगठ में अपठित शब्दों में भी देखी जाती है, इसलिये “नाम्ना  
तृतीयाः” “चरितेन दास्यः” यहाँ भी तृतीया होती है ।

३१ । दिवः कर्म च । १।४।४३। दिवः साधकतमं कारकं  
कर्मसंज्ञं स्याच्चात्करणसंज्ञम् । अक्षरदान्वा दीव्यति ॥

३२ । अपवर्गे तृतीया । २।३।६। अपवर्गः फलप्राप्तिस्तस्यां  
द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसयोगेतृतीया स्यात् । अह्ना कोशेन  
वाऽनुवाकोऽधीतः । अपवर्गे किम् ? मासमधीतो नायातः ॥

३१ दिवः कर्म च—दिव् (खेलना) वातु के साधकतम कारक की कर्म  
संज्ञा होती है और करण संज्ञा भी ।

अक्षः अक्षान् वा दीव्यति [पासों से खेलता है]—यहाँ अक्ष [पासे]  
जुड़ा खेलने के साधन है, मतः करण संज्ञा होने पर तृतीया ही होनी चाहिये  
थी । इस नियम से विकल्प से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया भी होती है ।

३२ अपवर्ग इति—अपवर्ग का अर्थ है—फल-प्राप्ति । फल-प्राप्ति व  
कार्यसिद्धि वा बोध कराने के लिये कासवाची तथा मार्गवाची शब्दी ।  
अत्यन्त-संयोग में तृतीया विभक्ति होती है ।

टिप्पणी—इस सूत्र के अर्थ में 'कालाध्वनोरत्यन्तसयोगे' । २।३।६। सूत्र का  
सम्बन्ध किया जाता है तभी यह अर्थ होता है । यह तृतीया विभक्ति द्वितीया  
की बाधक है ।

अह्ना कोशेन वा अनुवाकोऽधीतः—[दिन भर या कोश भर निरन्तर  
कार्य करके अनुवाक पढ़ लिया]—जितने समय या मार्ग में कार्य पूरा हो जाता  
है उस कालवाची या मार्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है । यदि दिन  
भर ॥ अनुवाक नाम का वेद का अंश पूरा पढ़ लिया तो कालवाची अह्ना  
[दिन] शब्द से तृतीया विभक्ति होगी तथा मार्गवाची 'कोश' शब्द से भी ।  
इसी प्रकार 'द्वादशवर्षवर्णकरणं श्रूयते' आदि प्रयोग समझने चाहिये ।

अपवर्गे किमिति—'फल प्राप्ति होने पर' ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि  
यदि निरन्तर कार्य करते हुए भी कार्य की सिद्धि नहीं होती तो कामवाची या  
मार्गवाची से तृतीया नहीं होती अपितु पहले नियम के अनुसार [कालाध्वनो-  
रत्यन्तसयोगे] द्वितीया ही होती है । जैसे—मासमधीतो नायातः—'मास भर  
निरन्तर पढ़ा किन्तु आया नहीं ।' यहाँ 'मास' में द्वितीया ही होती है ।





३१ । दिवः कर्म च । १।४।४३। दिवः साधनतमं कारकं  
कर्मसंगं स्याच्चात्तरणसंगम् । अक्षरद्वान्वा दीव्यति ॥

३२ । अपवर्गं तृतीया । २।३।६। अपवर्गः फलप्राप्तिस्तस्यां  
साधनायां कालाध्यनोरत्यन्तसंयोगेनृतीया स्यात् । अह्ना कोशेन  
यानुवातोऽप्योतः । अपवर्गे किम् ? मासमधीतो नामातः ॥

३१ दिवः कर्म च — दिव (मेवता) धातु क साधनतम कारक की कर्म  
संज्ञा होगी है और कर्म सञ्ज्ञा भी ।

अथ अक्षरद्वान्वा दीव्यति [पानी से जेपता है]—यहाँ अक्ष [पासे]  
मुक्त। संयोग के साधन है, अतः करण संज्ञा होकर तृतीया ही होगी बाह्य  
भी । इन नियम से विवरण से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया भी होती है ।

३२ अपवर्ग इति — अपवर्ग का अर्थ है — फल-प्राप्ति । फल-प्राप्ति या  
कार्यसिद्धि का बोध कराने के लिये कालवाची तथा मार्गवाची शब्दों से  
अत्यन्त-संयोग में तृतीया विभक्ति होती है ।

टिप्पणी — इस सूत्र के अर्थ में 'कालाध्यनोरत्यन्तसंयोगे' । २।३।६। सूत्र का  
सम्बन्ध दिया जाता है तभी यह अर्थ होता है । यह तृतीया विभक्ति द्वितीया  
की बाधक है ।

अह्ना कोशेन या अनुवाकोऽप्योतः — [दिन भर या कोस भर निरन्तर  
कार्य करके अनुशाक पड़ लिया]—बितने समय या मार्ग में कार्य पूरा हो जाता  
है उस कालवाची या मार्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती ॥ । यदि दिन  
भर में अनुवाक नाम का वेद का अंश पूरा पड़ लिया तो कालवाची अह्ना  
[दिन] शब्द से तृतीया विभक्ति होगी तथा मार्गवाची 'कोश' शब्द से भी ।  
इसी प्रकार 'आदमवर्गशकरणं ध्रुयते' आदि प्रयोग समझने चाहिये ।

अपवर्ग किमिति—'फल प्राप्ति होने पर' ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि  
यदि निरन्तर कार्य करते हुए भी कार्य की सिद्धि नहीं होती तो कालवाची या  
मार्गवाची से तृतीया नहीं होगी अतः पहले नियम के अनुसार [कालाध्यनो-  
रत्यन्तसंयोगे] द्वितीया ही होती है । जैसे—मासमधीतो नामातः — 'मास भर  
निरन्तर पढ़ा किन्तु आया नहीं ।' यहाँ 'मास' में द्वितीया ही होती है ।

३३। सहयुक्तेऽप्रधाने । २३। १६। सहाय्येन युज्यते अप्रधाने  
तृतीया स्यात् । पुत्रेण सहागतः पिता । एवं साकं-साधं-समं-  
योगेऽपि । विनापि तद्योगं तृतीया । 'वृद्धो यूना । १। २। ६५' ।  
इत्यादिनिर्देशात् ॥

३४। येनाङ्गविकारः । २। ३। २०। येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो  
विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात् । अक्षणा कारणः ।  
अक्षि 'बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः । अङ्गविकारः किम् ?  
अक्षि कारणमस्य ॥

३३ सहयुक्तेऽप्रधाने—साथ [सह] के अर्थ के योग में अप्रधान [मर्याद  
वाच्य के प्रधान कर्ता का साथ देने वाले] के वाचक शब्द में तृतीया विभक्ति  
होती है ।

पुत्रेण सहागतः पिता (पुत्र के सहित पिता आया)—यहाँ आगमन किया  
का मुख्य सम्बन्ध पिता से है अतः पिता प्रधान कर्ता है, पुत्र अप्रधान है,  
इसलिये पुत्र शब्द से तृतीया होती है । इसी प्रकार साकम्, साधम्, समम्  
के योग में भी तृतीया होती है । जैसे—आस्त्व साकं मया सोधे (गृहि०  
८। ७०), अर्धं मया साधं गतिं प्राप्नः (१यु० १४ ६३), आहो निवस्त्यसि समं  
हुरिणाङ्गमाभिः (शाकु० १, २७) (देखिये, काले सेवकान् ८१८) ।

• • विनापीति—यदि सह आदि शब्दों का प्रयोग न हो और इनका अर्थ  
प्रकट होता हो तो भी तृतीया विभक्ति होती है । स्वयं आचार्य पाणिनि ने  
'वृद्धो यूना', (१। २। ६५) इत्यादि सूत्र में युवन शब्द में तृतीया का प्रयोग  
किया है इसी प्रयोग से यह बात पुष्ट होती है ।

३४ येनाङ्गविकारः—जिस विकृत अङ्ग से अङ्गी का विकार लक्षित  
होता है उस अङ्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है ।

अक्षणा कारणः (आँख का जाना या आँख से जाना)—यहाँ आँख के  
विकृत होने से अक्षि (अङ्गी) का जाना लक्षित होता है, अतः आँखवाची  
'अक्षि' शब्द में तृतीया विभक्ति होती है । 'आँख सम्बन्धी जानेपन से युक्त है,  
यह अर्थ होता है । इसी प्रकार 'पादेन खम्बः' 'धिरता दृष्ट्वाटः' 'अर्थेन  
वधिरः' आदि ।

अङ्गविकारः विभक्ति—सूत्र में अङ्गविकार शब्द का क्या तात्पर्य है ?  
यहाँ अङ्ग शब्द अङ्गी के अर्थ में है (अङ्गमस्यास्ति इति अङ्गः—अर्धं

३१ । दिवः कर्म च । १।४।४३। दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्याच्चात्करणसंज्ञम् । अक्षरक्षान्वा दीव्यति ॥

३२ । अपवर्गे तृतीया । २।३।६। अपवर्गः फलप्राप्तिस्तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगेतृतीया स्यात् । अह्ना क्रोशेन वाज्जुवाकोऽधीतः । अपवर्गे किम् ? मासमधीतो नामातः ॥

३१ दिवः कर्म च—दिव् (खेलना) धातु के साधकतम कारक की कर्म संज्ञा होती है और कारण संज्ञा भी ।

अक्षः अक्षान् वा दीव्यति [पासों से खेलता है]—यहाँ अक्ष [पासे] जुआ खेलने के साधन हैं, अतः करण संज्ञा होकर तृतीया ही होनी चाहिये थी । इन नियम से विकल्प से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया भी होती है ।

३२ अपवर्ग इति—अपवर्ग का अर्थ है—फल-प्राप्ति । फल-प्राप्ति या कार्यसिद्धि का बोध कराने के लिये कालवाची तथा मार्गवाची शब्दी हैं अत्यन्त-संयोग में तृतीया विभक्ति होती है ।

• टिप्पणी—इस सूत्र के अर्थ में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (२।३।६) सूत्र का सम्बन्ध किया जाता है तभी यह अर्थ होता है । यह तृतीया विभक्ति द्वितीया की भाषक है ।

अह्ना क्रोशेन वा जज्जुवाकोऽधीतः—[दिन भर या कोस भर निरन्तर कार्य करके अनुशक्त पड़ लिया]—कितने समय या मार्ग में कार्य पूरा हो जाता है उस कालवाची या मार्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है । यदि दिन भर में जज्जुवाक नाम का वेद का अंश पूरा पढ़ लिया तो कालवाची अहन् [दिन] शब्द से तृतीया विभक्ति होगी तथा मार्गवाची 'कोश' शब्द से भी । इसी प्रकार 'आदशवर्गोऽर्थकरणं श्रूयते' आदि प्रयोग सम्भवे

अपवर्ग किमिति—'फल प्राप्ति होने पर' ऐसा क्यों कहा ?

यदि निरन्तर कार्य करते हुए भी कार्य की सिद्धि नहीं हो...

मार्गवाची से तृतीया नहीं होती अतः पहले नियम के अत्यन्तसंयोगे] द्वितीया ही होती है । जैसे

निरन्तर पढ़ा किन्तु आया नहीं । यहाँ 'मास' में

३३। सहयुक्तेऽप्रधाने । २३। १६। सहाय्येन युवते अप्रधाने तृतीया स्यात् । पुत्रेण सहागतः पिता । एवं साकं-सार्धं-समं-योगेऽपि । विनापि तद्योगं तृतीया । 'वृद्धो यूना । १। २। ६५' । इत्यादिनिर्देशात् ॥

३४। येनाङ्गविकारः । २। ३। २०। येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात् । अक्षणा कारणः । अक्षि बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः । अङ्गविकारः किम् ? अक्षि कारणमस्य ॥

३३ सहयुक्तेऽप्रधाने—साय [सह] के अर्थ के योग में अप्रधान [अर्थात् बाध के प्रधान कर्ता का साय देने वाले] के वाचक शब्द में तृतीया विभक्ति होती है ।

पुत्रेण सहागतः पिता (पुत्र के सहित पिता आया)—यही अलगभग क्रिया का मुख्य सम्बन्ध पिता से है अतः पिता प्रधान कर्ता है, पुत्र अप्रधान है, इसलिये पुत्र शब्द से तृतीया होती है । इसी प्रकार साकम्, सार्धम्, समम् के योग में भी तृतीया होती है । जैसे—आस्त्व साकं मया सोमे (मट्टि० पा००), वनं मया सार्धं गति प्रग्नः (२५० १५ ६३), आहो निवस्यति समं हरिणाङ्गमाभिः (साहु० १, २७) (दिद्ये, काले सेवयन ७१५) ।

• वितापीति—यदि सह आदि शब्दों का प्रयोग न हो और इनका अर्थ प्रकट होता हो तो भी तृतीया विभक्ति होती है । स्वयं बोधार्थं पानिनि ने 'वृद्धो यूना', (१। २। ६५) इत्यादि सूत्र में युवन् शब्द में तृतीया का प्रयोग किया है इसी प्रयोग से यह बात पुष्ट होती है ।

३४ येनाङ्गविकारः—जिस विकृत अङ्ग से अङ्गी का विकार लक्षित होता है उस अङ्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है ।

अक्षणा कारणः (आँख का काना या आँख से काना)—यही आँख के विकृत होने से अक्षि (अङ्गी) का काना लक्षित होता है, अतः आँखवाची 'अक्षि' शब्द से तृतीया विभक्ति होती है । 'आँख सम्बन्धी कानेपन से युक्त है, यह अर्थ होता है । इसी प्रकार 'पादेन दम्बः' 'घिरसा यत्वाटः' 'वर्णेन वषिटः' आदि ।

अङ्गविकारः विभक्ति—सूत्र में अङ्गविकार शब्द का क्या तात्पर्य है ? यहाँ अङ्ग शब्द अङ्गी के अर्थ में है (अङ्गमस्यास्ति इति अङ्गः—अर्थ

३१ । दिवः कर्म च । १।४।४३। दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यान्वात्करणसंज्ञम् । असौरक्षान्वा दीव्यति ॥

३२ । अपवर्गो तृतीया । २।३।६। अपवर्गः फलप्राप्तिस्तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगेतृतीया स्यात् । अह्ला क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः । अपवर्गो किम् ? मासमधीतो नायातः ॥

३१ दिवः कर्म च—दिव् (खेलना) पातु के साधकतम कारक की कर्म संज्ञा होती है और करण संज्ञा भी ।

असं: अक्षान् वा दीव्यति [पासों से खेलता है]—यहाँ अक्ष [पासे] जुड़ा खेलने के साधन हैं, अतः करण संज्ञा होकर तृतीया ही होनी चाहिये थी । इस नियम से विकल्प से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया भी होती है ।

३२ अपवर्ग इति—अपवर्ग का अर्थ है—फल-प्राप्ति । फल-प्राप्ति या कार्यसिद्धि का बोध कराने के लिये कालवाची तथा मार्गवाची शब्दों से अत्यन्त-संयोग में तृतीया विभक्ति होती है ।

टिप्पणी—इस सूत्र के अर्थ में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' १।३।५। सूत्र का सम्बन्ध किया जाता है तभी यह अर्थ होता है । यह तृतीया विभक्ति द्वितीया की बाधक है ।

अह्ला क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः—[दिन भर या कोस भर निरन्तर कार्य करके अनुवाक पढ़ लिया]—जितने समय या मार्ग में कार्य पूरा हो जाता है उस कालवाची या मार्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है । यदि दिन भर में अनुवाक नाम का वेद का अंश पूरा पढ़ लिया तो कालवाची अहन् [दिन] शब्द से तृतीया विभक्ति होगी तथा मार्गवाची 'कोश' शब्द से भी । इसी प्रकार 'द्वादशवर्षव्याकरणं श्रूयते' आदि प्रयोग सम्भवे चाहिये ।

अपवर्गो किमिति—'फल प्राप्ति होने पर' ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि यदि निरन्तर कार्य करते हुए भी कार्य की सिद्धि नहीं होती तो कामवाची या मार्गवाची तृतीया नहीं होती अपितु पहले नियम के अनुसार [कालाध्वनो-रत्यन्तसंयोगे] द्वितीया ही होती है । जैसे—मासमधीतो नायातः—'मास भर निरन्तर पढ़ा किन्तु आया नहीं ।' यहाँ 'मास' में द्वितीया ही होती है ।

३३। सहयुक्तेऽप्रधाने ।२३।१६। सहार्थेन युक्ते अप्रधाने तृतीया स्यात् । पुत्रेण सहागतः पिता । एवं साकं-सार्धं-समं-योगेऽपि । विनापि तद्योगं तृतीया । 'वृद्धो यूना ।१।२।६५' । इत्यादिनिर्देशात् ॥

३४। येनाङ्गविकारः ।२।३।२०। येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते तत्तत्तृतीया स्यात् । अक्षणा काणः । अक्षि बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः । अङ्गविकारः किम् ? अक्षि कारणमस्य ॥

३३ सहयुक्तेऽप्रधाने—साध [सह] के अर्थ के योग में अप्रधान [अर्थात् बाध के प्रधान वार्ता का साध देने वाले] के वाचक शब्द में तृतीया विभक्ति होती है ।

पुत्रेण सहागतः पिता (पुत्र के सहित पिता आया)—यहाँ आगमन क्रिया का मुख्य सम्बन्ध पिता से है अतः पिता प्रधान वार्ता है, पुत्र अप्रधान है, इसलिये पुत्र शब्द से तृतीया होती है । इसी प्रकार साकम्, सार्धम्, समम् के योग में भी तृतीया होती है । जैसे—आस्थ साकं मया सोधे (गृहि० ८।७०), वत् मया सार्धमसि प्राप्तः (२पु० १४ १३), आहो निवत्सवति सर्व हरिणाङ्गमाभिः (शाकु० १, २७) (देखिये, काले सेवशन ८१८) ।

• विनापीति—यदि सह आदि शब्दों का प्रयोग न हो और इनका अर्थ प्रकट होता हो तो भी तृतीया विभक्ति होती है । स्वर्ण आचार्य पाणिनि ने "वृद्धो यूना", (१।२।६५) इत्यादि सूत्र में युक्त्वं शब्द में तृतीया का प्रयोग किया है इसी प्रयोग में यह बात पुष्ट होती है ।

३४ येनाङ्गविकारः—जिन विभक्त अङ्ग से अङ्गी का विकार लक्षित होता है उस अङ्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है ।

अक्षणा काणः (अक्ष का काना या आँख से बाना)—यहाँ आँख विवृत होने से व्यसि (अङ्गी) का बानाऽन लक्षित होता है, अतः आँखवाची 'अक्षि' शब्द से तृतीया विभक्ति होती है । 'आँख सम्बन्धी बानेपन से युक्त है, यह अर्थ होता है । इसी प्रकार 'पादेन यज्ज्वः' 'शिरसा घत्वाटः' 'वर्णेन बधिरः' आदि ।

अङ्गविकारः निमित्त—सूत्र में अङ्गविकार शब्द का क्या तात्पर्य है ? यहाँ अङ्ग शब्द अङ्गी के अर्थ में है (अङ्गमस्यास्ति इति अङ्गः—अने

३५ । इत्थंभूतलक्षणो । २।३।२१ । कञ्चित्प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात् । जटाभिस्तापसः । जटाज्ञाप्यतापसश्चविशिष्ट इत्यर्थः ॥

३६ । संज्ञोज्यतरस्यां कर्मणि । २।३।२२ । संपूर्वस्य जानातेः कर्मण तृतीया वा स्यात् । पित्रा पितरं वा संजानीते ॥

३७ । हेतो । २।३।२३ । हेत्वर्थे तृतीया स्यात् । द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यापारसाधारणं च हेतुत्वम् । करणत्वं तु क्रियामात्रविषयं

आपष्' अतएव जहाँ अङ्ग के विकार से अङ्गी का विकार लक्षित होता है वहीं अङ्गवाची से तृतीया होती है । 'अक्षि कानमस्य' में आंख का कानापन ही कहा गया है । इससे किसी व्यक्ति का कानापन लक्षित नहीं होता अतः यहाँ अक्षि शब्द से तृतीया विभक्ति नहीं होती ।

३५. इत्थंभूतलक्षणे — इत्थंभूत शब्द का अर्थ है—इस प्रकार हुआ, किसी विशेष दशा को प्राप्त हुआ । किसी विशेष दशा की प्राप्ति का बोध कराने वाले विल्ल में तृतीया विभक्ति होती है ।

जटाभिस्तापसः (जटाओं से तपस्वी) - जिस व्यक्ति का तपस्वी होना जटाओं से लक्षित होता है उसके लिये यह प्रयोग है । यहाँ जटा तपस्वीपन का शापक (लक्षण) है । इससे उपर्युक्त नियमानुसार तृतीया विभक्ति होती है । जटाओं ॥ लक्षित तपस्वीपन से युक्त है । यह अर्थ होता है ।

३६. संज्ञोज्यतरस्यामिति—सम् उपसर्ग पूर्वक जा धातु के कर्म में विभक्त्य में तृतीया विभक्ति होती है । पक्ष में द्वितीया होती है ।

पित्रा पितर वा संजानीते (पिता को सम्बन्ध जानता है)—यहाँ पितर' वि कर्म होने से द्वितीया प्राप्ति थी । उपर्युक्त नियम से विकल्प से तृतीया होकर 'पित्रा' प्रयोग भी होता है ।

३७. हेतो — कारण वाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है ।

करण और हेतु में भेद है; अतः इस सूत्र से हेतु में तृतीया कही गई है "करणयोस्तृतीया" से करण में । हेतु और करण में भेद यह है कि हेतु

... द्रव्य, गुण और क्रिया सभी का जनक हो सकता है, उसमें कोई

व्यापारनियतं च । दण्डेन घटः । पुण्येन दृष्टो हरिः । फलमपीह हेतुः । अध्ययनेन वसति । गम्यमानापि क्रिया कारकविश्वतो प्रयोजिका । अतं श्रमेण । श्रमेण साध्यं नास्तीत्यर्थः । साधनक्रियां प्रति श्रमः करणम् । शतेन शतेन वत्सान्पाययति पयः । शतेन

व्यापार हो या न हो । किन्तु कारण क्रिया का ही निमित्त होता है और उसमें नियत रूप से क्रिया का साधक व्यापार रहता है । उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी । 'बाणेन हतः वाली' हम उदाहरण में 'वाण' कारण है । इसमें 'हृतव' क्रिया का साधक व्यापार विद्यमान है । दूसरी ओर—

दण्डेन घटः (दण्ड से घड़ा) — यहाँ दण्ड में व्यापार तो है किन्तु यह घट (द्रव्य) का हेतु है क्रिया का अतः नहीं अतः कारण नहीं ।

पुण्येन दृष्टो हरिः (पुण्य के कारण हरि का दर्शन हुआ) — यहाँ, पुण्य हरिदर्शन (क्रिया) का हेतु है किन्तु इसमें व्यापार नहीं अतः यह कर्म नहीं है । यहाँ हेतु में तृतीया विभक्ति होती है ।

फलमपीह इति — यहाँ फल या प्रयोजन का भी हेतु शब्द से ग्रहण किया जाता है । इसलिए 'अध्ययनेन वसति' (अध्ययन करने के प्रयोजन से रहता है) यहाँ अध्ययन शब्द से हेतु में तृतीया विभक्ति होती है ।

गम्यमाना इति — यदि क्रिया का वाक्य में प्रयोग न हो और वह गम्यमान हो अर्थात् उसका अर्थ निकलता हो तो भी वह कारक-विभक्ति में प्रयोजिका होती है । जैसे—

अतं श्रमेण (अतः से मत करो) इसका अर्थ है—'श्रमेण साध्यं नास्ति' । 'श्रम' यहाँ साधन क्रिया के प्रति कारण है । साधन क्रिया-वाक्य में प्रयुक्त नहीं अर्थात् व्यापार से जानी जाती है अर्थात् गम्यमान है । अतः 'श्रम' से तृतीया विभक्ति होती है ।

टिप्पणी— यह भी कहा जा सकता है कि निषेधार्थक अलम्, इतम् आदि के योग में तृतीया विभक्ति होती है—अतं कृतं वा श्रमेण ।

शतेन शतेन वत्सान् पाययति — इसका अर्थ है— शतेन परिच्छिद्य, तो तो करके बड़ों को (दुष्ट) पिलाता है । यहाँ भी परिच्छिद्य क्रिया गम्यमान है । इसके प्रति 'शत' कारण है । अत एव 'शतेन' में तृतीया विभक्ति होती है ।



परिच्छिद्येत्यर्थः ॥ \* (वा) अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया ॥ दास्या संयच्छते कामुकः, धर्म्यं तु भार्यायै संयच्छति ॥ इति तृतीया

३८. कर्मणा, यमभिप्रैति, स, संप्रदानम्, ११।४।३२। दातुस्य, कर्मणा, यमभिप्रैति स संप्रदानसंज्ञः स्यात् ।

३९। चतुर्थी संप्रदाने १२।३।१३। विप्राय गां ददाति ।

अशिष्टव्यवहार इति (वा)—अशिष्ट व्यवहार में दाण् (देना) धातु के प्रयोग में चतुर्थी के अर्थ में तृतीया विभक्ति होती है ।

दास्या संयच्छते कामुकः (कामुक दासी को देता है)—यहाँ 'दास्या' में चायुक्त नियम से तृतीया विभक्ति हो जाती है । चतुर्थी प्राप्त थी । कामुता के भाव से दासी को कुछ देना अशिष्ट व्यवहार है । संयच्छते में दाण् धातु का यच्छ् आदेश हुआ है ।

भार्यायै संयच्छति—अशिष्ट व्यवहार में ही चतुर्थी के स्थान पर यह तृतीया होती है । जहाँ धर्म युक्त (धर्म्य) व्यवहार है वहाँ सम्प्रदान में चतुर्थ विभक्ति ही होगी । अतएव 'भार्यायै' में चतुर्थी विभक्ति होती है । ॥ इति तृतीया ॥

चतुर्थी विभक्ति । ३८. कर्मणा इति—दान के कर्म द्वारा कर्ता जिसे उद्देश्य बनाता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

• , अन्वर्थ संज्ञा है—सम्प्रदीयते यस्मै तत् सम्प्रदानम्—जिसे कुछ • है वह सम्प्रदान कहलाता है ।

चतुर्थी सम्प्रदाने—सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

गां ददाति (ग्राहण को गाय देता है)—यहाँ विप्र के लिए • किया जाता है अतः विप्र की सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है, और 'विप्र' चतुर्थी विभक्ति होती है ।

भेहित इत्येव । दानीयो विप्रः ॥ \* (वा) क्रियया यमभिप्रेति  
पे सम्प्रदानम् पत्ये शेते । \* (वा) यजेः कर्मणः करणसंज्ञा  
दानस्य च कर्मसंज्ञा ॥ पशुना रुद्रं यजते । पशुं रुद्राय ददा-  
र्थः ॥ ४० । दृच्यर्थानां प्रीयमाणः १।४।३३। दृच्यर्थानां  
नां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः संप्रदानं स्यात् । हरये रोचते भक्तिः

अनभिहित इति—यहाँ भी 'अनभिहिते' २।३।१ सूत्र का प्रकरण है अतः  
जहाँ सम्प्रदान अनुक्त होगा वहीं चतुर्थी विभक्ति होगी । 'दानां यो विप्रः'  
[यों का विप्र है] यहाँ 'दा' धातु से सम्प्रदान में । [दीयतेऽस्मै] अनीयद्  
[य] होकर 'दानीयः' शब्द बनता है, अतः एव सम्प्रदान उक्त हो गया,  
तब नहीं रहा । इसी से यहाँ 'विप्र' में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती, अर्थात्  
तत्पदिकार्यभागे प्रयत्ना होती है ।

क्रियया इति [वा]—किसी क्रिया द्वारा कर्ता को जो अभिप्रेत होता है  
की भी सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

पत्ये शेते—यहाँ कथन क्रिया का अभिप्रेत पति है । अतः उपर्युक्त  
रूप से पति की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति होगी है ।

यजेः कर्मणः इति [वा]—[यदि कर्म और सम्प्रदान एक वाक्य में हो]  
[धातु के कर्म की करण संज्ञा तथा सम्प्रदान की कर्म संज्ञा हो जाती है ।

पशुना रुद्रं यजते—इसका अर्थ है—पशुं रुद्राय ददाति । यहाँ 'पशु'  
रं है और 'रुद्र' सम्प्रदान है । उपर्युक्त नियम से कर्म [पशु] की करण  
संज्ञा होकर उसमें तृतीया विभक्ति हो जाती है तथा सम्प्रदान [रुद्र] की  
कर्म संज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति होती है ।

४०. दृच्यर्थानां प्रीयमाणः—इति अर्थ वाली धातुओं के योग में प्रसन्न  
होने वाला [प्रीयमाण] सम्प्रदान संज्ञक होता है । 'दृच्' धातु के दो अर्थ हैं—  
दीप्ति और अभिप्रीति । यहाँ प्रीयमाण शब्द के साहचर्य से अभिप्रीति अर्थ  
लिया जाता है ।

हरये रोचते भक्तिः [हरि को भक्ति अच्छी लगती है]—यहाँ प्रसन्न होने  
वाला 'हरि' है । उपर्युक्त नियम से 'हरि' की सम्प्रदान संज्ञा होकर  
उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है ।

अन्यत्कृतं हतिः रविः हरिनिष्ठप्रोतेर्भक्तिः वशी ।  
 प्रीयमाणः किम् ? देवदत्ताय रोचते मोदकः पयि ॥

४१ । इत्याद्यहं हस्पाशपां शीप्स्यमानः १।४।३४। एषां प्रयोगे  
 बोधयितुमिष्टः सम्प्रदानं स्यात् । गोपी स्मरारुपणाय क्लृप्तते ह्युते

अन्यत्कृतं हति—रवि और भक्तिमात्र के अर्थ में अन्य है । अन्य के  
 द्वारा उत्पन्न की हुई भविष्या की रवि कहने है । उक्त उदाहरण में हति  
 में रहने वाली रवि [प्रीति] को उत्पन्न करने वाली 'भक्ति' है । रवि के इस  
 विशेष अर्थ के कारण 'हरिः भक्तिमयिपयि' आदि में सम्प्रदान संज्ञा नहीं  
 होती ।

प्रीयमाणः किंकि—जो प्रीयमाण अर्थात् प्रसन्न होने वाला है उसी की  
 सम्प्रदान संज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि यहाँ प्रीयमाण [प्रसन्न  
 होने वाला] की ही सम्प्रदान संज्ञा होती है अन्य की नहीं, अन्य 'देवदत्ताय  
 रोचते मोदकः पयि' [देवदत्त को मार्ग में मोदक अच्छा लगता है] यह  
 पयि शब्द की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती, क्योंकि वह प्रीयमाण नहीं ।

४१ । वशापेक्ष—वशाप् [स्तुति करना], ह्यहं [क्षिपाना, धूर करना]  
 ष्टा [कट करना], शप [उत्ताहना देना] इन धातुओं के प्रयोग में, जिस पुर वर्ता  
 अपना भाव प्रकट करना चाहता है [शीप्स्यमानः—बोधयितुमिष्टः] उसकी  
 सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

गोपी स्मरान् कृष्णाय क्लृप्तते ह्युते तिष्ठते, शपते वा [गोपी] राम-  
 से आत्मप्रशंसा द्वारा कृष्ण पर विरह वेदना प्रकट करती है [वशापेक्ष],

तिष्ठते शपते वा । शीप्यमानः किम् ? देवदत्ताय श्लाघते पयि ।  
४२ । धारेयत्तमर्णः १।४।३५। धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्ण उक्तसंज्ञः  
स्यात् । भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः । उत्तमर्णः किम् ? देव-  
दत्ताय शतं धारयति ग्रामे ॥

४३ । स्पृहेरीप्सितः १।४।३६। स्पृहयतेः प्रयोगे इष्टः संप्रदानं  
स्यात् । पुष्पेभ्यः स्पृहयति । ईप्सितः किम् ? पुष्पेभ्यो वने

सपत्नी को हटाकर अपना भाव कृष्ण पर प्रकट करती है [हृत्ते], जाना  
चाहिये यह करने पर भी ठहरते हुए अपना भाव कृष्ण पर प्रकट करती है  
[तिष्ठते], उपालम्भ द्वारा कृष्ण पर अपना भाव प्रकट करती है [शपते]]।  
यहाँ सर्वत्र 'कृष्ण' की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है तथा  
उससे चतुर्थी विभक्ति होती है ।

शीप्यमानः किमिति—सूत्र में 'शीप्यमान' शब्द का क्या प्रयोजन है ?  
यह कि जिस पर कर्ता अपना भाव प्रकट करना नहीं चाहता उसकी सम्प्रदान  
संज्ञा नहीं होती । जैसे—'देवदत्ताय श्लाघते पयि' यहाँ 'पयि' की सम्प्रदान  
संज्ञा नहीं होती ।

४२. धारेयत्तमर्णः धारि [णिजन्त धृ=च्छणी होना] धातु के योग में  
च्छणदाता [उत्तमर्ण] की सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः [• यवान् भक्त के मोक्ष का च्छणी है]—  
यहाँ 'हरि' अधर्मण [च्छण लेने वाला] है उस पर भक्त का भक्ति रूची च्छण  
है जिसका निःक्रम मोक्ष द्वारा सम्भव है । भक्त उत्तमर्ण है उपर्युक्त नियम  
से भक्त की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।

उत्तमर्णः किमिति यह सम्प्रदान संज्ञा उत्तमर्ण [च्छणदाता] की ही  
होती है यतः 'देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे' यहाँ देवदत्त की सम्प्रदान संज्ञा  
होती है 'ग्राम' की नहीं ।

४३. स्पृहेरीप्सितः—स्पृह [चाहना] धातु के योग से चाहा हुआ [ईप्सित]

१. बालमनोरमा

स्पृहयति । ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा । प्रकर्षविवक्षायां तु परत्वात्  
कर्मसंज्ञा । पुष्पाणि स्पृहयति ॥

४४ । ऋघद्रुहेर्ष्यासूयार्यानां यं प्रति कोपः १।४।३७।  
ऋघाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः स उक्तसंज्ञः स्यात् । हरये  
ऋध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा । यं प्रति कोपः किम् ?

पदार्थ सम्प्रदान संज्ञक होता है ।

पुष्पेभ्यः स्पृहयति [कृतों की चाह करता है]—यहाँ 'पुष्प' की उपर्युक्त  
नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है और उसमें अनुर्धी विभक्ति होती है ।

ईप्सितः किमिति—ईप्सित शब्द का क्या प्रयोजन है ? यह कि—  
स्पृह धातु के योग में भी चाहे हुए पदार्थ की ही सम्प्रदान संज्ञा होती है, अतः  
"पुष्पेभ्यः स्पृहयति" में वने की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होगी ।

ईप्सितमात्र इति—'स्पृहेरीप्सितः १।४।३६ सूत्र से केवल चाहे हुए  
[ईप्सितमात्र] की सम्प्रदान संज्ञा होती है । जहाँ चाह का भाविष्य विभक्ति  
होता है अर्थात् आर्याधिक चाहा हुआ [ईप्सिततम] रहना होता है वहाँ परे  
होने से [पर चात्] अनुरीप्सिततमं कर्म १।४।४२ से कर्म संज्ञा ही होती है ।  
'पुष्पाणि स्पृहयति' में पुष्प में ईप्सिततम की विवक्षा है । अतः इसकी कर्म संज्ञा  
होकर द्वितीया होती है ।

४५. ऋघद्रुहेर्ष्यति—ऋघ् [कोप करना], द्रुह् [धर करना], ईर्ष्य्  
[ईर्ष्या करना], असूय [गुणों में दोष देना]—इन धातुओं तथा इनके समान  
अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में, जिसके ऊपर कोप आदि रिया जाता है  
उसकी सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है ।

हरये ऋध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा [हरि पर कोप करना है,  
द्रोह करना है, ईर्ष्या करना है या उसके दोष निरास्तना है] यही हरि की  
उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है तथा उसमें अनुर्धी विभक्ति  
हो जाती है ।

यं प्रति कोपः किमिति— जिसके प्रति कोप होता है उसकी ही

भार्यामीर्ष्यति मैनामन्योऽद्राक्षीदिति । क्रोधोऽमर्षः । द्रोहोऽप-  
कारः । ईर्ष्याऽक्षमा । असूया गुणेषु दोषाविष्करणम् । द्रुहा-  
दयोऽपि कोपप्रभवा एव गृह्यन्ते । अतो विशेषणं सामान्येन यं  
प्रति कोप इति ।

४५ । क्रुधद्रुहोरपसृष्टयोः कर्म । १।४।३ = । सोपसर्गयोरनयो-  
र्योगे यं प्रति कोपस्वरकारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । क्रूरमभिद्रुध्यति ।  
अभिद्रुह्यति ॥

४६ । राघोऽघोरस्य विप्रद्रवः । १।४।३६ एतयोः  
कारकं सम्प्रदानं स्यात् । यदीयो विविधः प्रश्नः

सम्प्रदान संज्ञा होती है । 'भार्यामीर्ष्यति मैनामन्योऽद्राक्षीदिति' अर्थात् पत्नी  
को क्रूरता देवे यह साहज नहीं करता । यहाँ भार्या के प्रति क्रोध नहीं, किन्तु  
उसका दुगर्ह के द्वारा देखा जाना असह्य है, अतः यहाँ भार्या की सम्प्रदान  
संज्ञा नहीं होती, किन्तु कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विचारित होती है ।

यद्यपि क्रोध, द्रोह आदि के अर्थ विप्र-२ हैं, कोप का अर्थ है—अमर्ष,  
द्रोह का अर्थ है—अपकार करना, ईर्ष्या का अर्थ है—साहज न करना तथा  
गुणों में दोष निकालना असूया है तथापि 'यं प्रति कोपः' (असूया के प्रति  
कोप हो) यह सामान्य रूप से सभी का विशेषण है; क्योंकि क्रोध से ईर्ष्या  
होने वाले (कोपप्रभवा) द्रोह आदि ही यहाँ निवेदित हैं । जहाँ के  
योग से सम्प्रदान संज्ञा होती है अर्थात् कि 'भार्यामीर्ष्यति' आदि उदाहरण में  
व्यप्य है ।

४७. क्रुधद्रुहोरिति—उपसर्ग पूर्वक (उपसृष्ट) क्रुध तथा द्रुह पात्रु के  
कोप से, जिसके प्रति क्रोध होता है उसकी वचन संज्ञा होती है । यह नियम  
पहले नियम का अन्वय है ।

क्रूरमभिद्रुध्यति, अभिद्रुह्यति (क्रूर के प्रति क्रोध करना है, द्रोह करना  
है)—यहाँ पूर्व क्रूर (४४) से 'क्रूर' की सम्प्रदान संज्ञा प्राप्त की, उसे वाच कर  
उपात्त नियम से 'क्रूर' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विचारित हो जाती है ।

४८. राघोऽघोरस्य विप्रद्रवः—[राघु पात्रु आराधना का साधना अर्थ से  
है और ईश्वर देवदे अर्थ से, किन्तु यहाँ इनका पुनःपुनः वचन अर्थ है] इन

क्रियते । कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा । पृष्टो गर्गः शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः ॥

४७ । प्रत्याङ्भ्यां ध्रुवः पूर्वस्य कर्ता । १।४।४०। आभ्यां परस्य शृणोतेर्योगे पूर्वस्य प्रवर्तनरूपव्यापारस्य कर्ता सम्प्रदानं स्यात् । विप्राय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा । विप्रेण मह्यं देहीति प्रवर्तितः प्रतिजानीत इत्यर्थः ॥

४८ । अनुप्रतिगुणश्च । १।४।४१ आभ्यां गृणातेः कारकं

धातुओं के योग में जिसका विविध प्रकार का प्रश्न होता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा—इसका अर्थ है—पूछे जाने पर (गर्ग नाम का ज्योतिषी) कृष्ण के शुभाशुभ का विचार करता है । यहाँ कृष्ण की उपसृक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है और उससे चतुर्थी विभक्ति होती है ।

४७. प्रत्याङ्भ्याम् इति—प्रति और आ (आङ्) पूर्वक ध्रु (धुनना) धातु के योग में पहले (प्रेरणा रूप) व्यापार के कर्ता अर्थात् प्रवर्तित करने वाले की सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

विप्राय गां प्रतिशृणोति (आशृणोति वा) —इसका अर्थ है कि ब्राह्मण ने—“तुझे गाय दे दं” ऐसा कह कर किसी को प्रेरणा दी, तब उस व्यक्ति ने ब्राह्मण को गाय देने का वचन दिया (प्रति और आ पूर्वक ध्रु धातु का अर्थ है—प्रतिज्ञा करना, वचन देना) । इस प्रकार यहाँ प्रेरणा रूप पूर्व व्यापार के कर्ता ‘विप्र’ की उपसृक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो गई तथा सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति हुई ।

४८. अनुप्रतिगुणश्च—अनु और प्रति पूर्वक गृ (गन्धे) धातु के पूर्व

का कर्ता सम्प्रदान संज्ञक होता है ।

पूर्वव्यापारस्य कर्तृभूतमु ज्ञं स्यात् । होत्रेऽनुगृणाति प्रति-  
गृणाति । होता प्रथमं शंसति तमध्वर्युः प्रोत्साहयतीत्यर्थः ।  
४६ । परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् । १।४।४४। नियत-  
कालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणं तस्मिन् साधकतमं कारकं  
सम्प्रदानसंज्ञं वा स्यात् । शतान् शताय वा परिक्रीतः ॥  
\* (वा) तादर्थ्यं चतुर्थी वाच्या ॥ मुक्तये हरि भजति ।

होत्रेऽनुगृणाति (प्रतिगृणाति वा)—इसका अर्थ है—होता (चार यज्ञकर्ता  
या ऋत्विजों में से एक) पहले बोलता है उसे अध्वर्यु (अन्य यज्ञकर्ता)  
प्रोत्साहन देता है । यहाँ 'होत्र' बोलता (शसन) रूप पूर्व व्यापार का कर्ता है  
अतः उपर्युक्त नियम से 'होत्र' को सम्प्रदान संज्ञा हाकर उसमें चतुर्थी विभक्ति  
हो जाती है—(होत्रे) ।

४६. परिक्रयणे इति—परिक्रयण का अर्थ है—नियत काल के लिये  
जिसे को बेलन पर रखना ; परिक्र.ण में साधकतम कारक अर्थात् करण की  
विवक्ष्य से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है ।

शतान् शताय वा परिक्रीतः (बो रुपये 'बेलन' से रखा हुआ)—यहाँ  
'क्रीत' परिक्रयण का साधन है उसकी उपर्युक्त नियम से विवक्ष्य से सम्प्रदान  
संज्ञा हो जाती है तथा सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है । जब सम्प्रदान  
संज्ञा नहीं होगी तब, करण में तृतीया विभक्ति हो जाती है ।

तादर्थ्यं इति (वा)—तादर्थ्य का अन्विष्टार्थ है—उसके लिये अर्थात्  
प्रयोजन । जिस (प्रयोजन) के लिए कोई कार्य या वस्तु होती है उस  
(प्रयोजन) से चतुर्थी विभक्ति होती है, जैसे—

मुक्तये हरि भजति (मुक्ति के लिये हरि को भजता है)—यहाँ हरि के  
भजन का प्रयोजन मुक्ति है अतः उपर्युक्त नियम से 'मुक्ति' शब्द में चतुर्थी  
विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार "बुद्धलाय हिरण्यम्" (बुद्ध बनाने के  
लिये सोना है) "कार्यं यशसे" (कार्य जीति के लिये है) इत्यादि में बुद्धल  
तथा यशस् से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है



\* (वा) वस्तुषि संपद्यमाने च ॥ भवितुर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते जायते, इत्यादि ॥ \* (वा) उत्पातेन ज्ञापिते च ॥ वाताय कपिला विद्युत् ॥ \* (वा) हितयोगे च ॥ ब्राह्मणाय हितम् ॥  
५० । क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्यानिनः । २।३।१४।

वस्तुषि इति वा—वस्तु (समर्थ होना, पैदा होना) अर्थ वासी धातु के प्रयोग में जो होने वाला (परिणाम) है उससे वस्तुषी विभक्ति होती है ।

भवितुर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते, जायते इत्यादि—‘भवितुं ज्ञान के लिये होती है’, यहाँ ज्ञान सम्पद्यमान अर्थात् होने वाली वस्तु है । उपर्युक्त नियम से ज्ञान में वस्तुषी विभक्ति हो जाती है ।

उत्पातेन ज्ञापिते च (वा)—उत्पात्त का अर्थ है—अनुभवमूलक अवस्था होने वाला मौलिक विकार । उत्पात्त से सूचित अर्थ में वस्तुषी विभक्ति होती है ।

वाताय कपिला विद्युत् (वयित्त वर्ष की बिजली आंधी की मूचर होती है)—यहाँ उपर्युक्त नियम से ‘वाताय’ में वस्तुषी विभक्ति हो जाती है ।

हितयोगे च (वा)—हित के योग में वस्तुषी विभक्ति होती है । जैसे ‘ब्राह्मणाय हितम्’ ब्राह्मण के लिये हितकर । इसी प्रकार ‘ब्राह्मणाय सुखम्’ आदि ।

५०. क्रियार्थ इति—क्रियार्थोपपदस्य शब्द का अर्थ है—‘क्रियार्थ क्रिया उत्पन्नक यस्य’ किसी क्रिया के लिये होने वाली दूसरी क्रिया यास में सुनी जाती है जिसके इस शब्द से ‘तुमुन्’ प्रत्यय सजित होता है, क्योंकि क्रियार्थ क्रिया के साथ होने पर तुमुन् का विधान किया गया है—‘तुमुन्तुषी क्रियार्थ क्रियार्थाम् ३।३।१०। ‘स्यानिनः’ का अर्थ है जिसका स्यान् हो इन्धु प्रयोग में किया गया हो (अप्रयुज्यमानस्य) । इस प्रकार शून्य का अर्थ है—

कर्मणीने धूपभाजं पदम् उपादम्, ओ पद (शब्द) सपीत में पुनर्दि देना  
५० उपाद पदभाजा है ।

क्रियार्या क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य तुमुनः  
कर्मणि चतुर्थी स्यात् । फलेभ्यो याति । फलान्यहतुं यातीत्यर्थः ।  
नमस्कुर्मो नृसिहाय । नृसिहमनुकूलयितुमित्यर्थः । एवं स्वयं-  
भुवे नमस्कृत्येत्यादावपि ॥

५१ । तुमर्थाच्च भाववचनात् । २।३।१५ । 'भाववचनाश्च  
३।३।११ । इति सूत्रेण यो विहितस्तदन्ताच्चतुर्थी स्यात् ।  
यागाय याति । यष्टुं यातीत्यर्थः ॥

यदि तुमुन् प्रायवाप्तं घातुं वा अर्थं प्रकट हो, बिम्बु उसका प्रयोग न  
किया गया हो तो उसके 'कर्म' में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

फलेभ्यो याति—इसका अर्थ है 'फलानि ग्राह्यं' याति' (फल लेने  
के लिये जाता है)। यहाँ क्रियाया क्रिया है—'याति' (क्योंकि जाना क्रिया  
फल लाने के लिये है) । ग्राह्यं ( तुमुन्प्रायवाप्त ) का अर्थ प्रकट होता है;  
बिम्बु उसका प्रयोग नहीं किया गया । उसका 'कर्म' है—यत्न । उपपुंक्त नियम  
से 'कर्म' शब्द से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।

.... नमस्कुर्मो, नृसिहाय—इसका अर्थ है नृसिहम् अनुकूलयितुं नम-  
स्कुर्मः' (नृसिह को अनुकूल करने के लिये हम नमस्कार करते हैं) । यहाँ  
तुमुन् प्रायवाप्त 'अनुकूलयितुम्' का भाव प्रकट होता है । 'अनुकूलयितुम्' का  
कर्म 'नृसिह' है । इसलिये 'नृसिह' शब्द से उपपुंक्त नियमानुसार चतुर्थी  
विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' (स्वयम्भुव प्रीतिरितुं  
नमस्कार 'ब्रह्मा को प्रणम करने के लिये नमस्कार करके' आदि में भी  
चतुर्थी विभक्ति होती है ।

५१. तुमर्थाच्चेति—भाववचनाश्च २।३।११ । इस सूत्र में कहा है कि  
भाववचनी चम् आदि प्राप्य तुमुन् के अर्थ में भी होते हैं । उन चम् प्राप्यवा  
आदि चम् से चतुर्थी विभक्ति होती है ।

यागाय याति—इसका अर्थ है—'यष्टुं याति' अर्थात् यज्ञ करने के लिये  
जाता है । यहाँ 'याग' तुमुन् के अर्थ में भाववचनी चम् प्राप्यवा (चम् + चम्)  
र है । उपपुंक्त नियम से अनुकार 'याग' से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।

५२ । नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽस्त्ययस्योपाच ॥२॥३॥६॥  
 एभिर्योगे चतुर्थी स्यात् । हरये नमः (प) उपपदविभक्तः  
 कारकविभक्तिर्वर्त्तनीयसी ॥ नमस्करोति देवान् । प्रजाम्यः स्वस्ति ।  
 अग्नये स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा ।

५२. नमः स्वस्ति इति—नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अस्त्ययस्योपाच  
 शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है । जैसे—‘हरये नमः’ (हरि के  
 लिये नमस्कार) यहाँ ‘नमः’ शब्द के योग में ‘हरये’ में चतुर्थी विभक्ति है ।

उपपद विभक्त्येति—उपपद विभक्ति से कारक विभक्ति बलवती  
 होती है अर्थात् उपपद विभक्ति को बाधकर कारक विभक्ति हो जाती है ।  
 जो निमित्त से विभक्ति का विधान किया गया है—एक तो क्रिया के सम्बन्ध  
 से, जिसे कारक विभक्ति कहते हैं । वह कर्म आदि संज्ञा करके द्वितीया  
 विभक्ति आदि के रूप में कही गई है । दूसरी है—उपपद विभक्ति : उपपद  
 =समीप में स्थित पद । क्रिया से भिन्न अन्य शब्द (पद) के निमित्त से  
 होने वाली विभक्ति उपपद विभक्ति कहलाती है । उपपद के सम्बन्ध  
 से होने वाली विभक्ति की अपेक्षा क्रिया के सम्बन्ध से होने वाली विभक्ति  
 बलवती होती है, जैसे—‘नमस्करोति देवान्’ (देवों को नमस्कार करता है)  
 यहाँ ‘नमः’ के योग में ‘देव’ शब्द से चतुर्थी विभक्ति प्राप्त होती है किन्तु  
 ‘नमस्करोति’ यह क्रियापद हो जाने पर इसके सम्बन्ध से ‘देव’ कर्म हो जाता  
 ॥ और द्वितीया विभक्ति प्राप्त होती है । यहाँ द्वितीया कारक विभक्ति है  
 अतएव चतुर्थी (उपपद विभक्ति) को बाध कर द्वितीया विभक्ति होती  
 है—‘देवान्’ ।

प्रजाम्यः स्वस्ति (प्रजाओं का बरपाव हो)—‘नमः स्वस्ति’ आदि  
 नियम से ‘स्वस्ति’ के योग में ‘प्रजा’ शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है ।  
 इसी प्रकार—

अग्नये स्वाहा (अग्नि के लिये स्वाहा) । पितृभ्यः स्वधा (पितरों के लिये  
 धन्नादि द्रव्य) में भी चतुर्थी विभक्ति होती है ।

अलमिति पर्यात्यर्थप्रहणम् । तेन दैत्येभ्यो हरिरलं प्रभुः समर्थः  
 शक्त इत्यादि । प्रभवादियोगे पठ्यपि साधुः । तस्मै प्रभवति  
 ५।१।१०१। स एषां ग्रामणी ५।२।७८ इति निर्देशात् । तेन  
 प्रभुर्भूषुर्भुवनत्रयस्येति सिद्धम् । अपठिन्द्राय । चकारः पुन-  
 विधानार्थः । तेनाशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिपी'ति  
 २।३।७३ प ठीं चाचित्वा चतुर्थ्येव भवति ॥ स्वस्तिगोभ्यो भूपात् ॥

अलमिति—सूत्र में 'अलम्' शब्द से पर्याप्त (समर्थ) अर्थ वाले शब्दों  
 का ग्रहण किया जाता है । इसके दो फल होते हैं—(१) निषेध अर्थ में जो  
 'अलम्' शब्द है, उसके योग में चतुर्थी नहीं होती, जैसे—'अलं विवादेन' ।  
 (२) पर्याप्त (समर्थ) अर्थ वाले 'प्रभु' आदि शब्दों के योग में चतुर्थी  
 विभक्ति हो जाती है । जैसे—दैत्येभ्यो हरिः प्रभुः, समर्थः, शक्तः ।

दैत्येभ्यो हरिरलम्—यहाँ पर्याप्ति अर्थ वाले 'अलम्' शब्द के योग में  
 'दैत्येभ्यः' में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

प्रभवादियोग इति—प्रभु आदि शब्दों के योग में वृद्धी विभक्ति भी  
 पड़ती है । यद्यपि किसी सूत्र या आधिक से वृद्धी का विधान नहीं किया गया  
 तथापि आचार्य पाणिनि के 'तस्मै प्रभवति' ५।१।१०१॥ प्रयोग से विदित  
 होता है कि प्रभु आदि के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है । इसी प्रकार उनके  
 'स एषां ग्रामणीः' ५।२।७८॥ प्रयोग से ज्ञात होता है कि प्रभु आदि के योग  
 में वृद्धी भी होती है । अतएव—प्रभुर्भूषुर्भुवनत्रयस्य ( १४६ ) माप कवि  
 की इस उक्ति में 'भुवनत्रयस्य' में वृद्धी का प्रयोग भी व्याकरण सम्मत ही है ।

अपठिन्द्राय (इन्द्र के लिए हवि दान)—यहाँ 'नमः स्वस्ति' आदि  
 नियम से 'अपठ' के योग में 'इन्द्र' शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है ।

चकार इति—सूत्र (३२) में च ( बोधात् + च ) छिद्र से चतुर्थी कहने के  
 लिये है । जैसे—

स्वस्ति गोभ्यो भूपात् ( शायों का वस्त्राव हो )— यहाँ नमः  
 स्वस्ति ० २।३।१६ आदि नियम से चतुर्थी प्राप्त होती है । चतुर्थी आदि वि-

५२। मन्यकर्मण्यनादरे विभाषांप्राणिषु । २। ३। १७। प्राणि-  
वर्जं मन्यन्तेः कर्मणि चतुर्थी वा स्यात्तिरस्कारे । न त्वां तुणं मन्ये  
तुणाय वा । श्यनां निर्देशात्तानादिकयोगे न । न त्वां तुणं मन्ये-  
हम् । अप्राणिष्वित्यपनीय ॥ (वा) नोकाकाक्षशुकभृगालघज्य-  
त्विषि चिच्यम् ॥ तेन न त्वां नावमग्नं वा मन्ये इत्यत्राप्राणि-  
त्वेऽपि चतुर्थी न । न त्वां शुने मन्ये इत्यत्र प्राणित्वेऽपि भवत्येव ॥

२। ३। १७। इस नियम से चतुर्थी और पठ्ठी दोनों विकल् से प्राप्त होती हैं ।  
अष्टाध्यायी में चतुर्थी 'आशिषि' सूत्र नमः स्वस्ति० से परे (आगे) है और  
हो तुल्य नियमों के विरोध में परे वाला कार्य ही हुआ करता है (विप्रतिषेधे  
परे कार्यम्) अतः चतुर्थी और पठ्ठी विवरण से होनी चाहिए । किन्तु ऐसा  
नहीं होता 'स्वस्ति गोम्यो भूयात्' प्रयोग में नित्य चतुर्थी विभक्ति ही होती है ।  
इसका कारण यह है कि 'नमः स्वस्ति०' सूत्र में 'व' शब्द का प्रयोग किया गया  
है । यह वलपूर्वक पुनः चतुर्थी का विधान करता है इसलिये आशीर्वाद की  
विशेषता में 'चतुर्थी आशिषि०' इस पठ्ठी को बाधकर नमः 'स्वस्ति' से होने  
वाली चतुर्थी विभक्ति ही होती है ।

५३. मन्यकर्मणि इति—अनादर प्रकट करने में मन् (मानना, दिव्यनि)  
धातु के कर्म में, यदि वह प्राणी न हो तो, विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती  
है, परा में द्वितीया होती है ।

न त्वां तुणं मन्ये तुणाय वा ( मैं तुम्हें तिनके के तुल्य भी नहीं  
'सममन्यो')—यहाँ उपर्युक्त नियम से तुणं शब्द से विकल्प से चतुर्थी विभक्ति  
होती है । परा में कर्म में द्वितीया ही होती है ।

अथेति शब्द से निर्देश करने के कारण यहाँ दिवादि गण की मन्  
(मन्यते) धातु भी जानी है, अतः एनादि गण की 'मन्' धातु के योग में यह  
चतुर्थी नहीं होती, 'न त्वां तुणं मन्येऽहम्' ।

अप्रणिषु० इति ( वा )—वाचिककार का कथन है कि सूत्र में से  
'व' शब्द को हटाकर उसके स्थान में—नो (नाव), काठ (कोठा)

५४ । गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्या चेष्टायाभनध्वनि  
।२।३।१२। अथ्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मणि एते स्तश्चेष्टायाम् ।  
ग्रमं ग्रामाय वा गच्छति । चेष्टायां किम् ? मनसा हरि  
व्रजति । अनध्वनीति किम् ? पन्थानं गच्छति ।

अथ, शुक्र घोडा) श्रृगास (सिपार) को छोड़कर ऐसा कहना चाहिये । इसका  
फल यह होता है कि—

(१) न त्वां माव मत्वे (तुम्हें नाव नहीं समझता) —यहाँ अप्राणि नाव)  
होने के कारण सूत्र के अनुसार 'वो' से चतुर्थी प्राप्त होती है किन्तु द्रष्ट  
नहीं । वास्तिक में 'वो' को वञ्चित करने से नहीं होती ।

(२) न त्वां शुने मत्वे (तुम्हें कुत्ता भी नहीं समझता) —यहाँ वचन (कुत्ता)  
प्राणी है अतएव सूत्र के अनुसार चतुर्थी प्राप्त नहीं (अप्राणिपु); किन्तु चतुर्थी  
द्रष्ट है । वास्तिक में 'शुने' को वञ्चित नहीं किया गया अतः वास्तिक के अनु-  
सार 'शुने' में प्राणी होते हुए भी चतुर्थी विभक्ति हुई जाती है ।

५५. गत्यर्थकर्मणि इति— यदि वह (वर्म) मार्ग न हो और शरीर की  
गति (चेष्टा) वही गई हो, तो गति अर्थ वाली धातुओं के कर्म में द्वितीया  
और चतुर्थी विभक्ति होती है ।

ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति (गांव को जाता है) —यहाँ 'ग्राम' मार्ग नहीं  
है और गांव जाने में शरीर की चेष्टा करनी पड़ती है अतः उपर्युक्त नियम  
से 'ग्राम' या 'ग्रामाय' में विकल्प से द्वितीया अथवा चतुर्थी विभक्ति  
होती है ।

चेष्टायां किमिति—'चेष्टा' में यह क्यों कहा ? इसलिये कि जहाँ शारीरिक  
व्यापार नहीं करना पड़ता वहाँ केवल द्वितीया विभक्ति ही होती है जैसे—  
'मनसा हरि व्रजति' (मन से हरि के पास जाता है ।) इसी प्रकार नररसिंह-  
कर्ता द्वैध्वनीति लोके' इत्यादि (आटे ७१) ।

अनध्वनीति—यदि गति अर्थ वाली धातु का कर्म अध्वन (मार्ग) होता  
है तो कर्म में केवल द्वितीया ही होती है, चतुर्थी नहीं । जैसे 'पन्थानं गच्छति'  
(मार्ग को जाता है) ।

गन्नाधिष्ठितेऽव्ययेनायं निषेधः । यदा तूत्पयात्पन्या  
एवाक्रमितुमिष्यते तदा चतुर्थी भवत्येन । उत्पयेन पये गच्छति  
॥ इति चतुर्थी ।

५५ । ध्रुवमपायेऽपादानम् । १।४।२४। अपायो विस्लेपस्त-  
स्मिन्साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात् ॥

५६ । अपादाने पञ्चमी । २।३।२८। ग्रामादामाति ।

गन्नाधिष्ठित इति—यदि जाने वाले (गन्तु) के द्वारा मार्ग अधिष्ठित  
(प्राप्त) होता है अर्थात् वह इष्ट मार्ग पर स्थित होता है तभी वह चतुर्थी  
विभक्ति नहीं होगी; किन्तु जब उत्पय (अनिष्ट मार्ग) से जाने में असमर्थ  
होकर वह उसे छोड़कर इष्ट मार्ग की ओर जाता है तब मार्गबाधी में भी  
चतुर्थी विभक्ति होगी ही है । जैसे—“उत्पयेन पये गच्छति” (उत्पय से पय  
को जाता है) भाव यह है कि—यदि कोई देहवी के लिये चला; किन्तु जब  
ही देहवी का मार्ग छोड़कर अन्य मार्ग पर ही लिगा, वही अन्य मार्ग उदात्त  
कहलायेगा । उस मार्ग से जब अपने इष्ट देहवी के मार्ग को प्राप्त करने के  
लिये चलेगा तो ‘उत्पयेन पये गच्छति’ यह प्रयोग होगा । यहाँ ‘पये’ में चतुर्थी  
विभक्ति होती ही है ॥ इति चतुर्थी ॥

पञ्चमी विभक्ति । ५५. ध्रुवमपायेऽपादानम्—अपाय का अर्थ है  
विप्लव, अलग होना । किसी वस्तु या व्यक्ति के असंग होने में जो कारक  
ध्रुव अर्थात् अवधि (सीमा) रूप है वह अपादान कहलाता है ।

५६. अपादाने पञ्चमी—अपादान कारक में पञ्चमी विभक्ति  
होती है ।

ग्रामाद् आमाति (ग्राम से आता है) —कहाँ से आता है ? ग्राम से । यहाँ  
ग्राम अवधिरूप है अतः इसकी अपादान संज्ञा होकर इससे पञ्चमी विभक्ति  
हो जाती है ।

धावतोऽश्वात्पतति । कारकं किम् ? वृक्षस्य पर्णं पतति ॥  
(धा) जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम् ॥ पापाञ्जुगुप्सते ।  
विरमति । धर्मात्प्रमाद्यति ॥

५७ । भोगार्थानां भयहेतुः । १।४।२५। भयार्थानां त्राणा-  
र्थानां च प्रयोगे भयहेतुरपादानं स्यात् । चोराद् विभेति ।

धावतोऽश्वात्पतति [रोड़ते हुए मोड़ से गिरता है]—यहाँ पक्षवि मोड़  
स्थिर नहीं, रोड़ता हुआ है तथापि वह पतन किया के प्रति लक्ष्य है ही  
अतएव 'अव' की अपादान संज्ञा होकर, इससे पञ्चमी विभक्ति होती है ।

टिप्पणी—'धावतोऽश्वात् पतति' आदि प्रयोगों में अव आदि की अपादान  
संज्ञा होनी चाहिये इसलिये मूल के 'ध्रुव' शब्द का अर्थ 'स्थिर' नहीं अपितु  
'अवशिष्ट' माना जाना है ।

कारकं किमिति—कारक अपादान संज्ञक होता है ऐसा क्यों कहा गया ?  
इसलिये कि जो कारक नहीं होता, अर्थात् जिसका किया से सम्बन्ध नहीं होता,  
उसकी अपादान संज्ञा नहीं होती, जैसे 'वृक्षस्य पर्णं पतति' में 'वृक्ष' का पतन  
किया से सम्बन्ध विवक्षित नहीं, अपितु 'पर्ण' से सम्बन्ध है । अतएव यहाँ वृक्ष  
की अपादान संज्ञा नहीं होती ।

जुगुप्सेति (धा)—जुगुप्सा (धृणा) निराम (हटना, अलग होना) प्रमाद  
(असावधानी करना) अर्थ वाली धातुओं के योग में जुगुप्सा आदि के विषय  
की अपादान संज्ञा होती है ।

पापात् जुगुप्सति (पाप से घृणा करता है)—यहाँ पाप जुगुप्सा का विषय  
है अतः उपर्युक्त नियम से इसकी अपादान संज्ञा हो जाती है और अपादान  
में पञ्चमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार (पापात् विरमति) (पाप से बचता  
है) धर्मात् प्रमाद्यति (धर्म से प्रमाद करता है) आदि ।

टिप्पणी—प्रमादार्थक के साथ सप्तमी भी आती है । जैसे—'न प्रमाद्यन्ति  
प्रमादामु विपश्चितः' (आपटे ७६ टि०) ।

५७. भोगार्थानां भयहेतुः—'भय' अर्थ वाली तथा 'रक्षा' (नाश) अर्थ  
वाली धातुओं ॥ प्रयोग में भय का हेतु अपादान कहलाता है ।

चोराद् विभेति (चोर से डरता है)—यहाँ चोर भय का हेतु है । उसकी



चोरात् त्रायते । भयहेतुः किम् ? अरण्ये बिभेति त्रायते इति वा ।  
 ५८ । पराजेरसोढः । १।४।२६। पराजेः प्रयोगेऽसह्योऽर्जो-  
 ऽपादानं स्यात् । अध्ययनात्पराजयते । स्त्रायतीत्यर्थः । असोढः  
 किम् ? शङ्खन्पराजयते । अभिभवतीत्यर्थः ॥

५९ । वारणार्थानामोप्सितः । १।४।२७। प्रवृत्तिविधातो  
 वारणम् । वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोऽपादानं स्यात् ।

उत्पुङ्गव नियम से अपादान संज्ञा होकर अपादान में पञ्चमी विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार 'चोरात् त्रायते' (चोर से रक्षा करना है) ।

समहेतुः किमिति—भय के कारण की ही अपादान संज्ञा होती है यह क्यों कहा ? इसलिये कि 'अरण्ये बिभेति' में अरण्य (वन) की अपादान संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि अरण्य भय का हेतु नहीं । यदि अरण्य को भय का हेतु माना जाये तो अरण्य से भी पञ्चमी विभक्ति ही ही सरती है ।

५८ पराजेरसोढः—परा (उपसर्ग पूर्वक नि धातु के योग में असह्य वस्तु की अपादान संज्ञा होती है ।

अध्ययनात् पराजयते (अध्ययन से हार मान रहा है)—जब किसी के लिये अध्ययन असह्य या कष्टकर हो गया है तो उत्पुङ्गव नियम से पराजयने के योग में अध्ययन की अपादान संज्ञा होती है और उसमें पञ्चमी विभक्ति हो जाती है । इ. का. भाव है—अध्ययन से बच गया है ।

असोढः किमिति—असह्य वस्तु की ही अपादान संज्ञा होती है ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि 'शङ्खन् पराजयते'—शङ्खों को हराता है (अभिभवति = पराजित करना है, यही शङ्ख की अपादान संज्ञा नहीं होती, क्योंकि वह भय का हेतु नहीं । 'शङ्खन्' में कर्म ही दिखी है हुई है ।

५९. वारणार्थानामोप्सितः—वारण का अर्थ है—प्रवृत्ति का निवारण किया जाना से होने वाला जो प्रवृत्ति का निवारण करने वाली धातुओं के अपादान संज्ञा

५८  
संस्कृत

कारकप्रकरणम्

यवेभ्यो गां वारयति । ईप्सितः किम् ? यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे ॥

६० । अन्तर्धो येनादर्शनमिच्छति ॥१४॥३८॥ व्यवधाने  
ति यत्कर्तुं कस्यात्मनो दर्शनस्याभावमिच्छति तदपादानं स्यात्  
मातुर्निलीयते कृष्णः । अन्तर्धो किम् ? चोरान्न दिदृक्षते ।  
इच्छतिग्रहणं किम् । अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा  
स्यात् ॥

यवेभ्यो गां वारयति (यवों में गाय को हटाना है — 'यव' से गाय को  
हटाना चाहता है) उक्त उपसुंक्त नियम से 'यव' की अपादान संज्ञा होती है  
और अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

ईप्सितः किम् ? — जिससे किसीको दूर करने अभीष्ट होता है ।  
वही अपादान होता है । ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि 'यवेभ्यो गां वारयति'  
क्षेत्रे' में 'क्षेत्र' अभीष्ट नहीं बल्कि यव है । अतः क्षेत्र की अपादान संज्ञा नहीं  
होती ।

'६०. अन्तर्धो' इति—अन्तर्धो का अर्थ है, अन्वधान (छोट) । अन्वधान  
होने पर जिस से अपना अदर्शन चाहता है अर्थात् जिससे अपने आपको छिपाना  
चाहता है; उसकी अपादान संज्ञा होती है ॥

मातुर्निलीयते कृष्णः (कृष्ण माता से छिपाना है — कृष्ण की वार  
आदि का अन्वधान करके माता से छिपाना चाहता है) अतः उपसुंक्त नियम से  
'माता' की अपादान संज्ञा हो जाती है और अपादान में पञ्चमी विभक्ति  
होती है ।

अन्तर्धो विभक्ति—अन्तर्धो अन्व रचने का क्या प्रयोजन है ? यह कि  
यहाँ अन्वधान होने पर कोई अपने आप को छिपाना चाहता है नहीं यह अन्व-  
धान संज्ञा होती है अतएव "चोरान्न दिदृक्षते" (चोर मुझे न देख ले इस  
विचार से चोरो को देखना नहीं चाहता) यहाँ 'चोर' की अपादान संज्ञा नहीं  
होती; क्योंकि यहाँ अन्वधान-विभक्ति छिपाने का भाव नहीं है ।

इच्छतिग्रहणं विभक्ति—यत्र में 'इच्छति' (चाहता है) का ग्रहण करो

६१ । आख्यातोपयोगे ।१।४।२६। नियमपूर्वकविद्या-  
स्वीकारे वक्ता प्रावसंज्ञः स्यात् । उपाध्यायादधीते । उपयोगे  
किम् ? नटस्य गानां शृणोति ॥

६२ । जनिकर्तुः प्रकृतिः ।१।४।३०। जायमानस्य हेतुर-  
पादानं स्यात्, ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते ॥

किया ? इसलिये कि यदि किसी के छिपने की इच्छा है तो उसे देख लिया जाने पर भी अपादान संज्ञा हो ही जाती है । जैसे 'देवदत्तात् यज्ञदत्तो निली-  
यते ।'—देवदत्त से यज्ञदत्त छिपता है ।

६१. आख्यातोपयोगे—यहाँ उपयोग शब्द का (बहु) अर्थ है—नियम-  
पूर्वक विद्याग्रहण करना । नियमपूर्वक विद्या ग्रहण करने में अध्यापक या  
शिक्षक (आध्याता, वक्ता) की अपादान संज्ञा होती है ।

उपाध्यायाद् अधीते (उपाध्याय से पढ़ता है)—उपर्युक्त नियम से उपा-  
ध्याय की अपादान संज्ञा होकर उसमें पञ्चमी विभक्ति हो जाती है ।

उपयोगे किमिति—जहाँ नियमपूर्वक शिक्षा ग्रहण की जाती है वहीं वक्ता  
की अपादान संज्ञा होती है, यह क्यों ? इसलिये कि 'नटस्य गानां शृणोति'  
नट की गाना सुनता है । यहाँ 'नटस्य' में पञ्चमी विभक्ति नहीं होती,  
क्योंकि यहाँ नियमपूर्वक शिक्षा प्राप्ति नहीं है ।

६२. जनिकर्तुः प्रकृतिः—जनि का अर्थ है—जन्म उत्पत्ति । जनिकर्ता—  
उत्पन्न होने वाले (जायमान) का हेतु अपादान संज्ञक होता है ।

ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते [ब्रह्मा से प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं]—यहाँ  
वर्ता [उत्पन्न होने वाला] प्रजा है । इसका हेतु 'ब्रह्म' है; अतः  
... से 'ब्रह्म' की अपादान संज्ञा होकर उससे पञ्चमी विभक्ति हो

६३ । भुवः प्रभवः । १।४।३१ । भवनं भूः । भूकर्तुः प्रभवस्तथा ।  
हिमवतो गङ्गा प्रभवति । तत्र प्रकाशत इत्यर्थः । †(वा) ल्यङ्लोपे  
कर्मण्यधिकरणे च ॥ प्रासादात् प्रेक्षते । आसनात्प्रेक्षते । प्रासाद-  
मारुह्य आसने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः । श्वशुराज्जिह्वेति  
श्वशुरं वीक्ष्येत्यर्थः । गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तीनां  
निमित्तम् । कस्मात्त्वं नद्याः ॥

६६. भुवः प्रभवः—(भू) शब्द का अर्थ है होना । (भू का पठो (एक०  
पुं.) 'प्रभव' का अर्थ है—प्रथम प्रकाश स्थान । यहाँ पूर्व सूत्र से 'कर्तुः' पद  
की अनुवृत्ति होती है । भू के कर्त्ता के उत्पत्ति स्थान की अपादान संज्ञा होती है ।

हिमवतो गङ्गा प्रभवति—इसका अर्थ है—हिमालय से गङ्गा निकलती  
है अथवा वहाँ प्रथम दिखलाई देती है । यहाँ उपर्युक्त नियम से 'हिमवत्' को  
अपादान संज्ञा हो जाती है और अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

स्थलौप इति (वा)—स्थप् या क्त्वा प्रत्ययान्त के द्विरे रहने पर  
(उसका अर्थ प्रकट होने पर) उसके कर्म तथा आधार में पञ्चमी विभक्ति  
होती है ।

प्रासादात् प्रेक्षते—इसका अर्थ है—'प्रासादमारुह्य प्रेक्षते' (महल पर  
चढ़कर देखता है) । यहाँ 'मारुह्य' स्थप् प्रत्ययान्त का प्रयोग नहीं, उसका  
कर्म है—'प्रासाद' । उपर्युक्त नियम से 'प्रासाद' में पञ्चमी विभक्ति होती है ।  
इसी प्रकार—

आसनात् प्रेक्षते अर्थात् 'आसने उपविश्य प्रेक्षते' (आसन पर बैठकर  
देखता है) यहाँ आसन 'उपविश्य' का आधार है । इसमें पञ्चमी विभक्ति  
होती है ।

श्वशुराज्जिह्वेति (श्वशुर से लज्जा करती है) अर्थात् श्वशुर की देखकर  
लज्जित होनी है यहाँ 'श्वशुर' स्थप् प्रत्ययान्त (बीज्य) का कर्म है ।

गम्यमाना इति—बिना क्रिया का वाक्य में प्रयोग नहीं होता अपितु  
प्रकरण आदि से जान ली जाती है, उसे 'गम्यमाना क्रिया' कहा गया है । ऐसी  
क्रिया की कारक विभक्ति का निमित्त होनी है । जैसे—'कस्यात् स्थप् ?'  
(उस कहीं से आये ?) 'नद्याः' (नदी से) यहाँ प्रकरण आदि से जाना (आग-

\* (धा) यतश्चाध्वकालनिर्माणं सत्र पञ्चमी ॥ \* तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ ॥ \* कालात्सप्तमी च वक्तव्या ॥ वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा । कार्तिकया आग्रहायणी मासे ॥ ६४ । अन्यारादित्तं दिक्शब्दाञ्चत्तरपदाजाहियुक्ते । १।३।२।६ एतौयोगे पञ्चमी स्यात् । अन्य इत्यर्थग्रहणम् ।

मन) क्रिया का बोध होता है । उसके निमित्त से 'कस्मात्' और 'तथा' में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

यतश्चेति (वा) — जिससे (आरम्भ करके) मार्ग या समय की गणना (माप) की जाती है उस स्थान या समय-बाची से पञ्चमी विभक्ति होती है । यहाँ निर्माण का अर्थ है—निर्माण, माप ।

तद्युक्तादिति (वा) — उस पञ्चम्यन्त से अन्वित दूरी या मार्गवाची शब्द में प्रथमा अथवा सप्तमी विभक्ति होती है ।

कालादिति (वा) — उस पञ्चम्यन्त से अन्वित कालवाची शब्द में सप्तमी विभक्ति होती है ।

वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा (वन से ग्राम एक योजन है) — यहाँ 'वन' से 'ग्राम' की दूरी दिखाई गई है । 'यतश्च०' इत्यादि नियम के अनुसार 'वन' पञ्चमी विभक्ति में है । पञ्चम्यन्त से अन्वित मार्गवाची शब्द 'योजन' में प्रथमा या सप्तमी विभक्ति है ।

कार्तिकया आग्रहायणी मासे — (कार्तिक की पूर्णिमा में अग्रहण की पूर्णिमा एक महीने में होती है) — यहाँ 'कार्तिकी' से 'आग्रहायणी' का अन्तर दिखाया गया है अतः कार्तिकी में पञ्चमी विभक्ति है और मास भर का अन्तर दिखाया है अतः 'मास' से सप्तमी विभक्ति होती है ।

६४. 'अन्यारात्' इति अर्थ. आरात् (दूर या अभीष्ट), इतर (अन्य), कृते (दिना, दिशावाची शब्द, अञ्चु) धातु से बना हुआ है उत्तरपद त्रिनमें ऐसे प्राक् प्रत्यक्, आदि शब्द, आच् (तद्धित) प्रत्ययान्त 'दक्षिणा' आदि शब्द तथा 'आहि' (तद्धित) प्रत्ययान्त 'दक्षिणाहि' आदि शब्द—इनके योग में पञ्चमी होती है ।

अन्यो भिन्न इत्यत्र च। अन्यो भिन्न इत्यत्र च। अन्यो भिन्न इत्यत्र च।  
 आरादनात् । श्रुते कृष्णात् । पूर्वो ग्रामात् । दिशि दृष्टः  
 शब्दो दिक्शब्दः । तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना योगेऽपि  
 भवति । चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः । अवयववाचि-योगे तु न । तस्य  
 परमाश्रितम् ॥८॥१२॥ इति निर्देशात् । पूर्वं कायस्य ।  
 अञ्चुत्तरपदस्य तु दिक्शब्दत्वेऽपि 'पठ्यतस्य' २।३।३०  
 इति पठ्ठी बाधितुं पृथग्ग्रहणम् ।

अन्येति—सूत्र में 'अन्य' शब्द से 'भिन्न' अर्थ वांछे सभी शब्दों (भिन्न,  
 पर इतर आदि) का ग्रहण होता है । इतर' शब्द भी अन्वयार्थक है, इसका  
 पृथक् ग्रहण विवर्तन मात्र के लिये किया गया है । (अथवा अनावश्यक है ।

अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात् (कृष्ण से भिन्न - यहाँ उपयुक्त नियम के  
 अनुसार 'कृष्ण' शब्द से पञ्चमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'आराद्  
 वनाद्' (वन के समीप) अथवा वन से दूर) 'श्रुते कृष्णात्' कृष्ण के बिना),  
 'पूर्वो ग्रामात्' (ग्राम से पूर्व) ।

(१) दिशि दृष्ट इति—सूत्र में दिक् शब्द का अर्थ है—दिशा में देखा गया  
 शब्द, इसलिये जो शब्द दिशा के लिये प्रयुक्त होता है किन्तु इस समय देश वा  
 काल में उसका प्रयोग किया गया है उनका साथ भी पञ्चमी विभक्ति हो  
 जाती है । जैसे—

अत्रात् पूर्वः फाल्गुनः—में पूर्व शब्द का अर्थ है—पहले, अतः यह काल  
 वा वाचक है । पर यह दिशा में देखा गया शब्द है इसलिये इसके साथ भी  
 'अत्रात्' में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

(२) अवयवेति—अवयववाची पूर्व, पर आदि शब्दों के योग में पञ्चमी  
 नहीं होती । आचार्य पाणिनि वा तस्य परमाश्रितम् ॥८॥ प्रयोग ही  
 इसमें प्रमाण है । यहाँ 'तस्य परम्' में 'परं' के योग में पञ्चमी नहीं । फलतः  
 'पूर्वं कायस्य' शरीर वा पूर्व भाग में पञ्चमी विभक्ति नहीं होती अपितु  
 सम्बन्ध में पठ्ठी विभक्ति होती है ।

(३) अञ्चुत्तरपदस्येति—यदि अञ्चुत्तरपद 'आक्' 'अस्क्' आदि शब्द  
 दिक् शब्द ही है, अतः दिक् शब्द से अञ्चुत्तरपद का भी ग्रहण हो जाता है

प्राक् प्रत्यग्वा ग्रामात् । आत्, दक्षिणा ग्रामात् । आहि,  
दक्षिणाहि ग्रामात् । 'अपादाने पञ्चमी २।३।२।८ इति सूत्रे  
कार्तिक्याः प्रभृतीति भाष्यप्रयोगात् प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमी ।  
भवात्प्रभृति श्रारभ्यः वा सेव्यो हरिः । 'अपपरिवहिः-२।१।१२,  
इति समासविधानाज्ज्ञापकाद् बहिर्योगे पञ्चमी । ग्रामाद् बहिः ॥

तथानि सूत्र में उनका पृथक् ग्रहण पठ्युत्तमार्थप्रत्ययेन २।३।३० सूत्र (७८) से  
प्राप्त होने वाली पठ्यो का बाध करने के लिये दिया गया है । इसका फल  
यह होता है कि प्राक्, प्रत्यक् आदि के योग में पञ्चमी विभक्ति ही होती है  
पठ्यो नहीं, जैसे—प्राक्, प्रत्यक् वा ग्रामात् ।

दिग्बन्धी—यही प्राक्, प्रत्यक् आदि शब्दों से स्वार्थ में अस्तादि प्रत्यय  
(अ० २।३।२७) होता है और उसका मुद् (अन्वेषमुद् २।३।३०) हो जाता  
है । अस्तादि प्रत्यय अतत्पर्यक है (देखिये मू० ७८) ।

दक्षिणा ग्रामात् (ग्राम से दक्षिण दिशा में)—यह आत् प्रत्यय का उदाहरण  
है । दक्षिण शब्द से आत् प्रत्यय होकर दक्षिण + आ—दक्षिणा अन्वय शब्द  
बनता है । इसके योग में ग्रामात् में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

दक्षिणाहि ग्रामात् (ग्राम से दूर दक्षिण दिशा में)—यह 'आहि' प्रत्यय  
का उदाहरण है । दक्षिण शब्द से 'आहि' (आहि च दूरे) प्रत्यय होकर  
'दक्षिणाहि' शब्द बनता है । इसके योग में ग्रामात् में पञ्चमी विभक्ति  
होती है ।

अपादान इति—अपादाने पञ्चमी २।३।२८ इस सूत्र पर 'कार्तिक्याः प्रभृति'  
इस भाष्य के प्रयोग से प्रभृति अर्थ वाले शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति  
होती है ।

महान् प्रभृति कार्त्तिक्या वा सेव्यो हरिः (ग्राम से लेकर (ग्रामरत्न) हरि  
की कति करनी चाहिये)—यही प्रभृति के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है ।  
यद्यपि किसी नियम से यह कही नहीं गई किन्तु 'अपादाने' पञ्चमी २।३।२८।  
इस सूत्र के भाष्य में 'कार्तिक्याः प्रभृति' यह प्रयोग दिया गया है, इससे  
यह बात स्पष्ट होती है कि प्रभृत्यर्थक शब्दों के योग में पञ्चमी होती है ।

अपपरिवहिः—अपपरिवि० २।१।१२ इस सूत्र के द्वारा 'बहिः' का पञ्चम्यन्त  
के साथ समास दिया गया है, इस भाष्य से बहिः के

६५। अपपरी वर्जने २।४।८८। एतौ वर्जने कर्मप्रवचनीयो  
स्तः ।

६६। आङ् मर्यादावचने । १।४।८९। मर्यादायामुक्तसंज्ञः  
स्यात् । वचनग्रहणादभिविधावपि ।

६७। पञ्चम्यपाङ्परिमिः । २।३।१०। एतैः कर्मप्रवचनीयै-  
र्योगे पञ्चमी स्यात् । अत्र हरेः, परि हरेः संसारः । परिरत्र वर्जने ।

योग में पञ्चमी होती है ।

प्राभाव शब्दः (प्राप्त के बाहर) — यहाँ 'बहिः' शब्द के योग में 'प्राप्त' शब्द से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है । यद्यपि किसी सूत्र आदि से 'बहिः' शब्द के साथ पञ्चमी विभक्ति का विधान नहीं किया गया तथापि अपपरिवर्तिरन्तरः पञ्चम्या २।१।१२ इस सूत्र में 'बहिः' शब्द का पञ्चम्यन्त के साथ समास विधान किया गया है । उससे ज्ञात होता है कि 'बहिः' के योग में पञ्चमं विभक्ति होती है । यदि इसके साथ पञ्चमी विभक्ति न होगी तो पञ्चम्यन्त से समास कैसे होगा ?

६२. अपपरिवर्जने — वर्जन अर्थ को छोड़ित करने में 'अप' और 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

६९. आङ्मर्यादावचने — मर्यादा अर्थ में 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । 'आङ्मर्यादायाम्' ऐसा कहने से ही ऊपर लिखा अर्थ निवृत्त आता फिर 'वचन' शब्द अधिक दिया है । इसका अभिप्राय यह है कि 'अभिविधि' में भी 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा दृष्ट है । मर्यादा का अर्थ है — उसके बिना ( तेन विनेति मर्यादा ) । अभिविधि का अर्थ है — उसमें सहित ( तेन सहैत्यभिविधिः )

६०. पञ्चम्यपाङ्परिमिः — अप, आङ्, परि इन कर्मप्रवचनीय संज्ञकों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

अप हरेः, परि हरेः संसारः — (वचनान् को छोड़कर जन्म मरण के संसार बच है) यहाँ 'अप' तथा 'परि' वर्जन अर्थ में हैं अतः इनकी वा



लक्षणोदी तु-हंरि परि । आमुवतेः संसारः । आ सकलाद् बह ।

६८ । प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः ११४।६२। एतयोरर्थयोः  
प्रतिस्वतसंज्ञः स्यात् ।

६९ । प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् १२।३।११। अत्र कर्म-  
प्रवचनाययोगे पञ्चमी, स्यात् । प्रद्युम्नः-कृपाणात् प्रति ।  
तिलेभ्यः प्रतियच्छति मापान् ।

प्रवचनीय संज्ञा होती है तथा उपर्युक्त नियम से इसके योग में 'हरे' में पञ्चमी  
विभक्ति होती है ।

लक्षणोदीति—जहाँ 'परि' शब्द लक्षण इत्यर्थप्रतीत्यन आदि अर्थ  
में होगा वहाँ तो इसकी 'लक्षणोदीत्यप्रतीत्यन' (३१) आदि सूत्र से कर्म-  
प्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'कर्मप्रवचनीयमुवते' द्वितीया (१७) इससे  
द्वितीया ही होगी । जैसे—हंरि परि ।

आमुवतेः संसारः (मुक्ति तक अथवा मुक्ति से पहले संसार है)—यहाँ  
'आ' मर्मादा अर्थ में है । मुक्ति होने पर जन्ममरण रूपी संसरण नहीं रहता  
अतः मुक्ति मर्मादा है । इस 'आ' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर, इसके योग  
में 'मुक्ति' शब्द से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है ।

आ सकलाद् बह (सकल पर्यन्त या सबको व्याप्त करके बह) —  
यहाँ 'आ' अतिविधि अर्थ में है क्योंकि सबसबस्तु में ही बह है । इस  
'आ' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में उपर्युक्त नियम से  
'सकलाद्' में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

६८ प्रतिरिति—प्रतिनिधि तथा प्रतिदान अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय  
संज्ञा होती है ।

६९ प्रतिनिधीति—जिसकी ज़ुबोर से कोई प्रतिनिधि होता है अथवा  
जिससे कोई वस्तु बदनो जाती है उससे कर्मप्रवचनीय ( उपर्युक्त 'प्रति' ) के  
योग में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

७० । अकर्तृयुगे पञ्चमी २।३।२४। कर्तृवर्जितं यदृणं हेतु-  
भूतंततःपञ्चमी स्यात् । शताद् बद्धः। अकर्तरि किम् ? शतेन बन्धितः॥

प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति ( प्रद्युम्न कृष्ण के प्रतिनिधि हैं )—यही 'प्रति'  
प्रतिनिधित्व को प्रकट करता है अतः इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है  
और प्रतिनिधि० ६ ' आदि नियम से इसके योग में पञ्चमी विभक्तिहानी है ।

तिलेभ्यः प्रतिपद्यति मायान् ( तिलों से 'उड़दो' को बदलता है )—  
यही तिलों से उड़व बनने जाते हैं इस प्रतिदान को प्रति शब्द चोत्तित करता  
है अतः प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और इसके योग में 'तिलेभ्यः'  
शब्द में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

७०. अकर्तृयुगे, इति—कर्ता से जिस जो ऋण ( कृती का ) हेतु हो,  
उससे पञ्चमी विभक्ति होती है ।

शताद् बद्धः—इसका अर्थ है—सौ ( रुपये आदि ) का ऋण न लोटाने  
के कारण बद्ध गया । यहाँ 'शत' ( ऋण ) बन्धन का हेतु है अतः उपर्युक्त  
नियम से इससे पञ्चमी विभक्ति हो जाती है ।

अकर्तरि किमिति—अकर्तरि शब्द का क्या प्रयोजन है ? यह कि ऋण  
अर्थ में विद्यमान जिस शब्द को 'कर्ता' संज्ञा हो जाती है चाहे वह हेतु भी हो  
तो भी उसके योग में पञ्चमी विभक्ति नहीं होती । जैसे—'शतेन बन्धितः';  
इसका अर्थ है—'सौ रुपये ने ऋणदाता से कर्जदार को बंधवा दिया' शतेन  
बन्धितः अयमर्थः उत्तमार्थेन इत्यर्थः । अन्विष्टः शब्द अन्विष्ट (प्रेरणार्थक)  
वाच्य धातु से कर्म में 'वृत्' प्रत्यय होकर बना है 'अव-ल्य उत्तमार्थेन बद्धः'  
'कर्जदार को ऋणदाता ने बांधा', यह साधारण दत्ता ; अन्विष्ट , का रूप  
होगा । 'शत' बांधने की प्रेरणा देता है । यह प्रयोजक कर्ता है और हेतु भी  
( तत्प्रयोजकी हेतुत्व ) । यही शत की कर्तृसंज्ञा हो जाने के कारण इससे  
पञ्चमी विभक्ति नहीं होती ।

७१ । विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् । २।३।२५ । गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गं पञ्चमी वा स्यात् ॥ जाड्याज्जाड्येनवाबद्धः । गुणे किम् ? घनेन कुलम् । अस्त्रियां किम् ? बुद्ध्या मुक्तः । विभाषेति योगविभागादगुणे स्त्रियां च क्वचित् । धूमादग्निमान् । नास्ति घटोऽनुपलब्धेः ॥

७१ विभाषेति—ओ गुणवाचक शब्द हेतु को प्रकट करता है और स्त्रीलिङ्ग नहीं है उससे विकल्पा से पञ्चमी विभक्ति होती है । पक्ष में तृतीया विभक्ति होती है ।

जाड्याज् जाड्येन वा बद्धः (जड़या के कारण बंध गया)—यहाँ 'जाड्य' बन्धन का हेतु है । यह गुणवाचक शब्द है और स्त्रीलिङ्ग में भी नहीं । अतएव इसमें पञ्चमी तथा तृतीया विभक्ति होती है ।

गुणे किमिति—गुणवाचक शब्द से पञ्चमी होती है, ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि ओ शब्द गुणवाचक नहीं उससे पञ्चमी विभक्ति नहीं होगी; अतितु हेतु में तृतीया विभक्ति ही होती है, जैसे—घनेन कुलम् (घन के कारण कुल) ।

अस्त्रियां किमिति—युन में अस्त्रियां लब्ध का क्या प्रयोजन है ? यह कि ओ शब्द गुणवाचक हो इत्यु स्त्रीलिङ्ग हो उससे पञ्चमी विभक्ति न होगी; अतितु हेतु में तृतीया विभक्ति होगी; जैसे—बुद्ध्या मुक्तः (बुद्धि के कारण मुक्त हो गया) । यहाँ 'बुद्धि' में तृतीया विभक्ति होती है ।

विभाषा इति योगविभागाद् इति—“विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्” इस सूत्र में विभाग करके 'विभाषा' एक गुण मान लेने हैं । उसमें ऊपर से द्वितीया और 'पञ्चमी' शब्द की अनुवृत्ति हो जाती है तथा उसका अर्थ होता है—हेतु में विकल्पा से पञ्चमी विभक्ति होती है । इसका फल यह होता है—

(१) कहीं-२ गुणवाचक शब्द न होने पर भी पञ्चमी विभक्ति है, जैसे—‘धूमाद् अग्निमान्’ (धुआं होने से अग्नि आता है)—यह भी तत्रादि पञ्चमी विभक्ति होती है ।

७२ । पृथग्विनानानामिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् । २।३।३० ।  
 एभिर्योगे तृतीया स्यात्पञ्चमोऽद्वितीय च । अ-यत्रस्याऽऽहम्  
 प्रमुखादर्थम् । पञ्चमोऽद्वितीयेष्वनुवर्तते । पूयम् गमंग गमान्  
 गमं वा । एवं विना नाना ।

७३ । करणे च स्तोत्रात्पृष्ठपङ्क्तित्पयस्यासरदक्षमस्य

(१) वही स्त्रीलिङ्ग मन्त्र से भी हृन् म पञ्चमों विभक्ति का उद्गार है,  
 हे—'आति प्रतोन्मन्त्रे' ( उपमादि न होन का यह मन्त्र है )  
 ही 'अनुमन्त्रि' मन्त्र स्त्रीलिङ्ग है मन्त्रादि इसमें पञ्चमों विभक्ति ही  
 गयी है ।

७४. पुष्पादिभिर्य—पुष्प, विना, जगता के योग में विभक्ति न  
 नीया विभक्ति होती है और (पक्ष में) पञ्चमों मन्त्र द्वितीया विभक्ति का  
 नी है ।

अप्यन्यथाविधि—पुष्प के 'अप्यन्यथा' मन्त्र ( जिसका अर्थ वादा  
 करता है )—पञ्चमों और द्वितीया विभक्ति के मन्त्रादिक के निमित्त है ।  
 पञ्चमों और द्वितीया दोनों की अनुवर्तिता का नहीं है, पञ्चमों की अनुवर्तिता  
 का 'अप्यन्यथा' पञ्चमों के और द्वितीया की 'हन्' पुष्प पञ्चा  
 नीया १।३।३१ से ।

पुष्प, राक्षस, राक्षस, राक्षस ( राक्षस से अन्तर नहीं पुष्प मन्त्र  
 के वे 'राक्ष' मन्त्र से द्वितीया अथवा पञ्चमों अथवा द्वितीया विभक्ति  
 मानी है । इसी प्रकार—

राक्षस, राक्षस, राक्ष का विना स्त्रीलिङ्ग का वह राक्षस के विना ही  
 मन्त्र ( राक्षस ) आता मन्त्र जिसका लक्षणाया ( मन्त्रों के लक्षण का लक्षण  
 मन्त्र है ) मन्त्र ( मन्त्रों द्वारा उद्गृत ) मन्त्रों के विना मन्त्र मन्त्रों के लक्षण  
 द्वितीया, पञ्चमों अथवा द्वितीया विभक्ति मन्त्रों है ।

७५. कर्णे के वि—कर्ण मन्त्र, ७५१ । कर्ण ७५२  
 मन्त्र (पुष्प) इन मन्त्रों का वह मन्त्र के निमित्त द्वितीया मन्त्रों का मन्त्र

।२।३।३३। एभ्योऽद्रव्यवचनेभ्यः करणे तृतीयापञ्चम्यौ स्तः ।  
स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः । द्रव्ये तु—स्तोकेन विषेण हतः ।

७४ । दूरान्तिकार्येभ्यो द्वितीया च ।२।३।३५। एभ्यो  
द्वितीया स्याच्चात्पञ्चमोत्तरीये । प्रातिपदिकार्यमात्रे विधिरयम् ।  
ग्रामस्य दूरं-दूरात्-दूरेण वा । अन्तिकम्-अन्तिकान् अन्तिकेन वा ।

करण में तृतीया अथवा पञ्चमी विभक्ति ( विकल्पा से ) होती है । असत्त्व-  
वचनस्य का अर्थ है—‘अद्रव्यवाची वा’ अर्थात् जब इनका प्रयोग द्रव्य के  
समानाधिकरण रूप में नहीं होना ।

स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः—इनका अर्थ है—घोड़े से ( प्रवास ) से ही  
मुक्त हो गया । यहाँ ‘स्तोक’ शब्द किसी द्रव्य का विशेषण नहीं जतः,  
उत्पुंस्व नियम में इसमें तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति विभक्त से हो जा  
है । इसी प्रकार—‘अस्येन अस्ताद् वा मुक्तः’, ‘कुच्छ्रेण कृष्णं वा मुक्तः’  
‘कतिपयेन कतिपयाद् वा मुक्तः’ आदि प्रयोग होते हैं ।

द्रव्ये तिबति—यहाँ ‘स्तोक’ आदि शब्दों का द्रव्य के लिए प्रयोग कि-  
जाना है अर्थात् ये किसी द्रव्यवाची शब्द के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हो  
हैं यहाँ इनमें केवल तृतीया विभक्ति ही होती है, पञ्चमी नहीं, जैसे—‘स्तोके  
विषेण हतः’ ( घोड़े से विष से मारा गया ) यहाँ ‘स्तोक’ शब्द ‘विष’ का  
विशेषण है । ‘विष’ वैशेषिक की परिभाषा के अनुसार द्रव्य है ।

७५. दूरान्तिकेति—दूर तथा समीप ( अन्तिक ) अर्थ वाले शब्दों  
द्वितीया होती है और पञ्चमी तथा तृतीया विभक्ति भी । ये विभक्तियुक्त  
केवल प्रातिपदिकार्य में होती हैं इनका अन्य कोई अर्थ नहीं होता । ये  
नियम प्रथमा विभक्ति का अपवाद है ।

ग्रामस्य दूरम्, दूरात्, दूरेण वा ( ग्राम से दूर )—यहाँ उत्पुंस्व नियम  
के अनुसार ‘दूर’ शब्द से द्वितीया, पञ्चमी तथा तृतीया विभक्ति होती है

अमरवचनस्येत्यनुवृत्तेर्नह । ध्रुवः पन्थाः ॥ इति पञ्चमी ॥

७५ । पट्टी दोषे । २।३।५० । वारवप्रातिपदिकार्थ-  
व्यतिरिक्तः स्वरवामिभावादिसम्बन्धः दीपस्तत्र पट्टी स्यान्-  
राजः पुरुषः । नर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां पट्टीमेव,

इति प्रकाशः—‘वापराव, अलिबन्ध, अलिबन्ध, अलिबन्ध वा’ [‘वाप’ के निवृत्ति] के ली ।

अपरोक्षेण—‘प्रातिपदिकार्थे’ गुण [७४] के भी अमरवचननाथ [अमर-  
वाची] की अनुवृत्ति जाती है इसलिए जो दूर और अलिबन्ध अर्थ वाले अमर  
‘अमर’ के विशेषण नहीं उनमें ही ऊपर का निवृत्त जाना होता है तथा ‘पट्टी  
पन्थाः’ के ‘पट्टी’ अमर के अन्वय विवक्षित ही होती है। इसीका आदि नहीं ।  
इसी ‘पट्टी’ अमर ‘पन्थाः’ का विशेषण है और ‘पन्थाः’ अमरवाची अमर है ।  
इति पञ्चमी ॥

पट्टी विवक्षितः । ७५ पट्टी दोषे—‘जेव’ शब्द का अर्थ है—‘जो’ वा ‘जो’  
पुरुष है उसने कहा हुआ [‘ज’-‘पन्थाः’ अर्थ] । वरुण, वरुण, वरुण, लालकान,  
अमरनाथ तथा अलिबन्ध वारव और प्रातिपदिकार्थ का अन्वय पूर्व अष्टाध्यायी  
के अर्थों द्वारा का पुरुष है, अमर के अन्वय का पुरुष, जो एव [अमर] अमर  
एव का अर्थ है। तथा अमर का अर्थ का अन्वय है, वह दोष है । इस अन्वय  
को अमर अर्थ के निम्ने पट्टी विवक्षित का अन्वय होता है ।

निरुद्धी—पट्टी विवक्षित अन्वय अमर और अमरवाची के अमरवाचिक  
अमर को अमर अर्थ है और वह अमरवाचिक अमर के अमरवाचिक अर्थ का अन्वय  
अमर अर्थ अर्थ का पुरुष है ।

प्रातिपदिकार्थ (प्रातिपदिकार्थ) —इसी अर्थ का अर्थ है । अमरवाचिक अमर  
प्रातिपदिकार्थ अमरवाचिक अर्थ है, अमरवाचिक अर्थ है । यह अमरवाचिक अमरवाचिक  
विवक्षित के अमरवाचिक अर्थ का अमरवाचिक अर्थ है । अमरवाचिक अर्थ का अर्थ  
विवक्षित ही अमरवाचिक अर्थ है, अमरवाचिक अर्थ का अर्थ है ।

अमरवाचिक अर्थ, इति—अमरवाचिक अर्थ का अर्थ है अमरवाचिक अमरवाचिक  
को अमरवाचिक अर्थ है [अमरवाचिक अर्थ का अर्थ है] को अर्थ [अर्थ]

सतां गतम् । सर्पिषो जानीते । मातुः स्मरति । एवो दकस्  
योपस्कुस्ते । भजे शम्भोश्चरणयोः । फलानां तृप्तः ॥

७६ । पष्ठी हेतुप्रयोगे । २।३।२६।-हेतुशब्दप्रयोगे हेतोः  
द्योत्ये पष्ठी स्यात् । अन्नस्य हेतोर्वसति ।

पष्ठी विभक्ति ही होती है । जैसे - 'सतां गतम्'—यहाँ 'स' में क्त प्रत्यय है ।  
'सत्पुरुषों का गमन' यह अर्थ होता है अतः सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में कर्ता  
सत् शब्द से पष्ठी विभक्ति होकर 'सताम्' शब्द बनता है । इसी प्रकार—

सर्पिषो जानीते—इसका अर्थ है—“सर्पिषा उपायेन प्रवर्तते” अर्थात्  
'पूत के द्वारा प्रवृत्त होता है' । यहाँ 'सर्पिस्' (पूत) प्रवृत्ति का वरण है ।  
इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर पष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

मातुः स्मरति (माता को स्मरण करता है)।—यहाँ 'माता' स्मरण का  
कर्म है । कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर पष्ठी विभक्ति हो  
जाती है ।

एधोदकस्य उपस्कुस्ते (काष्ठ अथ को परिष्कृत करना है अथवा काष्ठ  
और जन को परिष्कृत करत. है) — एध " एण्ड अकारान्त पुं० है । अर्थात्  
'एधस्' सकारान्त नपुं० इसका अर्थ है काष्ठ । पहिले अर्थ में 'एधः' पृषक्  
शब्द है । यह कर्ता है । दक शब्द का अर्थ है—जल (उदक), यह कर्म है ।  
कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने से पष्ठी विभक्ति हो जाती है । दूसरे  
अर्थ में 'एधोदक' उदक के रूपा समाहार 'एधोदकम्' यहाँ एध शब्द अकारान्त  
है । 'एधोदक' समस्त पद नम है । इसमें सम्बन्ध की विवक्षा होने से पष्ठी  
विभक्ति होती है ।

भजे शम्भोश्चरणयोः (शम्भु के चरणों का भजन करना है) यहाँ 'चरण'  
कर्म है । इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने से पष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

फलानां तृप्तः (फलों से तृप्त हुआ)।—यहाँ 'फल' कर्म है । इसमें सम्बन्ध  
मात्र की विवक्षा होने से पष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

७६. पष्ठी हेतुप्रयोगे इति—यदि हेतु शब्द का प्रयोग हो तथा कारणना  
कट करनी हो तो (हेतु शब्द तथा कारणबोधक शब्द दोनों में) पष्ठी विभक्ति  
होती है । जैसे—

७७ । सर्वनाम्नस्तृतीया च । २।३।२७। सर्वनाम्नो हेतुशब्द-  
स्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात् पठ्यी च । केन हेतुना  
वसति । कस्य हेतोः । \* (वा) निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां  
प्रायदर्शनम् ॥ किं निमित्तं वसति । केन निमित्तेन । कस्मै  
निमित्तायेत्यादि । एवं किं कारणम्, को हेतुः, किं प्रयोजन-  
मित्यादि । प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः ।

अप्रत्य हेतोर्वसति (अप्र के लिये वसता है) — यहाँ रहने का प्रयोजन  
अप्र है । हेतु शब्द का प्रयोग भी किया गया है । इसलिये 'अप्र' शब्द तथा  
हेतु शब्द दोनों से पठ्यी विभक्ति हो जाती है ।

७७ सर्वनाम्नस्तृतीया चेति सर्वनाम के साथ हेतु शब्द का प्रयोग  
होने पर हेतु प्रकट करने के लिये (सर्वनाम और हेतु शब्द दोनों से) तृतीया  
तथा पठ्यी विभक्ति होती है ।

केन हेतुना वसति (किम लिये रहता है ?) — यहाँ हेतु शब्द का सर्वनाम  
के साथ प्रयोग किया गया है तथा हेतु प्रकट करता है, अतएव उपर्युक्त नियम  
से 'केन तथा हेतुना' दोनों से तृतीया विभक्ति होगी है । परन्तु ये पठ्यी विभक्ति  
होती है 'कस्य हेतोः' ।

निमित्तेति (वा) — निमित्त शब्द के पर्यायवाची (कारण, प्रयोजन  
आदि) शब्दों का प्रयोग होने पर प्रायः सभी विभक्तियाँ देखी जाती हैं ।  
अर्थात् —

किं निमित्तं वसति (किम लिये रहता है) — यहाँ प्रथमा या द्वितीया  
विभक्ति है ।

केन निमित्तेन (द्वितीया) कस्य निमित्तस्य कस्मिन् निमित्ते इत्यादि सभी प्रकार—  
वर्मासु निमित्तस्य, कस्य निमित्तस्य, कस्मिन् निमित्ते इत्यादि तथा निमित्त  
के पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग में 'किं कारणम्' इत्यादि होते हैं ।

प्रायग्रहणः इति — बर्तन से प्रायः शब्द का ग्रहण किया गया है ।  
इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ सर्वनाम का प्रयोग नहीं होता (सर्वनाम्नः)  
यहाँ प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति नहीं होगी, अन्य सब विभक्तियाँ  
होगी हैं । अर्थात् —



ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः । ज्ञानाय निमित्तायेत्यादि ॥

७८ । षष्ठ्यतस्यप्रत्ययेन । २।३।३० । एतद्योगे षष्ठी स्यात्  
'दिव्यशब्द-६४' इति पञ्चम्या अपवादः । ग्रामस्य दक्षिणतः  
पुरः पुरस्तान् । उपरि उपरिष्ठात् ।

ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः [ज्ञान के लिये हरि की सेवा कर  
बाहिए]—यहाँ 'ज्ञान' तथा 'निमित्त' दोनों शब्दों से उपसृक्त नियम  
अनुसार तृतीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'ज्ञानाय निमित्ताय' आदि  
चतुर्थी इत्यादि हो जाती है । किन्तु 'ज्ञान' शब्द सर्वनाम नहीं है अतः या  
प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति नहीं होती ।

७९ । षष्ठ्यतस्य, इति—अतस् (अतसुच्) प्रत्यय तथा उसके आ-  
गते प्रत्यय लगाकर बने हुए (दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात् इत्यादि) शब्दों  
योग में षष्ठी विभक्ति होती है ।

'अग्यारात् ० ६४' । २।३।२६ । सूत्र में दिक् शब्द का ग्रहण करने  
दक्षिणतः आदि के योग में पञ्चमी प्राप्त थी उसका यह सूत्र अपवाद  
अर्थात् उस पञ्चमी को भाषकर षष्ठी का विधान करता है ।

ग्रामस्य दक्षिणतः (ग्राम के दक्षिण ओर)—यहाँ दक्षिणतः में अतसुच्  
(दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्) २।३।२६ प्रत्यय है । यह प्रत्यय दिग्देशकानवाची  
शब्दों से स्वार्य में कहा गया है । उपसृक्त नियम के अनुसार दक्षिणतः के  
योग में 'ग्राम' शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है ।

इसी प्रकार—ग्रामस्य पुरः, यहाँ पुरः शब्द पूर्व शब्द 'असि' प्रत्यय  
होकर बना है । पूर्व को पुद् आदेश होकर पुर+अस्→पुरः हो जाता है ।  
पूर्वाधिराजराजमसि पुरधवर्चवाम् २।३।३६ । असि प्रत्यय भी अतसुच् अर्थ में  
ही है । पुरस्तात्→पूर्व+अस्तात् ० →पुद्+अस्तात्→पुरस्तात् । उपरि  
तथा उपरिष्ठात् दोनों शब्द अतस्य प्रत्यय के प्रकरण में ऊर्ध्व शब्द से

० दिव्यशब्दः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यां दिग्देशकानेष्वस्तात् २।३।२७

७६ । एनपा द्वितीया २।३।३१। एनबन्तेन योगे द्वितीया स्यात् । एनपेति योगविभागात्पठ्यपि । दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा । एवमुत्तरेण ।

८० । दूरान्तिकार्थः पठ्यन्यतरस्याम् २।३।३४। एतयोर्गे पठ्ठी स्यात्पञ्चमी च । दूरं निकटं ग्रामस्य ग्रामाद्वा ॥

८१ । शोऽविदर्थस्य करणे २।३।५१। जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विवक्षिते पठ्ठी स्यात् । सर्पिपो ज्ञानम् ॥

[रिल् तथा रिष्टाति प्रत्यय और ऊँव को 'उप' आदेश] निपातन द्वारा बनाये गये हैं । इनके योग में पठ्ठी विभक्ति होती है—“ग्रामस्य उपरि”, “ग्रामस्य उपरिष्टात्” इत्यादि ।

७६. एनपेति—एनप् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है । यहाँ 'एनपा' इत्यादि सूत्र भक्षण मानकर उसमें पठ्यन्यतरस्याम् २।३।३० से पठ्ठी की अनुवृत्ति लाते हैं इस प्रकार 'एनप्' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में पठ्ठी विभक्ति भी होती है ।

दक्षिणेन ग्रामे ग्रामस्य वा [ग्राम के दक्षिण]—दक्षिणेन शब्द दक्षिण शब्द से एनप् प्रत्यय [एनबन्तेनस्यामदूरेऽप्युच्यते] ५।१। ५१ होकर बना है । इसके योग में उपसृक्त नियम के अनुसार 'ग्राम' वा 'ग्रामस्य' में द्वितीया वा पठ्ठी विभक्ति होती है ।

८०. दूरान्तिकार्थेति—दूर और समीप [अन्तिक] अर्थ वाले शब्दों के योग में पठ्ठी तथा पञ्चमी विभक्ति होती है । जैसे—दूरं निकटं ग्रामस्य, ग्रामाद् वा [ग्राम से दूर या समीप] ।

८१. शोऽविदर्थस्येति—अविदर्थस्य का अर्थ है—ज्ञान से भिन्न अर्थ वाली । ज्ञान ॥ भिन्न अर्थ वाली जानाति [ज्ञा] के करण में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर पठ्ठी विभक्ति होती है ।

सर्पिपो ज्ञानम्—इसका अर्थ है—घृत सम्बन्धी [घृत द्वारा होने वाली] प्रवृत्ति । यहाँ ज्ञा धातु ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति अर्थ में है । 'सर्पिप्' [घृत]

ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः । ज्ञानाय निमित्तायेत्यादि ।।

७८ । षष्ठ्यतत्सर्वप्रत्ययेन । २।३।३० । एतद्योगे षष्ठी स्यात् ।  
'दिवशब्द-६४' इति पञ्चम्या अपवादः । ग्रामस्य दक्षिणतः ।  
पुरः पुरस्तात् । उपरि उपरिष्ठात् ।

ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः [ज्ञान के लिये हरि की सेवा करती बाहिए]—यहाँ 'ज्ञान' तथा 'निमित्त' दोनों शब्दों से उपसुबन्ध नियम के अनुसार द्वितीया विभक्ति दोनों है । इसी प्रकार 'ज्ञानाय निमित्ताय' आदि में चतुर्थी इत्यादि हो जाती है । किन्तु 'ज्ञान' शब्द सर्वनाम नहीं है अतः यहाँ प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति नहीं होती ।

७८. षष्ठ्यतत्सर्व, इति—अनम् (अनसुब) प्रत्यय तथा उसके अर्थ वाले प्रत्यय लगाकर बने हुए (दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात् इत्यादि) शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति होती है ।

'अग्यारात् ० ६४' । २।३।२१ । सूत्र में दिक् शब्द का ग्रहण करने से दक्षिणतः आदि के योग में पञ्चमी प्राप्त थी उसका यह सूत्र अपवाद, अर्थात् उस पञ्चमी को बाधकर षष्ठी का विधान कराया है ।

ग्रामस्य दक्षिणतः (ग्राम के दक्षिण ओर)—यहाँ दक्षिणतः में अनसुब (दक्षिणोत्तराभ्यामतसुब) २।३।२०। प्रत्यय है । यह प्रत्यय दिग्देशकालापी शब्दों से स्वार्थ से कहा गया है । उपसुबन्ध नियम के अनुसार दक्षिणतः के योग में 'ग्राम' शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है ।

इसी प्रकार—ग्रामस्य पुरः, यहाँ पुरः शब्द पूर्व शब्द से 'अनि' प्रत्यय होकर बना है । पूर्व की पुर आदिज होकर पुर + अनम् → पुरः हो जाता है । पूर्वोत्तराभ्यामतसुब पुरधत्त्वर्थनाम् २।३।२१। अनि प्रत्यय भी अनसुब अर्थ में ही है । पुरस्तात् → पूर्व + अस्तात् ० → पुर + अस्तात् → पुरस्तात् । उपरि तथा उपरिष्ठात् दोनों शब्द अनसुब प्रत्यय के प्रकरण में उर्ध्व शब्द से

७६ । एनया द्वितीया २।३।३१। एनबन्तेन योगे द्वितीया स्यात् । एनपेति योगविभागात्पठ्यपि । दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा । एवमुत्तरेण ।

८० । दूरान्तिकार्यैः पठ्यन्यतरस्याम् । २।३।३४। एतैर्योगे पठ्ठी स्यात्पञ्चमी च । दूरं निकटं ग्रामस्य ग्रामाद्वा ॥

८१ । ज्ञोऽविदर्थस्य करणे । २।३।५१। जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन चिवक्षिते पठ्ठी स्यात् । सर्पिषो ज्ञानम् ॥

[रिप् तथा रिष्टानि प्रत्यय और ऊर्ध्व को 'उप' आदेश] निपातन द्वारा बनाये गये हैं । इनके योग में पठ्ठी विभक्ति होती है—“ग्रामस्य उत्तरि”, “ग्रामस्य उपरिष्टात्” इत्यादि ।

७६. एनपेति—एनप् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है । यहाँ 'एनया' इत्यादि शब्द अलग मानकर उसमें पठ्ठागम्य ० २।३।३०। से पठ्ठी की अनुवृत्ति माने है इन प्रकार 'एनप्' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में पठ्ठी विभक्ति भी होती है ।

८१योगेन ग्रामं ग्रामस्य वा [ग्राम के दक्षिण]—दक्षिणेन शब्द दक्षिण भाग से एनप् प्रत्यय [एनबन्तेनस्यामदूरेऽपञ्चम्या] २।३। ३१। होकर बना है । इसके योग में उत्पुंवत् नियम के अनुसार 'ग्राम' वा 'ग्रामस्य' में द्वितीया वा पठ्ठी विभक्ति होती है ।

८०. दूरान्तिकार्यैरिति—दूर और सर्पाव [अन्ति] अर्थ वाले शब्दों के योग में पठ्ठी तथा पञ्चमी विभक्ति होती है । जैसे—दूरं निकटं ग्रामस्य, ग्रामाद् वा [ग्राम से दूर वा सर्पाव] ।

८१. ज्ञोऽविदर्थस्येति—अविदर्थस्य वा अर्थ है—ज्ञान से विप्र अर्थ वाली । ज्ञान ॥ विप्र अर्थ वाली जानानि [ज्ञा] के करण में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर बायीं विभक्ति होती है ।

सर्पिषो ज्ञानम्—इसका अर्थ है—पुत्र सम्बन्धी [पुत्र द्वारा होने वाली] प्रवृत्ति । यहाँ ज्ञा धातु ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति अर्थ में है । 'परिम्' [पुत्र]

॥ उपपुंवपरिष्टात् २।३।३१॥

८२ । अधीगर्धदयेशां कर्मणि । २।३।५२। एषां कर्मणि शेषे पष्ठी स्यात् । मातुः स्मरणम् । सर्पिषो दयनम् ईशनं वा ।

८३ । कृजः प्रतियत्ने । २।३।५३। कृजः कर्मणि शेषे पष्ठी स्याद् गुणाधाने । एघोदकस्योपस्करणम् ॥

८४ । वजार्थानां भाववचनानामज्वरः । २।२।५४। भावकर्तृ-

करण है । इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में पष्ठी विभक्ति होती है ।

टिप्पणी—शोऽविश्वस्य करणे २।३।५१। से लेकर अवहृपगोः समर्थयोः २।३।२७। तक के सूत्रों में तथा कृत्वोऽर्थप्रयोगे २।३।६५। इस सूत्र में 'शेषे' की अनुवृत्ति आती है अतः 'पष्ठीशेषे' सूत्र से ही इसके विषय में पष्ठी विभक्ति निश्चिन्त है । इन सूत्रों से फिर पष्ठी का विधान इसलिये किया गया है कि "सर्पिषो ज्ञानम्" आदि में पष्ठी समाप्त न हो, जैसा कि कहा है—  
"प्रतिपदविधाना पष्ठी न समस्यते" ।

८२. अधीगर्ध इति—[अधि पूर्वक इ धातु (इत् स्मरणे)—अधीक, अधीगर्ध का अर्थ है—स्मरणार्थक] । स्मरणार्थक धातुएं तथा दत् (दान-पतिराशेष्ये, ईश [ऐश्वर्ये] इनके कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर पष्ठी विभक्ति होती है ।

मातुः स्मरणम् [माता को याद करना], सर्पिषो दयनम् [धुन का दान देना], सर्पिषो ईशनं [धुन का यथेष्ट प्रयोग] इनमें 'मातुः' तथा सर्पिषः में पष्ठी विभक्ति हो जाती है तथा यहाँ पष्ठी समाप्त नहीं होता [देखिये ऊपर टिप्पणी] ।

८३. कृजः प्रतियत्न इति—[प्रतियत्न का अर्थ है—गुणाधान अर्थात् किसी वस्तु में अन्य गुणों की स्थापना करना, जैसे—जल में उष्णता पैदा करना] । कृज् धातु के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर गुणाधान अर्थ में पष्ठी विभक्ति होती है । जैसे—  
"एघोदकस्य उपस्करणम्" [देखिये ऊपर पष्ठी शेष की व्याख्या] ।

८४. वजार्थानाम् इति—ज्वर धातु को छोड़ कर अन्य रोगार्थक

काणां ज्वरिर्वजितानां रुजायीनां कर्मणि शेपे पठ्ठी स्यात् ।  
चौरस्य रोगस्य रुजा ॥ \* (वा) अज्वरिसन्ताप्योरिति  
याच्यम् ॥ रोगस्य चौरज्वरः चौरसन्तापो वा । रोगकृतं  
चौरसम्बन्धि ज्वरादिकमित्यर्थः ॥

८५ । आशिषि नायः २।३।५५। आशीरर्थस्य नाथतेः शेपे  
कर्मणि पठ्ठी स्यात् । सपिपो नायनम् । आशिपीति किम् ?  
माणवकनायनम् । तत्सम्बन्धिनो याच्येत्यर्थः ॥

धातुओं के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर पठ्ठी विभक्ति होती है  
जबकि उनका कर्ता भाववाचक शब्द हो ।

चौरस्य रोगस्य रुजा (रोग द्वारा की हुई चौर की पीड़ा)—यहाँ प्राववा-  
चक 'रोग' शब्द रुजा अर्थात् पीड़ा का कर्ता है, चौर पीड़ा का कर्म है । उससे  
सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में पठ्ठी विभक्ति हो जाती है ।

अज्वरि-इति (वा)—सूत्र में 'अज्वरेः' के स्थान पर "अज्वरिसन्ताप्योः"  
यह कहना चाहिये अर्थात् ज्वर और सन्ताप धातु को छानकर । इसलिये—  
'रोगस्य चौरज्वरः' अथवा 'चौरसन्तापः' यहाँ चौरस्य ज्वरः (चौरज्वरः) में  
इस नियम से पठ्ठी नहीं हुई, अपितु 'पठ्ठी शेपे' से पठ्ठी विभक्ति हुई तथा  
'चौरज्वरः' में पठ्ठी समाप्त हो गया । इस सूत्र से पठ्ठी होने पर तो समाप्त  
न होता । (देखिये पृष्ठ ७२, टिप्पणी) । यहाँ भी अर्थ उसी प्रकार होता  
है—'रोग द्वारा किया हुआ चौर सम्बन्धी ज्वर आदि' ।

८५. आशिषीति—आशीः आर्षं वाली नाथ धातु के कर्म में सम्बन्ध  
मात्र की विवक्षा होने पर पठ्ठी विभक्ति होती है । 'आशीः' का अर्थ  
अभिलाषा ।

सपिपो नायनम् (कर्मरूप धृत् सम्बन्धी अभिलाषा)—यहाँ 'शेपे  
धृत् होने' यह अच्छा है । 'सपिप्' नाथ धातु का कर्म है । इसमें सम्बन्ध मात्र  
की विवक्षा में पठ्ठी विभक्ति होती है । यहाँ भी समाप्त नहीं होता ।

आशिषि किमिति—सूत्र में 'आशिषि' शब्द का क्या प्रयोजन है ?  
- यह कि अब नाथ धातु "आशीः" अर्थ में होती है तभी उपर्युक्त नियम से पठ्ठी

८६ । जासिनिप्रहणनाटक्रायपिपां हिंसायाम् २।३।५६।  
 हिंसापिनामेपां रोषे कर्माण्ये पष्ठो स्यात् । चौरस्योज्जासनम् ।  
 निप्रो संहतो विपर्यस्तो व्यस्तो वा । चौरस्य निप्रहणनम् ।  
 प्रणिहननम् । निहननम् । प्रहणनं वा । नट भवस्कन्दने  
 चुरादिः । चौरस्योन्मादनम् । चौरस्य क्रायनम् । वृषलस्य  
 पेपणम् । हिंसायां किम् ? घानापेपणम् ॥

होती है, अग्न्या नहीं । जैसे — मानवकनायकम् यहाँ पर वह बप्टी नहीं होती ।  
 इसका अर्थ है — मानवक सम्बन्धी याचना । यहाँ मानवक से कम में सम्बन्ध  
 मान की विवक्षा में (पच्छी रोषे) पच्छी विमर्शित होती है और बप्टी समाप्त  
 हो ही जाता है ।

८६. जासोति—हिंसायं जासि (निग्रन्त 'जगु सावने' तथा 'जगु  
 हिंसायाम्') नि तथा प्र पूर्वक हन्, नाट् (निग्रन्त नाट्) क्राय (निग्रन्त क्राय)  
 निम् इत घानुओं के बर्ण में सम्बन्ध मान की विवक्षा होने पर बप्टी विमर्शित  
 होती है ।

चौरस्य उन्मादनम् (चौर सम्बन्धी हिंसा)—यहाँ चौर उन्मादन  
 का बर्ण है । इसमें सम्बन्धमान की विवक्षा होने पर उपसर्ग नियमानुसार  
 बप्टी विमर्शित होती है ।

निप्रो, हानि - नि और प्र उन्मर्ग इनी कम से मिले हुए (निप्र)  
 विपरीत कम में मिले हुए (विपरीत) — प्रनि इति) तथा वृषल-२ का में  
 (व्यस्ती) मिले जाते हैं; अतएव 'चौरस्य निप्रहणनम्', 'चौरस्य प्रणिहननम्',  
 'चौरस्य निहननम्', 'चौरस्य प्रहणनम्' सर्वत्र बप्टी विमर्शित होती है ।

चौरस्य उन्मादनम्—यहाँ "नट भवस्कन्दने" चुरादिभ्यः की वानु  
 भी जाती है । भवस्कन्दन का अर्थ नाट्य है किन्तु उपसर्ग लगने से इसका  
 अर्थ हिंस्र हो जाता है । इसी प्रकार चौरस्य क्रायनम्, वृषलस्य पेपणम्  
 में भी बप्टी होती है ।

हिंसायां किमिति - हिंसा अर्थ में ही वह बप्टी होती है ऐसा बर्ण

८७ । व्यवहृपणोः समर्थयोः । २।३।५७। शेवे कर्मणि पठ्ठी स्यात् । द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे चानयोस्तुल्यार्थता । शतस्य व्यवहरणं पणनं वा । समर्थयोः किम् ? शलाकाव्यवहारः । गणनेत्यर्थः ब्राह्मणपणनं स्तुतिरित्यर्थः ।

८८ । विवस्तदर्भस्य । २।४।५८। द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्य-

कहा ? इसलिये कि—

‘घानापेपणम्’ (घानानां पेपणम्) यहाँ कृदन्त के योग में ही (कृत्कर्मणोः कृति ६२ अथवा पठ्ठी रोपे ७५ से) पठ्ठी होती है तथा यहाँ पठ्ठी समास हो जाता है । आसि० ८६, इत्यादि मूल से जहं पठ्ठी होती है वहाँ पठ्ठी समास नहीं होता यह कहा जा चुका है (देखिये ऊपर टिप्पणी) ।

८७. व्यवहृ इति—समान अर्थ वाली वि + अव पूर्वक हृ (हरणे) तथा पण व्यवहारे द्युतयो र्भे) धातु के कर्म में सम्बन्ध प्राप्त की विवक्षा होने पर पठ्ठी विभक्ति होती है ।

द्यूत इति—जुमा खेलना और जब बिक्रय करना इन दो अर्थों में व्यवहृ तथा पण धातु समान अर्थ वाली है ।

शतस्य व्यवहरणं पणनं वा [ती का क्रय विक्रय वा जुमा]—यहाँ ‘शतस्य व्यवहरणं’ इस अर्थ में ‘जत’ कर्म है इसमें सम्बन्ध प्राप्त की विवक्षा होने पर पठ्ठी विभक्ति होती है ।

समर्थयोः विभक्ति—मूल में समान अर्थ वाली [समर्थयोः] क्यों कहा ? इसलिये कि द्यूत तथा क्रय विक्रय व्यवहार से भिन्न अर्थ में इन धातुओं के कर्म में, इस नियम से, पठ्ठी नहीं होगी । जैसे—शलाकाव्यवहारः यहाँ ‘व्यवहार’ का अर्थ घनना है । यहाँ ‘पठ्ठी रोपे’ से पठ्ठी विभक्ति होकर पठ्ठी समास हो जाता है । इसी प्रकार ‘ब्राह्मणपणनम्’ अर्थात् ‘ब्राह्मण की स्तुति’ यहाँ भी ।

८८. विव ईर—[तदर्थस्य] अर्थात् द्यूत और क्रयविक्रय व्यवहार अर्थ में विद् धातु के कर्म में पठ्ठी विभक्ति होती है ।



वहारायंस्य दिवः कर्मणि पठ्ठी स्यात् । शतस्य दीव्यति ।  
तदयंस्य किम् ? ब्राह्मणं दीव्यति । स्तोतोत्यर्थः ॥

८६ । विभाषोपसर्गे । २।४।५६। पूर्वयोगापवादः । शतस्य  
शतं वा प्रतिदीव्यति ॥

४ ६० । प्रेक्ष्यब्रूयोर्हविषो देवतासंप्रदाने । २।३।६१। देवता-  
संप्रदानेऽर्थे वर्तमानयोः प्रेक्ष्यब्रूवोः कर्मणोः हविर्विशेषस्य वाच-  
काच्छब्दात्पठ्ठी स्यात् । अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः  
प्रेक्ष्य अनुब्रूहि वा ॥

शतस्य दीव्यति [सो को शब्द पर या व्यवहार में सगाता है]—यहाँ  
'शत' दीव्यति का कर्म है । इसमें उपयुक्त नियम से पठ्ठी विभक्ति हो  
जाती है ।

टिप्पणी—इस सूत्र में 'शेषे' की अनुवृत्ति नहीं आती, अतः यह पठ्ठी-  
विधान भास की निवृत्ति के लिये नहीं है, इसी से 'दीव्यति' यह तिङन्त का  
प्रयोग दिया है, पहले सूत्रों के समान कृदन्त का नहीं ।

तदर्थस्य किम् इति—घात तथा कर्तृविक्रय व्यवहार इन अर्थों में प्रयुक्त  
'दिक्' धातु के कर्म में पठ्ठी होती है जहाँ इन दोनों अर्थों से भिन्न अर्थ में  
'दिक्' धातु का प्रयोग होता है वहाँ कर्म में पठ्ठी नहीं होती, अतएव 'ब्राह्मणं  
दीव्यति' में कर्म में द्वितीया ही होती है । यहाँ दीव्यति का अर्थ है—स्तुति  
करता है ।

८६. विभाषेति—उपसर्ग पूर्वक दिव धातु के कर्म में विकल्पा से पठ्ठी  
विभक्ति होती है । यह पहिले नियम का अपवाद है । जैसे—शतस्य शतं वा  
प्रतिदीव्यति—यहाँ पठ्ठी तथा द्वितीया विभक्ति विकल्प से होती है ।

६० प्रेक्ष्यब्रूयोरिति—[देवतासम्प्रदाने शब्द का अर्थ है—'देवता सम्प्रदानं  
यस्य तस्मिन्' अर्थात् जहाँ देवता को उद्देश्य करके कुछ दिया जाता है ।  
प्रेक्ष्य शब्द प्र पूर्वक इप् धातु (दिवादि) का लोट् लकार मध्यम पुरुष का  
एकवचन है । इसके साहचर्य से 'ब्रूय' धातु का भी लोट् मध्यमपुरुष का एक  
वचन ही लिया जाता है]—देवतासम्प्रदान अर्थ में विद्यमान प्रेक्ष्य तथा ब्रू-  
यहि) के कर्म हविः वाचक शब्द से पठ्ठी विभक्ति होती है ।

- ६१ । कृत्योयंप्रयोगे कालेऽधिकरणे २।३।६४। कृत्योर्धानां प्रयोगे कालवाचिन्यधिकरणे शेषे पठ्ठी स्यात् । पञ्चकृत्योः ह्यो भोजनम् । द्विरह्यो भोजनम् । शेषे किम् ? द्विरहन्यव्ययनम् ॥
- ६२ । कर्तृकर्मणोः कृति २।३।६५। कृत्योमे कर्तारि कर्मणि च पठ्ठी स्यात् । कृष्णस्य कृतिः । जगतः कर्ता कृष्णः ॥

जानये छागस्य हविषो वषाया मेहतः प्रेष्य अमुब्रूहि वा — यहाँ हविः विशेषवाचक वषा तथा मेदसु शब्द से पठ्ठी विभक्ति होती है और हविस् शब्द में भी ।

६१. कृत्योऽप्येति — कृत्य अर्थ वाले प्रत्ययों के प्रयोग में कालवाचक अधिकरण में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर पठ्ठी विभक्ति होती है ।

क्रिया की भावति को प्रकट करने के लिए सख्या से कृत्यमुच् [कृत्य] प्रत्यय होता है — 'संख्याया, क्रियाम्भावातिगणने कृत्यमुच्' ॥२।४।१॥

पञ्चकृत्योऽह्यो भोजनम् [दिन में पाच बार भोजन] — यहाँ कालवाचक 'अहन्' शब्द वास्तव में अधिकरण है । उपर्युक्त नियम से कृत्यप्रत्ययान्त 'पञ्चकृत्यः' शब्द के योग में 'अहन्' शब्द से पठ्ठी विभक्ति [अहः] होगई है ।

द्विरह्यो भोजनम् [दिन में दो बार भोजन] — यहाँ द्वि शब्द से कृत्यमुच् प्रत्यय के अर्थ में मुच् प्रत्यय हुआ है । इसके योग में 'अहन्' शब्द से पठ्ठी विभक्ति होती है ।

शेषे किम् इति — सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में ही पठ्ठी विभक्ति होती है अतएव 'द्विः अहनि अध्ययनम्' यहाँ अहनि में सप्तमी विभक्ति हुई क्योंकि यहाँ अधिकरण की विवक्षा है ।

६२. कर्तृकर्मणोः कृति कृत्य के योग में कर्ता तथा कर्म में पठ्ठी विभक्ति होती है ।

कृष्णस्य कृतिः [कृष्ण का काम] — यहाँ पर 'कृति' शब्द कृदन्त है । यह कृ धातु से कित् प्रत्यय जोड़ने से बना है । इसका कर्ता कृष्ण है ।

१. द्वित्रिचतुर्भ्यः मुच् २।४।१८।

ॐ (वा) गुणरुमंणि येन्यते ॥ नेत्राजस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं  
 या । कृति किम् ? तद्वित्ते मा भून् । कृतपूर्वी कटम् ॥  
 ६३ । उभयप्राप्ती कर्मणि ॥ २॥ ३॥ ६६ । उभयोः प्राप्त्यर्थस्मिन्

अनः कृत्वा शब्द [कृति] के योग में कता 'कृत्वा' शब्द से पष्ठी विभक्ति  
 होती है ।

अनः कर्ता कृत्वा [अनन् का कर्ता कृत्वा]—यहाँ पर कर्ता शब्द  
 कृत्वा है । यह 'कृ' धातु में लृप् प्रत्यय होकर बना है । इसका कर्म 'अनन्'  
 है । उपसृक्त नियम के अनुसार अनन् शब्द से कृतप्रत्ययान्त [कृत्] के योग में  
 पष्ठी विभक्ति होती है ।

गुणरुमंणीति [वा]—कृतप्रत्ययान्त द्विर्मक धातु के योग में योग  
 कर्म में विभक्ति से पष्ठी विभक्ति होगी है । मुख्य कर्म में नित्य पष्ठी होती  
 है; जैसे—

नेता अस्वत्थ स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा [स्रुघ्न नामक स्थान को छोड़ा से  
 जाने वाला]—नो धातु द्विर्मक है । इसका मुख्य कर्म 'अश्व' है और गीण  
 कर्म ['अश्विन' च' के अनुसार] स्रुघ्न है । उपसृक्त बातिर के अनुसार  
 स्रुघ्न शब्द से विभक्ति से पष्ठी विभक्ति हो जाती है पक्ष में द्वितीया ही  
 होती है—स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा ।

कृति किम् इति—सूत्र में 'कृति' शब्द का ग्रहण क्यों किया ? इसलिए  
 कि कृदन्त के प्रयोग में ही कर्ता और कर्म में पष्ठी हो तद्विताम्ब के प्रयोग में  
 नहीं । इसका फल यह होता है कि "कृतपूर्वी कटम्" यहाँ कट शब्द से पष्ठी  
 विभक्ति नहीं होती । 'पूर्व कृतमने' इस अर्थ में 'कृत + पूर्व' शब्द से तद्वित  
 इति [पूर्वादिनिः ५।२।२६ स्रुवाच्च ५।२।२७] प्रत्यय होकर कृतपूर्वी शब्द  
 बनता है । फिर कर्म की अपेक्षा होने पर 'कट' शब्द का कर्म रूप में अन्त्य  
 होता है । 'कट' शब्द कृदन्त 'कृत' शब्द का कर्म है अतः पष्ठी प्राप्त होती है  
 किन्तु 'कृति' ग्रहण से तद्विताम्ब भी अधिक हो जाने पर पष्ठी विभक्ति  
 नहीं हो पाती ।

३. उभयेति—जहाँ कृदन्त के योग में कर्ता और कर्म दोनों में पष्ठी—  
 है वहाँ कर्म में ही पष्ठी होती है कर्ता में नहीं ।

कृति तत्र कर्मण्येव पृथगी स्यात् । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन ॥  
 (वा) स्त्रीप्रत्यययोरकाकारयोर्नायं नियमः ॥ मेदिका वि-  
 मिता वा यद्रस्य जगतः ॥ (वा) शेषे विभाषा ॥ स्त्रीप्रत्यय  
 इत्येके । विचित्रा जगतः कृतिहरेर्हरिणा वा । केचिदविशेषेण  
 विभाषामिच्छन्ति । शब्दानामनुशासनमाचार्येणाचार्यस्य वा ॥

आश्चर्यो यवां दोहोऽगोपेन (गोपाल से मिला व्यक्ति के द्वारा गोदोहन  
 आश्चर्य की बात है) — यहाँ 'दोहः' कृत् है (दुह + कृ) इसके योग में  
 अगोर कर्ता में तथा 'गो' कर्म में पठो प्राप्ता है । उद्युक्ता नियम से कर्म में  
 ही पठो होती है कर्ता (अगोपेन) में नहीं ।

स्त्रीप्रत्ययोरिति (वा) — स्त्रीलिङ्ग में होने वाले कृत् प्रत्यय 'अक'  
 (शुभ् आदि) तथा 'अ' में यह नियम (उभयप्राप्ती कर्मणि) नहीं लगता  
 क्योंकि यहाँ कर्ता में भी पठो विभक्ति हो जाती है और साथ ही कर्म में भी ।

मेदिका विमिता वा यद्रस्य जगतः — 'यहाँ मेदिका' शब्द मित्  
 धातु से शुभ् प्रत्यय होकर (शुभ् → यु = अक) तथा स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय  
 होकर बना है । विमिता यद्यस्त मित् धातु (वि + मित् + क्त) से 'अ'  
 प्रत्यय + टाप् प्रत्यय होकर बना है । इन दोनों के योग में उद्युक्ता बाटिक  
 के अनुसार कर्ता (यद्रस्य) तथा कर्म (जगतः) दोनों में ही पठो विभक्ति हो  
 जाती है ।

शेषे विभाषेति (वा) — 'अक' अ प्रत्यय से मिला स्त्रीलिङ्ग कृत् प्रत्ययों  
 के प्रयोग में कर्म में मात्र पठो तथा कर्ता में विभक्ति से पठो विभक्ति  
 होगी है ऐसा कुछ भाषाओं का मत है, जैसे विचित्रा जगतः कृतिहरेः  
 (हरिण वा) यहाँ हरि कर्ता है । हमारे कर्ता में विभक्ति से पठो विभक्ति  
 होती है तथा वक्ष में सुनीया होती है ।

केचिद् इति — कुछ भाषाओं का मत है कि 'शेषे विभाषा' वह विभक्ति  
 अक, अ से मिला स्त्री प्रत्ययों के प्रयोग में ही नहीं होता बल्कि सामान्य रूप  
 से (अविशेषेण) सभी प्रत्ययों के प्रयोग में होता है, अतएव

१. आश्चर्यनिर्देशे शुभ् अकृतः (पा० २२१९)

२. अ प्रत्ययात् २११ २००

६४ । क्तस्य च वर्तमाने २।३।६७। वर्तमानार्थस्य क्तस्य योगे पष्ठी स्यात् । न लोक्-२।३।६६। इति निषेधास्यापवादः । राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा ॥

६५ । अधिकरणवाचिनश्च २।३।६८। क्तस्य योगे पष्ठी स्यात् । इदमेवामासितं शयितं गतं भुक्तं वा ॥

‘शब्दानामनुशासनमाचार्येण आचार्यस्य वा’ यहाँ अनुशासन (ल्युट् प्रत्यय, नपुं०) के योग में भी आचार्य शब्द से निरूपण से पष्ठी विभक्ति हो जाती है । ‘अनुशासन’ शब्द नपुंसक लिङ्ग है ।

६४. क्तस्य चेति—वर्तमान अर्थ में कहे हुए ‘क्त’ प्रत्यय के योग में पष्ठी विभक्ति होती है ।

मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च ३।२।१-८॥ से वर्तमान अर्थ में ‘क्त’ प्रत्यय कहा गया है, उसी का यहाँ ग्रहण है । ‘न लोक्-इति २।३।६६। मूल (६६) में क्त (निष्ठा) प्रत्यय के योग में पष्ठी का निषेध किया जायेगा । उसका यह अपवाद है ।

राज्ञां मनो बुद्धः पूजितो वा (राजाओं द्वारा माना जाता है, जाना जाता है और पूजा जाता है)—यहाँ मनः (मन् + क्त) बुद्धः (बुध् + क्त) और पूजित ( ज् + क्त) तीनों शब्द वर्तमान में क्त प्रत्यय होकर बने हैं । इनके योग में उपमुंक्त नियम से ‘राज्ञाम्’ में पष्ठी में विभक्ति होती है ।

६५. अधिकरणेति—अधिकरणवाची क्त प्रत्यय के योग में पष्ठी व क्त होता है ।

‘क्तोऽधिकरणे व द्योव्यतिप्रत्ययमानार्थेभ्यः’ ३।४।७६। इस मूल से अधिकरण में क्त प्रत्यय का विधान किया गया है, उसी का यहाँ ग्रहण है । यह भी ‘न लोक्’ इन निषेध का अपवाद है ।

इदमेवामासितं शयितं गतं भुक्तं वा—यहाँ ‘आसित’ इत्यादि में क्त प्रत्यय अधिकरण में हुआ है प्रापयस्ते अस्मिन् इति आसितम्, वेने अस्मिन् इति शयितम् । इनके योग में ‘एवाम्’ में पष्ठी विभक्ति होती है । यह कर्ता में पष्ठी है ।

६६ । न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्गतृणाम् । २।३।६६। एषां प्रयोगे पठ्ठी न स्यात् । लादेशः—कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टि हरिः । उः—हरि दिदृक्षुः । अलंकरिष्युर्वा । उरु—दैत्यान् घातुको हरिः ॥ \* कमेरनिषेधः

६६. न लोकेति—स + उ + उक् यह पदच्छेद है । स (स के आदेश शतृ, शानच् आदि), उ, उक् कृदन्त अव्यय (करवा आदि), निष्ठा [स, सृष्टृ], खल प्रत्यय के अर्थ वाले प्रात्यय तथा तृण—इनके प्रयोग में पठ्ठी विभक्ति नहीं होती । [यह नियम 'कर्तृकर्मणोः कृति' से प्राप्त पठ्ठी का निषेध करता है] ।

कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टि हरिः [सृष्टि करता हुआ हरि]—यहाँ कुर्वन् शब्द शतृ प्रत्ययान्त है [कृ + शतृ → कुर्वन्] । तथा कुर्वाणः शानच् प्रत्ययान्त है [कृ + शानच् → कुर्वाण] । शतृ और शानच् सट् लकार [स] के आदेश हैं । ये कृतसंज्ञक भी हैं । इनके योग में 'कर्तृकर्मणोः कृति' ६२ से पठ्ठी विभक्ति प्राप्त होती है । उपर्युक्त नियम से पठ्ठी का निषेध हो जाता है और कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ।

हरि दिदृक्षुः [हरि के दर्शन का इच्छुक]—यहाँ दिदृक्षु सप्रत्यय शतृ घातु से 'उ' प्रत्यय होकर बना है । [दि + श् + स + उ], इसके योग में हरि में पठ्ठी विभक्ति नहीं होती अपितु द्वितीया ही होती है ।

हरिम् अलंकरिष्युः—यहाँ अर्थ पूर्वक कृष् घातु से इच्छुच् प्रत्यय [३।२।३६] हुआ है [अल + कृ + इच्छु] । सूत्र में 'उ' से उकारान्त कृदन्त लिया जाता है इसलिये यहाँ भी पठ्ठी विभक्ति का निषेध होता है ।

दैत्यान् घातुको हरिः [दैत्यों के घातक हरि]—'घातुक' शब्द 'हृ' घातु से 'उक्' प्रत्यय होकर बना है । यह कृतसंज्ञक है । इसके योग में पठ्ठी प्राप्त थी । इस नियम से पठ्ठी का निषेध हो जाता है और कर्म में द्वितीया होती है ।

कमेरिति [का]—'उक्' प्रत्ययान्त 'कम' घातु के योग में पठ्ठी का निषेध नहीं होता अतएव 'लक्ष्म्याः कामुको हरिः' यहाँ 'कामुक' [कृन्त] के

१. सरः शतृशानच्चावप्रत्ययान्तमानाधिकरणे ३।२।१२४।

२. सप्तम्यधिक्य उः ३।२।१६ =

३. नान्तपदस्थानुव्ययनकमगमण्य उक् ३।२।१५४।

लक्ष्म्याः कामुको हरिः । अव्ययम्—जगत् सृष्ट्वा । मुद्यं  
 कर्तुम् । निष्ठा—विष्णुना हता दैत्याः । दैत्यान् हतवान्  
 विष्णुः । स्वलयः—ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा । तृप्तिरिति प्रत्या  
 हारः शनूनामवावृत्तिरिति तु गच्छादारभ्यानुनो नकारात् ।

योग में लक्ष्मी का यह से पत्नी विभक्ति हो जाती है ।

जगत्सृष्ट्वा [जगत् को रचकर] यहाँ सृष्ट्वा शब्द - धृक् धातु से लक्ष्मी  
 प्रत्यय होकर बना है और यहाँ प्रागल्भ्य<sup>१</sup> अभाव होने है न लीलाव्यय भूष  
 १६ में अभाव लक्ष्मी के योग में पत्नी विभक्ति का विशेष दिया गया है, अतएव  
 यहाँ पत्नी विभक्ति न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है । यही प्रकार  
 'मुद्यं कर्तुम्' । कर्तुं=कृ + मुमुन् और मुमुन् प्रत्ययान्त भी अभाव होने है ।

विष्णुना हता दैत्याः [विष्णु के द्वारा दैत्य मारे गए] तथा दैत्यान् हतवान्  
 विष्णुः [विष्णु ने दैत्यों को मारा] - यहाँ 'हन्' शब्द क् धातु से लक्ष् [हन् +  
 लप्] प्रत्यय होकर बना है और हतवान् हन् धातु से लक्षन् [हन् + लक्षन्] ।  
 लक्षन् की वागिनिशाद्वयन में निष्ठा<sup>२</sup> संज्ञा है । कामुंका नियम से निष्ठा  
 के योग में पत्नी का विशेष दिया गया है । विष्णुना हता, दैत्याः यहाँ लक्ष  
 कर्म से हुआ है यही बना अनुकूल है उसमें पत्नी नहीं होती बल्कि द्वितीया  
 विभक्ति होती है और 'ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा' यहाँ लक्षन् बना में हुआ ।  
 कर्म अनुकूल है । उस कर्म [ईषत्] में पत्नी नहीं होती बल्कि द्वितीया विभक्ति  
 होती है ।

विष्णुः प्रपञ्चो हरिणा [हरि ने लीला-प्रागल्भ्य अभाव वाले है] -  
 यहाँ ईषत्कर=ईषत् कृ धातु । ईषत् कृ से कर्म में हुआ है । प्रपञ्चो योग में  
 यहाँ [हरि] में पत्नी प्रत्यय होती थी उसका न ओझाया<sup>३</sup> १६' नियम से  
 विशेष दिया गया है अतः यहाँ [हरिणा] में लक्ष् या विभक्ति होती है ।

शनूनामवावृत्तिरिति तु गच्छादारभ्यानुनो नकारात् ।  
 के 'तु' अभाव से लक्ष् 'तु' ११०।१११ के लक्षण १६ में प्रागल्भ्य निगमन है  
 ११० के लक्षण १६ में, शनूनामवावृत्तिरिति तु गच्छादारभ्यानुनो नकारात् ।

नेतृत्वम् १११।१०० न हन्तेऽपि १११।११

शनूनामवावृत्तिरिति तु गच्छादारभ्यानुनो नकारात् १११।११

शानन्—सोमं पवमानः । चानश्—आत्मानं मण्डयमानः ।  
शतृ—वेदमधीयन् । तृन्—कतां लोकान् । द्विपः शतुर्वा ।  
मुरस्य मुरं वा द्विपन् ॥ सर्वोऽयं कारकपठ्याः प्रतिषेधः ॥  
शेषे पठ्ठी तु स्यादेव । ब्राह्मणस्य कुर्वन् । नरकस्य जिष्णुः ॥

पठ्ठी विभक्ति नहीं होती, जैसे—सोम पवमानः—सोम को पवित्र करता हुआ,  
(पवमानः=पू+शानन्), अग्रमानं मण्डयमानः—अग्ने को भूषित करता  
हुआ (मण्डि+चानश्), वेदमधीयन्—वेद को पढ़ता हुआ (अधि+इ+शतृ),  
कतां लोकान्—संसार को बनाने वाला (कृ+तृन्) । यहाँ 'लोमम्', 'आत्मानम्',  
'वेदम्' तथा 'लोकान्' सर्वत्र पठ्ठी न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति  
होती है ।

टिप्पणी—तृन् प्रत्याहार के अन्तर्गत 'सट्' के स्थान में होने वाले शतृ  
शानच् नहीं लिये जाते 'अधीयन्' में दूसरा ही 'शतृ' प्रत्यय है ।

द्विपः इति (ब)—शतृ प्रत्ययान्त द्विप् शतृ के योग में पठ्ठी विभक्ति का  
निषेध विकल्प से होता है, अतएव मुरस्य मुरं वा द्विपन् (मुर नामक राक्षस  
का शतृ) —यहाँ द्विपन् शब्द शतृ प्रत्ययान्त है । 'मुर' शब्द से विकल्प से  
पठ्ठी तथा द्वितीया विभक्ति होती है ।

सर्वोऽयम् इति - न लोकाभ्यम् ८६६। इस सूत्र से कारक पठ्ठी (कट्-  
'कर्मणोः कृति ६०' आदि से प्राप्त) का ही निषेध होता है । शेषे पठ्ठी (अर्थात्  
निसी कारक से, सम्बन्ध मात्र की विवक्षा हो जाने पर) तो हो ही जानी है,  
अतएव 'ब्राह्मणस्य कुर्वन्' 'नरकस्य जिष्णु' में पठ्ठी विभक्ति हो जाती है ।

टिप्पणी—यह प्राचीनों का मत है उनके मत में यहाँ 'कारक पठ्ठी' न  
होने और शेषे पठ्ठी हो जाने में शब्द-बोध का अन्तर है । प्राचीनों (नापेय  
शतृ आदि) के मत में तो यहाँ शेषे पठ्ठी भी नहीं होनी । (सि० की०  
टिप्पणी) ।

१. इद्वायो. जगद्विज्जि १३।२।१३०। २. द्विपोज्जि १३।३।१३१।



६७। अकेनोर्भविष्यदाग्रमर्ग्ययोः । २।३।७०। भविष्यत्यकः  
भविष्यदावमर्ग्यार्थेनश्च योगे पठ्ठी न स्यात् । सतः पालकं  
ऽन्तरति । ब्रजं गामो । शतं दायी ॥

६८। कृत्यानां कर्तरि वा । २।३।७१। पठ्ठी वा स्यात्  
मया मम वा सेव्यो हरिः ।

६८. अकेनोरिति — भविष्यत् अर्थ में बहने हुए 'अक' प्रत्यय तथा भविष्य  
और आद्यमध्यं [अद्यमर्ग्यं (कर्जंशर) का भाव आद्यमर्ग्यं] अर्थ में, उन 'इ'  
प्रत्यय के योग में पठ्ठी विभक्ति नहीं होती । कर्तृकर्मणोः कृति ६२ ।  
अपवाद है ।

सतः पालकोऽन्तरति (जो सज्जनों का पालन करेगा वह अन्तरित हो-  
गै) — यहाँ पालक शब्द भविष्यत् अर्थ में कृत् (अक प्रत्यय होकर बना है) ।  
इसके योग में सत् शब्द से पठ्ठी न होकर द्वितीया (सतः) ही होती है ।

ब्रजं गामो (भविष्यत् में ब्रज को जाने वाला) — 'गामी' शब्द 'गम्' धा-  
तु से भविष्यत् काल में 'णिनि' प्रत्यय (गम् + इन्) होकर बना है । इसके योग में  
पठ्ठी विभक्ति नहीं होकर 'ब्रज' से द्वितीया विभक्ति ही होती है ।

शतं दायी (सौ-हज़ारे-का देनेवाला) — 'दायी' शब्द 'दा' धातु से आद्यमर्ग्य  
अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय होकर बना है (दा + इन्) । इसके योग में 'शत' शब्द  
से पठ्ठी विभक्ति नहीं होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ।

६८. कृत्यानाम् इति — कृत्य प्रत्ययों के योग में कर्ता में विकल्पा से पठ्ठी  
विभक्ति होती है ।

कृत् प्रत्ययों के अन्तर्गत कुछ प्रत्ययों की 'कृत्य' मंजा है । उनके योग  
में कर्तृकर्मणोः कृति ६२ से नित्य पठ्ठी प्राप्ति थी । यह सूत्र विवक्षा से पठ्ठी  
करना है ।

मया मम वा सेव्यो हरिः (मेरे द्वारा हरि मेरे ही है) यही 'सेव्य' शब्द  
सेव् (पेट सेवायाम्) धातु से कर्म में कृत् (कृत्य) प्रत्यय होकर बना है ।  
कर्ता अनुज्ञा है । कर्ता में उगुक्ता नियम से विकल्पा में पठ्ठी (मया)

१. तुनुष्णुनी क्रियाया क्रियायांयाम् ३।३।१०। ४. देखिए कृत्य प्रकरण ।

२. भविष्यति शब्दादयः । ३।३।३।

३. आद्यमर्ग्यमर्ग्ययोगिनः ३।३।७०।

रीति किम् ? गेयो माणवकः साम्नाम् । 'मव्य-गेय-३।४।६८'  
 । कर्तरि यद्विधानादनभिहितं कर्म । अत्र योगो विभज्यते ॥  
 यानाम् ॥ उभयप्राप्ताविति नेति चानुवर्तते । तेन नेतव्या  
 ऽ गायः कृष्णेन । ततः ॥ कर्तरि वा ॥ उत्क्रोश्र्यः ॥

६६ । तुल्यार्थेतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् । २।३।७२।

। एता मे तृतीया विभक्तिरु होती है ।

कर्तरीतिम् इति—सूत्र में 'कर्तरि' (कर्ता में) शब्द का क्या  
 भजन है ? यह कि कर्ता में प्राप्त होने वाली पट्टी का ही विवरण होता है  
 एव वही 'इत्य' के योग में कर्म में पट्टी प्राप्त है वहाँ इस नियम से विवरण  
 होता है—

'गेयो माणवकः साम्नाम्' (माणवक साम का गायक है) — यहाँ  
 'ग' शब्द 'गा' धातु से प्रत्यये ० आदि सूत्र से कर्ता में 'गन्' प्रत्यय (इत्य)  
 का बना है । कर्म (सामन) अनभिहित है अतः 'साम्नाम्' (सामन प०  
 १०) में निरय ही पट्टी विभक्ति होती है ।

अत्रेति—इत्याना कर्तरि वा' सूत्र में योग-विभाग दिया जाता है  
 यान् इत्यानाम् यह एक सूत्र माना जाता है जिसमें 'उभयप्राप्ती' और  
 'बी अनुवर्तित जाती है तथा यह अर्थ होता है—'इत्या' के योग में कर्ता  
 और कर्म दोनों में प्राप्त होने वाली पट्टी नहीं होती । अर्थात्—

'नेतव्या सर्व गाय कृष्णेन' (इत्य का गाय एक में से जानी है)—यहाँ  
 गायः प्रधान कर्म है । 'तत्र' प्रत्यय प्रधान कर्म में हो हुआ है (प्रधानेनीहृत्प्रत्य-  
 यः) । 'एक' योग कर्म है तथा कृष्ण कर्ता है । ये दोनों अनुवर्तित हैं । अतः  
 दोनों में पट्टी प्राप्त है । इस नियम से 'एक' (कर्म) तथा 'कृष्णेन' (कर्ता) में  
 पट्टी विभक्ति नहीं होती अतः कर्म, द्वितीया और तृतीया विभक्तियाँ होती हैं ।

'कर्तरि वा' यह दूसरा सूत्र मानना चाहिये । इसमें 'इत्याना' बी अनुवर्तित  
 रहे सूत्र का ऊपर कहा हुआ (६८) अर्थ होता है ।

६६ तुल्यार्थेति—तुना और 'उपमा' दो कर्मों को छोड़ कर दोष  
 का अर्थ करने पट्टी के योग में विवरण से तृतीया विभक्ति होती है एता में  
 पट्टी होती है ।

तुल्यार्थयोगे तृतीया वा स्यात्पठे पठ्ठी । तुल्यः सहस्रः समो २  
 कृष्णस्य कृष्णेन वा । अतुलोपमाभ्यां किम् ? तुला उपमा ॥  
 कृष्णस्य नास्ति ।

१०० । चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितै  
 । २।३।७३ । एतदर्थयोगे चतुर्थी वा स्यात्पठे पठ्ठी मार्शपि  
 आयुष्यं चिरंजीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात् । एवं मद्रं  
 भद्रं कुशलं निरामयं सुखं च अर्थः प्रयोजनं हितं पथ्यं वा भूयात् ।

तुल्य, कृष्णाय कृष्णेन वा (कृष्ण के समान) यहाँ 'तुल्य' शब्द के साथ  
 'कृष्ण' शब्द में पठ्ठी अथवा तुल्यता विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'निराम  
 कृष्णस्य कृष्णेन वा' 'सम कृष्णस्य कृष्णेन वा' ।

अतुलोपमाभ्यां किम् इति - तुला और उपमा के योग में केवल पठ्ठी  
 विभक्ति ही होती है, जैसे 'तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति ।'

शिष्यणी - मन्त्र के उच्छ्वरोटि के अक्षरों में तुला और उपमा के साथ  
 भी तुल्यता का प्रयोग दिया है, जैसे - 'नमसा तुला नमश्चरोटि (रघु० ५-१३),  
 'पुत्रीयं भुविमिनेन मन्त्रुना (मिश्र० १-४) । (आटे ११७)

१०० चतुर्थीय - आशीर्वाद में - आशुष्य, यद्र, यद्र, कुशल, सुख, अर्थ,  
 और दिन इन अर्थ माने शब्दों के साथ विभक्ति में चतुर्थी विभक्ति होती है,  
 पठ में पठ्ठी होती है ।

आयुष्यं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात् (कृष्ण की सीधे अ.तु. हो) - यहाँ  
 'आयुष्य' के योग में 'कृष्ण' शब्द में चतुर्थी अथवा पठ्ठी विभक्ति होती है ।  
 इसी प्रकार - 'चिरंजीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्' तथा 'मद्रं यद्रं  
 कुशलं निरामयं सुखं च अर्थ प्रयोजनं दिन पथ्यं वा कृष्णस्य, कृष्णाय वा  
 भूयात् ।'

मार्शपि किम् इति - आशीर्वाद देने में चतुर्थी अथवा पठ्ठी विभक्ति  
 ही आती है ऐसा क्यों कहा ? इसकी विवेचना करने में केवल पठ्ठी विभक्ति  
 ही होती है, जैसे - 'एतदमद्रं अतुलोपमाभ्यां' (एतदम की विवेचना है) ।

आशुष्यं इति - यद्यपि आशुष्य में अर्थ के अक्षर का ही साथ

आनिवि किम् । देवस्तस्यानुप्यमस्ति । व्याख्याताम् ।

सम् । मद्रभट्टयोः पदांशव्याख्यानस्य न पठनीयः । इति

१०१ । भाषारोक्षधिकरणम् १४४४४ । वसुधैवकुटुम्बमाते

पृथिव्याया आभारः । वास्तवमधिकरणमज्ञः इत्याम् ॥

१०२ । कृष्णार्थधिकरणम् च १२३३३३३ । अधिपत्ये मज्जमी

पत्तम् । अवासाद् दूराग्निकार्येभ्यः । अधिपत्येति चोपदिष्टाभि-

विद्या वाता है (एव एव कृष्णार्थप्रकरणम्) । मज्जमी आवासीय है वास्तव्य है ।  
मज्जमी दूराग्निकार्येभ्यः के अर्थ वास्तव्य है । 'अधि' और 'अधि'  
(अधिपत्येति) अर्थ मज्जमी है । अतः इसमें से एव की दूराग्निकार्येभ्यः  
अधिपत्येति अर्थ मज्जमी है । इति मज्जमी विद्या ॥

मज्जमी विद्या—

१०१ । आवासीय दूराग्निकार्येभ्यः मज्जमी अर्थ है । अतः इसमें से एव की दूराग्निकार्येभ्यः  
अधिपत्येति अर्थ मज्जमी है ।

(मज्जमी) — अधिपत्येति विद्या वा आवासीय अर्थ मज्जमी है । अतः इसमें से एव की दूराग्निकार्येभ्यः  
अधिपत्येति अर्थ मज्जमी है । अतः इसमें से एव की दूराग्निकार्येभ्यः  
अधिपत्येति अर्थ मज्जमी है ।

१०२ । मज्जमी दूराग्निकार्येभ्यः मज्जमी अर्थ है । अतः इसमें से एव की दूराग्निकार्येभ्यः

अधिपत्येति अर्थ मज्जमी है । अतः इसमें से एव की दूराग्निकार्येभ्यः  
अधिपत्येति अर्थ मज्जमी है । अतः इसमें से एव की दूराग्निकार्येभ्यः  
अधिपत्येति अर्थ मज्जमी है ।

अधिपत्येति अर्थ मज्जमी है । अतः इसमें से एव की दूराग्निकार्येभ्यः

(१) अधिपत्येति, (२) अधिपत्येति अर्थ मज्जमी है ।

(१) अधिपत्येति—अधिपत्येति अर्थ मज्जमी है । अतः इसमें से एव की दूराग्निकार्येभ्यः  
अधिपत्येति अर्थ मज्जमी है । अतः इसमें से एव की दूराग्निकार्येभ्यः  
अधिपत्येति अर्थ मज्जमी है ।

अधिपत्येति अर्थ मज्जमी है । अतः इसमें से एव की दूराग्निकार्येभ्यः

व्यापकश्वेत्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते । स्थाल्यां पचति  
 मोक्षे इच्छास्ति । सर्वस्मिन्नात्मास्ति । वनस्य दूरे अन्तिके वा  
 'दूरान्तिकार्येभ्यः ७४, इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोऽत्र  
 विभक्तयः फलिताः ॥ \* (वा) क्तस्येन्विपयस्य कर्मण्युप-

आधार (कट) के साथ संयोग सम्बन्ध है । 'कट' ओर श्वेतिरु आधार है ।  
 इसकी अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है ।

स्थाल्यां पचति (दिग्धी में पकाता है) — यहाँ 'स्थाली' वाक्यक्रिया के कर्म  
 (तण्डुल आदि) का संयोग सम्बन्ध से आधार है । इसकी अधिकरण संज्ञा  
 होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है ।

(१) वैपयिक आधार — विपयत सम्बन्ध से होने वाला आधार  
 वैपयिक आधार कहलाता है अर्थात् उसके साथ कर्ता का बौद्धिक सम्बन्ध  
 होता है; जैसे —

मोक्षे इच्छास्ति (मोक्ष में इच्छा है) — यहाँ कर्ता को मोक्ष के विषय  
 में इच्छा है । मोक्ष इच्छा का विषय है अतः यह वैपयिक आधार है । इसकी  
 अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है ।

(२) अभिव्यापक — वह आधार है, जिसमें कोई वस्तु समस्त अवयवों में  
 व्याप्त होकर रहती हो; जैसे —

सर्वस्मिन् आत्मास्ति (सब में आत्मा है) — आत्मा सब में व्यापक है अतः  
 'सर्व' अभिव्यापक आधार है । इसकी अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी  
 विभक्ति होती है । इसी प्रकार "निलेषु संसृजम्" इत्यादि ।

वनस्य दूरे अन्तिके वा (वन से दूर या निकट) — यहाँ दूर और अन्तिक  
 में सप्तमी विभक्ति होती है । इस प्रकार दूरान्तिकार्येभ्यः ७४, इन सूत्र से  
 होने वाली तीन विभक्तियों (द्वितीया, पञ्चमी तथा तृतीया) सहित दूर और  
 समीप अर्ध वाले शब्दों में चार विभक्तियाँ (द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी तथा  
 सप्तमी) होती हैं ।

क्तस्येति (वा) — क्त प्रत्ययान्त शब्दों के क्त प्रत्यय होकर बने हुए शब्दों  
 के कर्म में सप्तमी विभक्ति रहनी चाहिए ।

संख्यानम् ॥ अधीती व्याकरणे अधीतमनेनेति वि  
इष्टादिभ्यश्च ५।२।८८ इति कर्तरीनिः ॥ \* (वा) साध्व-  
साधुप्रयोगे च ॥ साधुः कृष्णो मातरि । असाधुर्मातुले ॥  
\* (वा) निमित्तात्कर्मयोगे ॥ निमित्तमिह फलम् । योगः  
संयोगसमवायात्मकः ॥

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।

केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुच्छलको हतः ॥१॥

(इति भाष्यम्)

अधीती व्याकरणे (व्याकरण पढ़ा हुआ) — यहाँ 'अधीती' शब्द 'अधीत' (अधि + इद् + क्त) से कर्ता में 'इति' प्रत्यय होकर बना है (अधीत + इत् = अधीतिन् = अधीती प्र० एक०) । 'व्याकरणम् अधीतवान्' यह अर्थ होता है यहाँ व्याकरण कर्म है और उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार कर्म में सप्तमी विभक्ति हो जाती है ।

साधु इति (वा) — साधु और असाधु शब्द के प्रयोग में सप्तमी विभक्ति होती है ।

साधुः कृष्णो मातरि (कृष्ण माता के प्रति अच्छा है) — यहाँ साधु संयोग में 'मातु' शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'असाधुः मातुले' (बुरा मामा के प्रति बुरा है) — यहाँ 'मातुले' में भी सप्तमी है ।

टिप्पणी — 'साधुनिपुणायाम् अर्चयाम्' २।३।४३ से पूजार्थ में ही साधु शब्द के साथ सप्तमी होती है, अतः थैल, हिरकारी आदि अर्थों में इस सूत्र से सप्तमी नहीं गई है ।

निमित्तात् इति (वा) — इस वार्तिक में निमित्त का अर्थ नि-फल । यो कहते हैं सम्बन्ध को, वह यहाँ संयोग या समवाय लिया जाता है । निमित्त अर्थात् फलवाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है यदि उस फलवाचक शब्द का कर्म के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध हो ।

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति (चर्म के लिये व्याध को मारता है) — यहाँ

१. इष्टादिभ्यश्च ५।२।८८।

हेतोः तृतीयाऽत्र प्राप्ता तन्निवारणार्थमिदम् । सीमाऽण्डकोशः ।  
पुष्कलको गन्धमृगः । योगविशेषे किम् ? वेतनेन धान्यं लुनाति ।

१०३ । यस्य च भावेन मावलक्षणम् । २।३।३७। यस्य क्रिय-  
या क्रियान्तरं तदप्यते ततः सप्तमी स्यात् । गोषु दुह्यमानासु गतः ॥

‘बर्मे’ [पम्] के निम्न व्याप्य भी हवा की जाती है । बर्मे द्विती [व्याप्य] का बर्मे से सम्बन्ध है अर्थात् सम्बन्ध सम्बन्ध से रहता है । अतः उपर्युक्त नियम के अनुसार ‘बर्मेनि’ में सप्तमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार—‘दन्तयो हन्ति पुच्छरम्’ [दन्तों के निम्न हाथी को मारता है]— यहाँ ‘दन्तयो.’ में, ‘केतेषु चमरी हन्ति’ [केतों के निम्न चमरी नामक मृगविशेष को मारता है]— यहाँ ‘केतेषु’ में तथा ‘सीम्नि पुच्छरको हन्तिः’ [सीमा अण्ड-कोश=चमरी को बहने है । पुच्छरक नाम का एक मृगविशेष है जिसमें गन्ध-मृग भी बहने है] यहाँ ‘सीम्नि’ में सप्तमी विभक्ति होती है । यहाँ भी दन्त, केत तथा सीमा का कर्म [हन्ती, चमरी, पुच्छरक] के साथ सम्बन्ध सम्बन्ध है ।

हेतारिणि—यहाँ सभी प्रयोगों में ‘हेतौ’ इस मूल से हेतु में तृतीया विभक्ति प्राप्त हुई थी । उसके स्थान पर इस धारिक में सप्तमी कही गई है ।

योगविशेषे विभक्ति—यहाँ ‘इय’ का बर्मे के साथ संयोग या सम्बन्ध सम्बन्ध होता है यही उपर्युक्त नियम से कथवाचक शब्दों में सप्तमी विभक्ति होती है ऐसा क्यों कहा ? इसविशेषे कि ‘वेतनेन धान्यं लुनाति’ ‘वेतन के निम्न धान्य काटना है ।—यही ‘वेतन’ शब्द का ‘धान्य’ में संयोग अथवा सम्बन्ध सम्बन्ध नहीं अतः यही सप्तमी नहीं होती, अतः ‘हेतु’ में तृतीया विभक्ति होती है ।

१. ३. अथ चेति—जिसकी क्रिया से कोई दूसरी क्रिया अभिप्रेत होती है, उससे सप्तमी विभक्ति होती है । क्रिया जिसी कर्ता या कर्म में रहती है अतः जिस कर्ता या कर्म में स्थित प्रसिद्ध क्रिया से दूसरी क्रिया अभिप्रेत होती है उस कर्ता या कर्म में सप्तमी विभक्ति होती है ।

विशेषो—इस नियम से होने वाली सप्तमी को ‘सीमा सप्तमी’ या ‘स्थान सप्तमी’ (Locative absolute) कहते हैं ।

✽ (वा) अर्हाणां कर्तृत्वेऽनर्हाणामकर्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च ॥

सत्सु तरत्सु असन्त आसन्ते । असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति ।

सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति । असत्सु तरत्सु सन्तस्तिष्ठन्ति ॥

गोषु दुह्यमानासु गतः ( जब गायें दुही जा रही थी तब वह गया ) यहाँ 'गायो' की दोहन क्रिया से किसी की गमन क्रिया लक्षित होती है अतः उपर्युक्त नियम के अनुसार 'गोषु' में सप्तमी विभक्ति होती है और विशेष्य के अनुसार ही 'दुह्यमानासु' में सप्तमी विभक्ति हो जाती है । यहाँ क्रिया कर्मस्थ है । कर्तृस्थ क्रिया का उदाहरण है—साहस्येषु अधीयानेषु गतः ।

अर्हाणाम् इति—जिस कार्य के लिये जो योग्य या उपयुक्त हैं, वे 'अर्ह' बने जाते हैं तथा जो अयोग्य या अनुपयुक्त हैं वे 'अनर्ह' । योग्यो का कर्तृत्व प्रकट करने में तथा अयोग्यो का अकर्तृत्व प्रकट करने में और इसकी विपरीतता में सप्तमी विभक्ति होती है । इस वार्तिक के चार भाग हैं ।

(१) अर्हाणाम् कर्तृत्वे—क्रिया में उचित व्यक्तिषो के कर्तृत्व की विवक्षा होने पर उनमें सप्तमी विभक्ति होती है । जैसे—'सत्सु तरत्सु असन्त आसन्ते' ( सज्जन तरते हैं और असज्जन बँडे हैं ) यहाँ सत्पुरुषों का तरना उचित है, वे तरण क्रिया के कर्ता हैं अतः 'सत्सु' में उपर्युक्त नियम के अनुसार सप्तमी विभक्ति होती है तथा 'सत्सु' के समान इसके विशेषण 'तरत्सु' में भी सप्तमी हो जाती है ।

(२) अनर्हाणाम् अकर्तृत्वे—जिस क्रिया में जिनका कर्तृत्व अनुचित है उनके अकर्तृत्व की बतलाने के लिये उनसे सप्तमी विभक्ति होती है, जैसे—'असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति' असज्जनों का तरना अनुचित है तथा 'तिष्ठत्सु' से तरण क्रिया में अकर्तृत्व का बोध होता है अतः 'असत्सु' में सप्तमी विभक्ति हो जाती है और उसके विशेषण 'तिष्ठत्सु' में भी :  
सद्वैपरीत्ये च—और उसकी विपरीत दशा में; जैसे—

(३) जिनका करना उचित है उनके अकर्तृत्व की प्रकट करने में उनसे सप्तमी विभक्ति होती है; जैसे—'सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति'—सज्जनों का तरण उचित है किन्तु उनका न तरना ( अकर्तृत्व ) 'तिष्ठत्सु' से प्रकट हो रहा है अतः 'सत्सु तिष्ठत्सु' यहाँ सप्तमी विभक्ति होती है ।

(४) जिनका करना उचित नहीं उनका करना ( कर्तृत्व ) बतलाने में



१०४। पष्ठी चानादरे २।३।३८। अनादराधिवये भाव-  
लक्षणो पष्ठीसप्तम्यो स्तः। रुदति रुदतो वा प्रात्राजीत्। रुदन्तं  
पुत्रादिकमनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः॥

१०५। स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतेश्च  
१२।३।३६। एतैः सप्तभिर्योगे पष्ठीसप्तम्यो स्तः। पश्यामेव  
प्राप्तायां पाक्षिकसप्तम्यर्थं वचनम्। गवां गोषु वा स्वामी। गवां  
गोषु वा प्रसूतः। गा एवानुभवितुं जात इत्यर्थः॥

उनसे सप्तमी विभक्ति होती है; जैसे—असत्सु तरत्सु सन्तसु तिष्ठन्ति' यहाँ  
असत्पणों का तरना अनुचित है किन्तु उनका तरना 'तरत्सु' से प्रकट हो रहा  
है। अतः असत्सु तथा उसके विशेषण तरत्सु में सप्तमी विभक्ति होती है।

टिप्पणी—कुछ भाषाओं का मत है कि इस वाकिक के उदाहरणों में  
'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' से ही सप्तमी सिद्ध हो जाती है अतएव इसकी  
आवश्यकता नहीं। किन्तु दूसरों का कथन है कि यहाँ एक वी क्रिया से  
दूसरी क्रिया लक्षित नहीं होती; 'यथा सन्तस्तरन्ति तथा असन्त आसते'  
इस प्रकार का अर्थ उपयुक्त उदाहरणों का नहीं होता अस्तु 'सन्तस्तरन्ति,  
असन्त आसते' इत्यादि अर्थ ही होता है (दे० शारदारम्भन, मित० पृ १०३)

१०४. वाठीति—यदि अनादर भी प्रकट हो तो जिसकी क्रिया से प्रत्य  
क्रिया लक्षित होती है उसमें पष्ठी या सप्तमी विभक्ति हो जाती है।

रुदति रुदतो वा प्रात्राजीत्—इसका अर्थ है—'रोवे हुए पुत्र आदि  
की उपेक्षा करके सन्धास ग्रहण कर लिया'। यहाँ 'रुदन' क्रिया से प्रत्यजन  
क्रिया लक्षित होती है। साथ ही 'रुदन' का तिरस्कार या उपेक्षा भी प्रकट  
हो रही है, अतएव 'रुदति' या 'रुदत.' में सप्तमी तथा पष्ठी विभक्ति होती है।

१०५. स्वामीति—स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू  
तथा प्रसूत इन शब्दों के योग में पष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है। संक्षेप  
में केवल पष्ठी प्राप्त थी, परन्तु सप्तमी के लिये यह सूत्र कहा गया है।

गवां गोषु वा स्वामी (गायों का स्वामी) यहाँ उपयुक्त नियम से  
'स्वामी' शब्द के योग में 'गवाम्' तथा 'गोषु' में विरल्प से पष्ठी या सप्तमी  
विभक्ति होती है।

१. सि० को० तरवशोधिनी।

१०६ । आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् । २।३।४०। आभ्यां योगे पष्ठीसप्तम्यौ स्तस्तात्पर्येऽर्थे । आयुक्तो व्यापारितः । आयुक्तः कुशलौ वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा । आसेवायां किम् ? आयुक्तो गोः शकटे । ईषदयुक्तः इत्यर्थः ॥

१०७ । यतश्च निर्धारणम् । २।३।४१। जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः पष्ठीसप्तम्यौ स्तः । नृणां नृपु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः । गवां गोपु वा कृष्णा बहुक्षीरा ।

गवां गोपु वा प्रपूजः (गायो में उत्पन्न हुआ है) — इसका भाव है — गायों को प्राप्त करने के लिये ही उत्पन्न हुआ है । यहाँ भी पष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार पृथिव्याः पृथिव्यां वा ईश्वरः, 'प्राप्ताणां प्राप्तेषु वाप्रधिरातिः' 'विजयस्य विजये वा दायारः' 'अथवाहारस्य अथवाहारे वा साक्षी' 'दर्शनस्य दर्शने वा प्रतिभूः' ।

१०८ आयुक्तेति—तत्परता अर्थ में आयुक्त और कुशल शब्द के योग में पष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है । जैसे—'आयुक्तः हरिपूजने हरिपूजनस्य वा' आयुक्त का अर्थ है—तथावा हुआ । इसी प्रकार 'कुशलौ हरिपूजने हरिपूजनस्य वा' ।

आसेवायाम् किम् इति—जहाँ तत्परता अर्थ होता है वही आयुक्त, कुशल के योग में पष्ठी, सप्तमी होती है, यह क्यों कहा ? इसलिये कि अन्य अर्थ में केवल सप्तमी होती है ; जैसे — 'आयुक्तो गोः शकटे'—इसका अर्थ है—वैल गाड़ी में जोड़ा गया । यहाँ तत्परता का बोध नहीं होता ।

१०९ यतश्चेति—निर्धारण का अर्थ है—जाति, गुण क्रिया तथा संज्ञा आदि की विरोधता के कारण किसी वस्तु की अपने समुदाय से पृथक् करना । जिससे से निर्धारण किया जाता है उससे पष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है ।

नृणां, नृपु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः (मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है) — यहाँ मनुष्य-समुदाय से जाति की विरोधता के कारण ब्राह्मण को विद्विष्ट दिघाया

गच्छतां गच्छत्सु वा घावन् शीघ्रः । छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः ॥

१०८ । पञ्चमी विभवते । २।३।४२। विभागो विभवतम् ।  
निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमी स्यात् । मायुरा;  
पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः ॥

१०९ । साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः । २।३।४३।  
ग्राभ्यां योगे सप्तमी स्यादर्चायां न तु प्रतेः प्रयोगे । मातरि साधुनिपु-

गया है, वह मनुष्य समुदाय का ही एक अङ्ग है । यही निर्धारण है, अतः  
समुदाय रूप 'भू' शब्द से पट्टी अथवा सप्तमी विभक्ति होती है ।

इसी प्रकार—'गर्वा गोषु वा कृष्णा' बन्धुजीरा (गर्वा में कृष्णा बहुत  
दूध वाली होती है)—यहाँ गुण के द्वारा पृथक्करण है । 'गच्छतां गच्छत्सु  
वा घावन् शीघ्रः' (जाने वालों में शीघ्रता हुआ शीघ्र जाता है)—यहाँ क्रिया  
के द्वारा पृथक्करण है 'छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः' (छात्रों में मैत्र बन्धु  
है)—यहाँ सज्ञा (मैत्र) के द्वारा पृथक्करण है । इन सभी उदाहरणों में अपने  
समुदाय में एक भाग को विविष्ट दिखाना गया है ।

१०८. पञ्चमी इति—विभाग का अर्थ है—विषय या भेद । जहाँ  
विविष्ट रूप में दिखलाई हुई वस्तु (निर्धार्यमाण) वस्तुतः भिन्न ही होती है  
वहाँ (जिसमें भेद दिखलाया जाता है उसमें) पञ्चमी विभक्ति होती है ।

मायुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतराः (मायुर-निवासी पाटलिपुत्र के लोगों  
से सम्बन्ध है)—यहाँ मायुर (मायुर के रहने वाले) पाटलिपुत्रियों (पाटलि के  
रहने वालों) में भिन्न है । मायुरों में दूसरों की ओर सन्ध्या स्थाई गई  
है । अतः 'पाटलिपुत्र' से पञ्चमी विभक्ति होती है ।

१०९. साधु इति—साधु और निपुण के योग में सप्तमी होती है पूरा  
अर्थ में, किन्तु 'अर्च' शब्द के प्रयोग में नहीं होती ।

पुणो वा । अर्चायां किम् ? निपुणो राज्ञो भृत्यः । इह तत्त्वकथने तात्पर्यम् । \* (वा) अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम् ॥ साधुनिपुणो वा मातरं प्रति पर्यनु वा ॥

११० । प्रसितोत्सुकाम्भ्यां तृतीया च । २।३।४४। आम्भ्यां योगे तृतीया स्याच्चात्सप्तमी प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरो वा ॥

१११ । नक्षत्रे च लुप्ति । २।३।४५। नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे यो लुप्तं-

मातरि साधुनिपुणो वा—यहाँ 'साधु' और निपुण शब्द के योग में 'मातरि' में सप्तमी विभक्ति होती है ।

अर्चायां किम् इति—जहाँ पूजा या आदर का भाव नहीं होता वहाँ सम्बन्ध में पट्टी विभक्ति ही होती है, जैसे—'निपुणो राज्ञो भृत्यः' ( राजा का सेवक कुशल है ) । यहाँ तत्त्वकथन में तात्पर्य है, पूजा का भाव नहीं ।

टिप्पणी—अर्चा से निम्न अर्थ में भी साधु शब्द के साथ 'साधुमाधु-प्रयोगे च' (वा) से सप्तमी विभक्ति हो ही जाती है । 'हाँ 'साधु' शब्द के ग्रहण का फल यह है कि 'अर्चा अर्थ में प्रति' आदि के योग में साधु शब्द के साथ सप्तमी विभक्ति नहीं होती ।

अप्रत्यादीति (वा)—यूज में 'अप्रते.' के स्थान पर 'अप्रत्यादिभिः' कहना चाहिए अतः 'प्रति' 'परि' 'अनु' के प्रयोग में साधु और निपुण शब्द के साथ अर्चा अर्थ में भी सप्तमी विभक्ति नहीं होती अपितु द्वितीया होती है ( कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ); जैसे 'साधुनिपुणो वा मातरं प्रति परि अनु वा' ।

११०. प्रसितेति—प्रसित और उत्सुक शब्द के योग में तृतीया विभक्ति होती है और सप्तमी भी ।

प्रसितो हरिणा हृतो वा (हरि में तबनीन)—यहाँ 'प्रसित' शब्द के योग में 'हरिणा' में तृतीया तथा 'हरो' में सप्तमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'उत्सुको हरिणा हरो वा ।'

१११. नक्षत्रे चेति—जहाँ नक्षत्रवाची शब्द लुप् संज्ञा से लुप्त प्राप्य

ज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्तत्र वर्तमानात्तृतीयासप्तम्यो रतो-  
ऽधिकरणो । मूलेनावाहयेद्देवी श्रवणेन विसर्जयेत् । मूले  
श्रवणे इति वा । लुपि किम् ? पुप्ये शनिः ॥

११२ । सप्तमीपञ्चम्यो कारकमध्ये । २।३।७। शक्तिद्वयमध्ये  
यो कालाध्वानी ताम्यामेते स्तः । अद्य भुक्त्वाऽयं द्वयहे द्वयहाद्वा  
भोक्ता । कर्तृ श्रवणोर्मध्येऽयं कालः । इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद्वा लक्ष्यं

के अर्थ में वर्तमान होता है; अर्थात् जहाँ नक्षत्र बाची शब्द काल विशेष को  
प्रकट करता है वहाँ उससे अधिकरण में तृतीया तथा सप्तमी विभक्तियाँ  
होती हैं ।

‘मूलेन आवाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् ( मूले श्रवणे इति वा )’  
यहाँ ‘मूल’ शब्द मूलनक्षत्र से युक्त काल का बोधक है । नक्षत्रबाची मूल शब्द  
से ‘नक्षत्रेण युक्तः कालः’ ४।२।३ इससे ‘अण्’ प्रत्यय हुआ और ‘लुपविशेषे  
४।२।४’ से उसका लुप् हो गया है । इसी प्रकार ‘श्रवण’ शब्द है । ऊपर के  
नियम (१११) से इन दोनों में तृतीया और सप्तमी विभक्ति हुई है ।

लुपि किम् इति—जहाँ अण् प्रत्यय होकर उसका लुप् नहीं होता अर्थात्  
नक्षत्रबाची शब्द कालविशेष के लिये नहीं आना, अपने ( नक्षत्र ) अर्थ में ही  
रहता है वहाँ अधिकरण में सप्तमी विभक्ति ही होती है तृतीया नहीं, जैसे  
‘पुप्ये शनिः’ (पुप्यनक्षत्र में शनि है) ।

११२. सप्तमीति—दो कारक शक्तियों के बीच से जो काल और मार्ग  
हों उनके वाचक शब्दों से सप्तमी या पञ्चमी विभक्ति होती है ।

अद्य भुक्त्वाऽयं द्वयहे द्वयहाद् वा भोक्ता—(आज खाकर यह दो दिन  
में खाएगा)—यहाँ काय (द्वयह) दो कर्तृ शक्तियों के बीच में है एक कर्तृ शक्ति  
का आज (अद्य) के भोजन से सम्बन्ध है और दूसरी का दो दिन पश्चात् के  
भोजन से । इसलिये कालवाची शब्द ‘द्वयह’ से सप्तमी या पञ्चमी विभक्ति  
होती है ।

इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत् ( यहाँ स्थित होकर यह  
जो बोध पर स्थित शब्द को धेध देगा )—यहाँ कर्ता और कर्म कारक

विध्येत् । कर्तृकर्मशक्तयोर्मध्येऽयं देशः । अधिकशब्देन योगे सप्तमीपञ्चम्याविध्येते । तदस्मिन्नधिकम् ५।२।४५' इति 'यस्मादधिकम् २।३।६। इति च सूत्रनिर्देशात् । लोके लोकाद्वाधिको हरिः' ॥

११३ । अधिरोश्वरे १।४।६७। स्वस्वामिभावसम्बन्धेऽधिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् ॥

११४ । यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी २।३।६। अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी स्यात् । उप परार्धे हरेर्गुणाः ।

की दो शक्तियों ('अयम् तथा सत्य') के बीच में मार्ग (कोश) है अतः कोश शब्द से सप्तमी या पञ्चमी विभक्ति होती है ।

अधिकशब्देनेति— आचार्य पाणिनि ने "तदस्मिन् अधिकम्०" ५।२।४५ 'इति सूत्र में अधिक' के साथ सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया है और "यस्माद् अधिकम्०" २।३।६ इस सूत्र में 'अधिक' के साथ पञ्चमी का प्रयोग किया है । इस निर्देश से ज्ञात होता है कि अधिक शब्द के योग में सप्तमी और पञ्चमी दोनों विभक्तियाँ दृष्ट हैं । अतएव 'लोके लोकाद् वा अधिको हरिः' (हरि लोक की अपेक्षा श्रेष्ठ है)—यहाँ 'लोके' 'लोकाद्' में सप्तमी और पञ्चमी विभक्ति है ।

११३. अधिरोश्वर इति—स्व और स्वामी के सम्बन्ध को प्रकट करने में 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

११४. यस्माद् इति—जिससे अधिक हो और जिसका स्वामित्व कहा जाये उसने कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति होती है ।

उप परार्धे हरेर्गुणाः—इसका अर्थ है—परार्ध से अधिक अर्थात् संख्यातीत (असंख्य) । परार्ध सबसे बड़ी संख्या को कहते हैं । यहाँ 'उप' कर्मप्रवचनीय संज्ञक है (उपोऽधिके च १।४।८७) । 'परार्ध' से अधिक हरि व गुणों का बचन किया गया है अतः 'उप' के योग में 'परार्ध' में सप्तमी विभक्ति होती है ।

ऐश्वर्ये त्विति—स्वामित्व को प्रकट करने के लिये तो स्व और स्वामी शब्दों में पर्याय से सप्तमी होती है । जैसे—

पूरार्पादिधिका इत्यर्थः । ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायि  
सप्तमी । अधि भुवि रामः । अधि रामे भूः । सप्तमी शीघ्र  
रिति समासपक्षे तु रामाधीना । 'अपडक्ष-५।४।७' इत्यादिना ।

११५ । विभाषा कृञि १।४।६८ । अधिः करोती प्राक्संज्ञो  
स्यादीश्वरेऽर्थे । यदत्र मामधिकरिष्यति । विनियोक्ष्यत इत्यर्थः  
इह विनियोक्तुरीश्वरत्वं गम्यते । अगुतित्वात् 'तिङि चोदात्त  
वति-८।१।७१' इति निघातो न ॥ इति सप्तमी ॥

॥ इति कारकप्रकरणम् ॥

अधि भुवि रामः (राम भूमि के स्वामी है) —यहाँ 'स्व' वाची 'भू'  
शब्द से अधि कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति होती है ।

अधि रामे भूः (भूमि राम की स्व है) —यहाँ स्वामी वाचक 'राम' श  
मे कर्मप्रवचनीय 'अधि' के योग में सप्तमी विभक्ति होती है ।

सप्तमीति—'अधि रामे' इस विग्रह में "सप्तमी शीघ्रः" २।१।४  
इस सूत्र से समास<sup>१</sup> होकर राम + अधि → रामाधि से 'ख' प्रत्यय हो जात  
है 'ख' को 'ईन' होकर रामाधि + ईन = रामाधीन स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' होकर  
"रामाधीना भूः" यह प्रयोग होता है ।

११६. विभाषेति—कृद् धातु परे होने पर 'अधि' की स्व-स्वामिभा  
सम्बन्ध में विषय से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

यदत्र मामधिकरिष्यति (जो यहाँ मुझे नियुक्त करेगा) —यह  
'अधिकरिष्यति' का अर्थ है—विनियोक्ष्यते (नियुक्त करेगा) । यहाँ विनियोक्त  
का स्वामिश्च प्रकट होता है । इसी से 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जात  
है और 'गति' संज्ञा का बाध हो जाता है । गति संज्ञा न होने से "तिङि  
चोदात्तवति" ८।१।७१ इस सूत्र से 'अधि' को निघात (सर्वानुदात्त) नहीं  
होता । 'माम्' में द्वितीया तो कर्म होने से ही सिद्ध है । यह सूत्र अधि के  
निघात-निषेध के लिये है; इसका प्रयोजन स्वर प्रक्रिया में है, कारक में नहीं ।

॥ इति कारकप्रकरणम् ॥

१ अधि शब्द शीघ्रादिगण में पढ़ा गया है ।

२ अपडक्षाशितह्यवतंभमर्तिपुरुषाद्युत्तरपदात्तः । १।४।७





द्वितीयः । प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानतत्पुरुषमृतीय । तत्पुरुषभेदः कर्मधारयः । कर्मधारयभेदो द्विगुः । प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिर्यच्च-

यही प्रायेण इसलिये कहा है कि कहीं-कहीं सम्बन्धीभाव समास में पूर्वपद प्रधान नहीं भी होता, जैसे—‘उन्मत्तगङ्गम्’ (उन्मत्ता गङ्गा यत्रन्जही गङ्गा उन्मत्त है) यही अन्य पदार्थ प्रधान है । (सि० को०)

(३) प्रायेणोत्तरेति—जिसमें प्रायः उत्तरपद का अर्थ प्रधान होता है वह तत्पुरुष समास कहलाता है, यह समास का तीसरा प्रकार है, जैसे—‘राजपुत्रम् भानय’ (राजा के पुत्र को लाओ) यहाँ भानयन (लाना) क्रिया से ‘पुत्र’ का अन्वय होता है, अतः यहाँ पुत्र (उत्तरपद) का अर्थ ही प्रधान है । यहाँ प्रायेण इसलिये कहा है कि कहीं-कहीं तत्पुरुष में उत्तरपद का अर्थ प्रधान नहीं होता जैसे ‘अतिमालः’ (मालाम् अतिक्रान्तः) यहाँ पूर्वपद ‘अति’ का अर्थ प्रधान है । (सि० को०)

तत्पुरुषभेद इति—तत्पुरुष का ही एक भेद कर्मधारय समास है । ‘तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः, १।२।४२॥ कर्मधारय में भी उत्तरपद का अर्थ प्रधान होता है, भेद इतना है कि वहाँ विशेष्य और विशेषण का समास होता है, जैसे—‘नीलम् उत्पलम्’—नीलोत्पलम् ।

कर्मधारयभेद इति—कर्मधारय का एक भेद द्विगु समास कहलाता है । जिस कर्मधारय (विशेष्य विशेषण का समास) समास में पहला पद संख्यावाचक विशेषण होता है, उसे द्विगु कहते हैं (संख्यापूर्वो द्विगुः २।१।५१) जैसे—पञ्चमवम् । यहाँ विशेषण है—पञ्च जो संख्यावाचक है ।

(४) प्रायेणान्येति—जिसमें प्रायः अन्य पद का अर्थ प्रधान होता है वह बहुव्रीहि समास कहलाता है, यह समास का चतुर्थ प्रकार है, जैसे—

“लम्बकण्ठम् भानय” (लम्बे कान वाले को लाओ) यहाँ अन्य पदार्थ प्रधान है । वह अन्य पदार्थ है, लम्बे कान वाला व्यक्तिविशेष । उसी का भानयन क्रिया से अन्वय होता है ।

यहाँ प्रायेण इसलिये कहा गया है कि कहीं-कहीं बहुव्रीहि समास में

सुर्यः । प्रायेणोभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः प्रचलमः ।

११६ । समर्थः पदविधिः २।१।१। पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्थश्रितो बोध्यः ।

११७ । प्राक्कडारात्समासः

२।१।२ कडाराः कर्मधारये इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते ।

११८ । सह सुपा २।१।४ सुप् सुपा सह वा समस्यते । समा-

अन्य पदार्थ प्रधान नहीं भी होता, जैसे—द्विधाः (सि० की०) दो, तीन वहाँ दोनों पदों का अर्थ ही प्रधान है ।

(५) प्रायेणोभयेति—जहाँ समास में प्रायः दोनों पदों का अर्थ प्रधान होता है, वह द्वन्द्व समास कहलाता है । यह समास का पाँचवाँ प्रकार है ।

जैसे—'मातापितरौ सेवस्व, (माता-पिता की सेवा करो), वहाँ दोनों पदों (माता, पिता) का अर्थ प्रधान है, दोनों का ही 'सेवस्व, श्रिवा से सम्बन्ध होता है । यही प्रायेण इत्यनिये कहा है कि 'दन्तोष्ठम्, (सि० की०) घ्रादि समाहार द्वन्द्व में 'समाहार, (समुदाय) अर्थ प्रधान होता है जो कि अन्य अर्थ है ।

टिप्पणी—द्वन्द्व और बहुव्रीहि समास में दो या दो से अधिक पद होते हैं, ऐय समासों में प्रायः दो ही पद होते हैं । तत्पुरुष में भी एक दो रूप पर दो से अधिक पद होते हैं ।

११६ समर्थ इति—यह सम्बन्धी (पद को उद्देश्य करके कही हुई) जो विधि है वह समर्थ पदों में जाननी चाहिये ।

संस्कृत में 'पद' शब्द पारिभाषिक है । सुबन्त और त्रिबन्त को पद कहते हैं समासविधि सुबन्तों को कही गई है, अतः यह पर्याय है । समास समर्थ पदों का ही होता है । समर्थ पद वे कहलाते हैं, जो परस्पर सम्बन्धित होते हैं अर्थात् परस्पर मिलकर अर्थ-बोध कराने का सामर्थ्य रखते हैं । जहाँ पदों में यह सामर्थ्य नहीं होता वहाँ समास आदि नहीं होने, जैसे—

"भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्य" (काण्डिका) यही राज्ञः और पुरुषः परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं । अतः इनका समास नहीं होता ।

११७. प्राक् कडारा इति—कडाराः कर्मधारये । २।२।३८। सूत्र से पहले समास का अधिकार है अर्थात् समास का प्रकरण है ।

११८. सहैति—सुबन्त का सुबन्त के साथ विभक्ति से समास होता है ।

सत्त्वात्प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुक् । परार्थाभिधानं वृत्तिः । कृतद्धित  
समासैकरोपसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः । धृत्यर्थाविबोधकं वाक्य  
विग्रहः स च लौकिकोऽलौकिकश्चेति द्विधा । तत्र पूर्वं भूतो भूतपूर्व  
इति लौकिकः । पूर्वं अम् भूत ॥ इत्यलौकिकः । भूतपूर्वं चरदिति निर्दे-  
शाद् भूतशब्दस्य पूर्वनिपातः । छ(वा) इवेन, समासो विभक्त्यलोपश्च  
वागर्थो इव वागर्थाविधे । इति केवलसमासः ॥१॥

समासत्वाद् इति— समास हो जाने से प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है ।  
(कृतद्धितसमासाश्च १।२।४६।) और प्रातिपदिक संज्ञा हो जाने ॥ 'सुप्' (सु-  
प्रादि विभक्ति) का लोप हो जाता है (सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २।४।७१।)

परार्थेति—अन्य अर्थ (परार्थ) की प्रतीति कराना वृत्ति कहलाता है ।  
प्रत्यय भववा अन्य पद के अर्थ सहित जो विशिष्ट अर्थ हो जाता है, वह परार्थ  
है ।

ये वृत्तिर्मां पाँच हैं —कृत्, तद्धित, समास एकरोप और सनाद्यन्त धातु ।  
(इनमें कृत्, तद्धित और सनाद्यन्त धातु में प्रत्यय के अर्थ सहित विशिष्ट अर्थ  
की प्रतीति होती है तथा समास और एकरोप में अन्य पद के अर्थ सहित विशिष्ट  
अर्थ की प्रतीति होती है)

धृत्यर्थेति—वृत्ति के अर्थ का बोध कराने वाले वाक्य को विग्रह कहते हैं ।  
वह लौकिक (विग्रह) और अलौकिक (विग्रह) भेद से दो प्रकार का है ।

लोक में जिसका प्रयोग होता है उसे लौकिक विग्रह कहते हैं, जैसे—'भूत-  
पूर्वः, समस्त पद का लौकिक विग्रह है— "पूर्वं भूतः, (पहले हुआ) । इस वाक्य  
का लोक में प्रयोग किया जा सकता है ।

अलौकिक विग्रह का अर्थ है— ऐसा विग्रह जिसका लोक में प्रयोग नहीं  
किया जाता केवल व्याकरण जिसका प्रयोग करते हैं, जैसे—'पूर्वं अम् भूत सु'  
यह भूतपूर्व का अलौकिक विग्रह है ।

भूतपूर्वः (पहले हुआ) —'पूर्वं भूतः, इस लौकिक विग्रह में तथा 'पूर्वं अम्  
भूत सु, इस अलौकिक विग्रह में 'सहस्रा' सूत्र से पूर्वम् और भूतः शब्द का  
विकल्प से समास होता है । समास हो जाने पर "कृतद्धितसमासाश्च"

## अथाऽव्ययीभावसमासः ॥२॥

११९ । अव्ययीभावः २।१।१। अधिकारोऽयं प्राक् तत्पुरुषात् ।

१२० । अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिवृद्धयर्थाभावात्पया-  
सम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाच्चयानुपूर्व्ययोगपक्षसादृश्यसम्प्रतिसा-  
कल्यान्तवचनेषु २।१।६। विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन सह

से प्रतिपदिक संज्ञा होकर 'सुपो यातु प्रातिपदिकयोः' से 'यम्' और 'सु'  
विभक्ति का लोप हो जाता है। यही 'भूतपूर्वं कर्त्तृ' इस पाणिनिमूल के  
निर्देश से भूत शब्द को पहले रखना जाता है ('पूर्वनिपात')। जब भूतपूर्व-  
शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होने से सु विभक्ति (प्रथम एकवचन) आकर उसे  
विसर्ग होकर 'भूतपूर्वः' शब्द बनता है।

इवेनेति (भा) — 'इव' के साथ सुबन्त का समास होता है और विभक्ति का  
लोप नहीं होता।

वागर्थाविव — 'वागर्थो इव' इस लौकिक विग्रह में तथा 'वागर्थं भो इव'  
इस अलौकिक विग्रह में 'वागर्थो का 'इव' के साथ समास होता है। यही  
'भो विभक्ति का लोप नहीं होता। यही समास होने का कल है:—(१) एक  
पद होना (२) समास का स्वर हो जाना। इति केवल समास ॥१॥

अथाव्ययीभावः । ११९. अव्ययीभाव इति—तत्पुरुष से पहले अव्ययीभाव  
इस पद का अधिकार है अर्थात् 'तत्पुरुषः' २।१।२२ से पहिले के सूत्रों से जो  
समास होंगे उनकी अव्ययीभाव संज्ञा होगी।

१२०- अव्ययम् इति—(१) विभक्ति, (२) समीप, (३) समृद्धि,  
(४) वृद्धि (ऋद्धि का अभाव), (५) अर्थ (वस्तु) का अभाव, (६) अत्यय  
(ह्वंस), (७) असंप्रति (अनुचित), (८) शब्द की अभिव्यक्ति, (९) पदवात्,  
(१०) यथा, (११) अनुपम, (१२) योग्यपक्ष (एक साथ होना), (१३) सादृश्य,  
(१४) सम्यक्ति, (१५) साकल्य (सम्पूर्णता) तथा (१६) अन्त, इन अर्थों में

१. समास में किसी शब्द को पहले रखना 'पूर्वनिपात' कहलाता है।

नित्यं समस्यते सोऽव्ययीभावः। प्रायेणाविग्रहो नित्यसमासः प्रायेणा-  
स्वपदविग्रहो वा। विभक्तौ। हरि डि अधि इति स्थिते।

१२१। प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्

१।२।४३। समास आत्मे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनसंज्ञं। यात्।

१२२। उपसर्जनं पूर्वम्

२।२।१०। समासे उपसर्जनं प्राक् प्रयोज्यम्। इत्यधेः प्राक् प्रयोगः  
अपो लुक्।

वर्तमान अव्यय का सुबन्त के साथ नित्य समास होता है और वह अव्ययीभाव  
समास कहलाता है।

प्रायेणेति—नित्य समास वह कहलाता है जिसका प्रायः विग्रह नहीं होता  
(अविग्रहः—न विग्रहो यस्य सोऽविग्रहः), यद्यपि प्रायः अपने पदों में विग्रह  
नहीं होता, (न स्येन पदेन विग्रहो यस्य सोऽस्वपदविग्रहः)।

टिप्पणी—नित्य समास का अपने सभी पदों से लौकिक विग्रह नहीं  
होता, अलौकिक विग्रह तो होता ही है, जैसा कि नीचे के उदाहरणों से  
साफ है।

विभक्ताविति—विभक्त्यर्थ में, यही सप्तमी के अर्थ में 'अधि' अव्यय  
है। "हरि डि अधि" इस स्थिति में—

१२१. प्रथमेति—समासोदात्त में (अर्थात् समास-विधायक सूत्रों में)  
प्रथमा से निर्दिष्ट पद उपसर्जन संज्ञक होता है।

भाव यह है कि प्रथमान्त पद से जिसका बोध होता है उसकी उपसर्जन  
संज्ञा होती है; जैसे 'अधर्ष विमर्शः' इस सूत्र में प्रथमान्त पद है—  
'अधर्षम्'। 'अधर्ष' शब्द से 'अधि' आदि अव्ययों का बोध होता है, अतः  
'अधि' आदि की उपसर्जन संज्ञा होती है।

१२२. उपसर्जनम् इति—समास में उपसर्जनसंज्ञक का पूर्व प्रयोग करना  
चाहिये।

इसके अनुसार यही 'अधि' शब्द का पूर्व प्रयोग (पूर्वनिर्वाण) दिया  
गया है।

एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्, प्रातिपदिकसं  
भावश्चेत्यन्यत्वात्सुपो लुक् । अविहरिः

१२३ । अव्ययीभावश्च

२।४।१८ अयं नपुंसकं स्यात् ।

१२४ । नाव्ययीभावादतोऽप्य त्वपञ्चम्याः २।४।८३।

सुपो लुक्-इति—अधि का पूर्वनिपात होने पर 'अधि हरि डि' यहाँ  
“सुपो वातु प्रातिपदिकयोः” से 'डि' (सुप्) का लोप हो गया ।

एकदेशेति—एक देश का अर्थ है-अव्यय (अच) । यदि किसी वस्तु का  
एकदेश (अव्यय) विकृत हो जाये तो वह अन्य नहीं हो जाती; जैसे—  
हाथ कट जाने पर भी देवदत्त नामक व्यक्ति देवदत्त ही कहलाता है । इसी  
न्याय से 'डि' का लोप हो जाने पर भी 'अधि हरि' की प्रातिपदिक १ संज्ञा  
होती है और उससे 'सु' भादि प्रत्यय होते हैं ।

अव्ययीभावश्चेति—'अधिहरि' + सु यहाँ “अव्ययीभावश्च” १।१।४१। इस  
सूत्र से 'अधिहरि' की अव्यय संज्ञा हो जाती है तथा अव्यय से आगे वाले 'सुप्'  
का 'अव्ययादात्सुपः' २।४।८२। से लोप हो जाता है । इस प्रकार 'अधि हरि'  
रूप हो जाता है ।

(१) अधि हरि—'हरी' इस लौकिक विग्रह में 'हरि डि अधि' इस  
आलौकिक विग्रह में 'अव्यय विभक्तिः' भादि सूत्र से विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव  
समाप्त हो जाता है । 'अधि' का पूर्वनिपात और 'डि' का लोप होकर 'अधि  
हरि' समस्त पद से आगे वाले 'सु' का, (अव्यय संज्ञा हो जाने के कारण) लोप  
हो जाता है ।

१२१. अव्ययीभाव इति—यह अर्थात् अव्ययीभाव समाप्त नपुंसकलिङ्ग में  
हो जाता है ।

१२४. नाव्ययीभावविति—अदन्त का अर्थ है—अत् अर्थात् 'अ' (अकार)  
है अन्त में चितके । अकारान्त अव्ययीभाव में परे 'सुप्' का लोप नहीं होता  
तथा पञ्चमी विभक्ति को छोड़कर उसे 'अम्' रूप हो जाता है ।

१- कृतद्वितसमासाश्च । १।१।४६।

अदन्तादभ्ययीभावात्सुपो न लुक् तस्य तु पञ्चमी बिना अमादेशश्च  
स्यात् । गाः पातीति गोपास्तस्मिन्नित्यधिगोपम् ।

१२५ । तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् २।४।८७ अदन्तादभ्ययीभावा-  
त्तृतीयासप्तम्योर्बहुलमम्भाधः स्यात् । अधिगोपम्, अधिगोपेन, अधि-  
गोपे वा । कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम् । उपकृष्णेन । मद्राणां समृद्धिः-

अधिगोपम्—‘गोपाः’ का घञ है ‘गाः पाति इति’ वाचों का पालन  
करने वाला । गोपा में (गोवि=गोत्र स० वि० ए०) इस लौकिक विग्रह  
में तथा ‘गोपा इति अधि’ इस मनोविकृत विग्रह में ‘अभ्ययं विभक्ति०’ आदि  
सूत्र के अनुसार विभक्त्यर्थ में अधि (उत्पत्ती घञ में अभ्यय) का ‘गोपा’ के  
साथ अभ्ययीभाव समास होता है । ‘अधि’ का पूर्व निपात धीर ‘इ’ का लोप  
होकर ‘अधिगोपा’ बनता है । अभ्ययीभाव समास के नपुंसक लिङ्ग में हो जाने  
से गोपा के आ को ह्रस्व (म) हो जाता है । ‘अधिगोप’ शब्द से ‘सु’ प्रत्यय  
भाकर ‘सु’ की उपसृक्त नियम के अनुसार घञ् होकर अधिगोपम् रूप  
बनता है ।

१२५. तृतीयेति—अकारान्त अभ्ययीभाव से परे तृतीया धीर सप्तमी  
विभक्ति की प्रायेण घञ् होता है ।

इस प्रकार अकारान्त अभ्ययीभाव से पञ्चमी विभक्ति में निरप ‘अधि-  
गोपात्’ इत्यादि, तृतीया में ‘अधिगोपेन’ अथवा ‘अधिगोपम्’ आदि सप्तमी में  
‘अधिगोपे’ अथवा ‘अधिगोपम्’ आदि रूप होते हैं । ‘अभ्ययं’ सूत्र के  
क्षेप उदाहरण निम्न प्रकार हैं ।

“(२) उपकृष्णम्—कृष्णस्य समीपम् (कृष्ण के समीप)—इस विग्रह में  
(कृष्ण इत् उप मलौकिक विग्रह) समीपार्थक ‘उप’ अभ्यय का कृष्ण के साथ  
अभ्ययीभाव समास हो जाता है । शेष पहले शब्द के समान है ।

(३) समृद्धम्—मद्राणां समृद्धिः (मद्रदेश के राजाओं की समृद्धि)—इस

१. ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य । १।२।४७।

सुमद्रम् । यवनानां व्युद्धिर्दुर्यवनम् । अक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम् ।  
हिमस्यात्ययोऽतिहिमम् । निद्रा सम्प्रति न युज्यते इत्यतिनिद्रम् । हरि-  
शब्दस्य प्रकाशः-इतिहरि । विष्णोः पश्चाद्व्यनुविष्णु । योग्यताबीप्सा-  
पदार्थानतिप्रसिद्धयानि यथार्थाः ।

विग्रह में समृद्धि अर्थ में 'सु' अव्यय का 'मद्र' शब्द के साथ 'मद्रं नाम सु इति' अव्ययीभाव समास होता है ।

(४) दुर्यवनम्—यवनानां व्युद्धिः (यवनों की दुर्दशा)—इस विग्रह में व्युद्धि अर्थ में 'दुर' अव्यय का 'यवन' शब्द के साथ (यवनं नाम दुर इति) अव्ययीभाव समास होता है ।

(५) निर्मक्षिकम्—मक्षिकाणाम् अभावः (मक्खियों का भी अभाव अर्थात् बिल्कुल एकांत)—इस विग्रह में अभावार्थक 'निर्' अव्यय का मक्षिका (मुबन्त) के साथ (मक्षिकां नाम निर् इति) अव्ययीभाव समास होता है । निर्मक्षिका ऐसा हो जाने पर मनुष्य सित्त्व होने के कारण ह्रस्व होकर निर्मक्षिकम् रूप बनता है ।

(६) अतिहिमम्—हिमस्य अत्ययः (बर्फ की समाप्ति)—इस विग्रह में अत्यय अर्थात् विनाश अर्थ में 'अति' अव्यय का 'हिम' के साथ (हिम इत् अति इति) अव्ययीभाव समास होता है ।

(७) अतिनिद्रम्—निद्रा सम्प्रति न युज्यते (निद्रा इस समय उचित नहीं) इस विग्रह में सम्प्रति (अनोचित) अर्थ में 'अति' अव्यय का 'निद्रा' के साथ (निद्रा इत् अति इति) अव्ययीभाव समास होता है ।

(८) इतिहरि—हरिशब्दस्य प्रकाशः (हरि शब्द का उच्चारण)—इस विग्रह में प्रादुर्भाव (प्रकट करना) अर्थ में 'इति' अव्यय का हरि शब्द के साथ (हरि इत् इति) अव्ययीभाव समास होता है ।

(९) व्यनुविष्णु—विष्णोः पश्चात् (विष्णु के बाद)—इस विग्रह में, पश्चात् अर्थ में वर्तमान 'व्यनु' अव्यय का विष्णु शब्द के साथ (विष्णु इत् व्यनु) समास होता है ।

(१०) योग्यतेति—यथा शब्द के चार अर्थ हैं (क) योग्यता, (ख) बीप्सा,



रूपस्य योग्यमनुरूपम् । अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम् । शक्तिमनतिक्रम्य यथा-  
शक्ति ।

१२६ । अभ्ययीभावे चाकाले । ६।२।२१। सहस्य सः स्यादभ्य-  
यीभावे न काले । हरेः साहस्य सहस्रि । व्येष्टस्यानुपूर्व्येणेत्यनुव्ये-  
ष्टम् । चक्रेण युगपत्सचकम् । सटशः सख्या ससस्त्रि । सूत्राणां सम्प-

(ग) वदार्थानिनिवृत्तिः, (घ) साहस्य । इन चारों अर्थों में विद्यमान अभ्यय का  
सुबन्त के साथ समास होता है, जैसे—

(क) अनुबध्पम्—रूपस्य योग्यम् (रूप के योग्य)—यहाँ योग्यता अर्थ में  
'अनु' अभ्यय का 'रूप के साथ (रूप इन् अनु) अभ्ययीभाव समास होता है' ।

(ख) प्रत्यर्थम्—अर्थम् अर्थं प्रति (प्रत्येक अर्थ में) — यहाँ बीणा (बार  
बार होना) अर्थ में 'प्रति' अभ्यय का 'अर्थ' (सुबन्त) के साथ (अर्थ अन् प्रति)  
अभ्ययीभाव समास होता है ।

(ग) यथाशक्ति—शक्तिम् अननिवम्य (शक्ति का प्रतिवचन न करके अर्थात्  
शक्ति के अनुसार) यहाँ वदार्थानिनिवृत्ति (वस्तु का अतिक्रमण न करना) अर्थ  
में 'यथा' अभ्यय का 'शक्ति' [सुबन्त] के साथ (शक्ति इन् यथा) अभ्ययीभाव  
समास होता है ।

१२६. अभ्ययीभाव इति—'सह' शब्द की 'स' हो जाता है अभ्ययीभाव  
समास में, किन्तु वाक्यान्ती उत्तरवद् होने पर नहीं ।

(घ) सहस्रि—हरेः साहस्यम् (हरि का साहस्य)—यहाँ साहस्य अर्थ में  
'सह' अभ्यय का 'हरि' (सुबन्त) के साथ (हरि टा सह) अभ्ययीभाव समास  
होता है । 'सह' की 'स' हो जाता है ।

(११) अनुव्येष्टम्—व्येष्टस्य अनुपूर्व्येण (व्येष्ट के क्रम से)—यहाँ  
अनुपूर्व्ये (क्रम) अर्थ में 'अनु' अभ्यय का 'व्येष्ट' (सुबन्त) के साथ (व्येष्ट इन्  
अनु) अभ्ययीभाव समास होता है ।

(१२) सचकम्—चक्रेण युगपत् (चक्र के साथ)—इस विद्व में, योपाय  
(एक साथ) अर्थ में वर्तमान 'सह' अभ्यय का 'चक्र' (सुबन्त) के साथ (चक्र

त्तिः सक्षत्रम् । तृणमप्यपरित्यज्य सत्तृणमति । अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते  
सग्निः ।

१२७ । नदीभिश्च

२।१।२०। नदीभिः सह सख्या समास्यते । (वा) समाहारे चाय-  
मिदयते । पञ्चगङ्गम् । द्वियमुनम् ।

टा सह) अभ्ययीभाव समास होता है । 'सह' को 'स' हो जाता है ।

सखि—सह्यः सख्या (सखा के समान)—इस विग्रह में, सादृश्य अर्थ  
में 'सह' अभ्यय का 'सखि' (सुबन्त) के साथ (सखि टा सह) अभ्ययीभाव समास  
होता है । 'सह' को 'स' हो जाता है ।

(१४) सक्षत्रम्—क्षत्राणां सम्पत्तिः (रात्रियों की सम्पत्ति)—इस विग्रह में,  
सम्पत्ति अर्थ में 'सह' अभ्यय का 'क्षत्र' (सुबन्त) के साथ (क्षत्र भिस् सह)  
अभ्ययीभाव समास होता है । 'सह' को 'स' हो जाता है ।

(१५) सत्तृणम्—तृणमपि अपरित्यज्य (तिनके को भी न छोड़कर मर्पात्  
सब कुछ)—इस विग्रह में, साकृत्य (सम्पूर्णता) अर्थ में 'सह' अभ्यय का 'तृण'  
(सुबन्त) शब्द के साथ (तृण टा सह) अभ्ययीभाव समास होता है । 'सह' को  
'स' हो जाता है ।

(१६) सग्निः—अग्निग्रन्थपर्यन्तम् अधीते (अग्निसम्बन्धी ग्रन्थ तक पढ़ता  
है)—इस विग्रह में 'अग्नि' (पर्यन्त) अर्थ में 'सह' अभ्यय का 'सग्नि' (सुबन्त)  
के साथ अभ्ययीभाव समास होता है । 'सह' को 'स' हो जाता है ।

दित्यणी—इस सभी प्रयोगों में अभ्यय का पूर्व प्रयोग, सुप् का लोप तथा  
समस्तपद से होने वाले सु को 'अम्' या उसका लोप धारि होते हैं ।

१२७. नदीभिश्च इति—नदीविशेषवाची शब्दों के साथ संख्यावाची शब्दों  
का समास होता है और वह अभ्ययीभाव समास कहलाता है ।

समाहारे इति(वा)—यह समास समाहार (Aggregate) में इष्ट है मर्पात्  
समस्त पद समाहार का बोधक होता है ।

पञ्चगङ्गम्—पञ्चानां गङ्गानां समाहारः (पाँच गङ्गाओं का समाहार)—  
इस लौकिक विग्रह में तथा 'पञ्चन् बस् गङ्गा बस्' इस धातौकिक विग्रह में,

१२८ । तद्धिताः १७।१।७६। आपञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम् ।

१२८ । अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः १५।४।१०७। शरदादिभ्य-  
ट्च् स्यात्समासान्तोऽव्ययीभावे । शरद्ः समीपमुपशरदम् । प्रति-  
विपाशम् ।

सदी, विशेष वाचक गङ्गा शब्द के साथ संख्यावाचक 'पञ्च' शब्द का समास होता है । (यहाँ संख्या शब्द प्रथमागत है अतः संख्यावाची 'पञ्चन्' शब्द की उपसर्जन संज्ञा हो जाती है । पञ्चन् शब्द का पूर्व प्रयोग होकर टुप् का लोप हो जाता है । पञ्चन् का न् लोप (नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य) से हो जाता है । अव्ययीभाव होने के कारण नपुंसकलिङ्ग होने से गङ्गा को ह्रस्व होकर 'पञ्चगङ्गा' शब्द बनता है । पञ्चगङ्गा + मु → भम् = पञ्चगङ्गम् । इसी प्रकार—

त्रिमुनम्—त्रयोः त्रिमुनयोः समाहारः, (दो त्रिमुनाओं का समाहार) ।

१२८. तद्धिताः इति—इस मूल से लेकर अष्टाध्यायी के पञ्चम अध्याय की समाप्ति तक यह अपिकार है अर्थात् यहाँ तक तद्धित प्रत्यय कहे गये हैं ।

१२९. अव्ययीभाव इति—शरद् आदि शब्दों से अव्ययीभाव समास में समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है । (टच् में से ट् और च् का लोप हो जाता है केवल 'अ' बचता है)

दिप्यली—समास के अन्त में होने वाले प्रत्यय समासान्त प्रत्यय कहलाते हैं । ये तद्धित प्रकरण में हैं । अतः जिन शब्दों के अन्त में ये प्रत्यय होते हैं । उनकी "इति तद्धितसमासावच" से प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है और 'तु' आदि विभक्ति होती है ।

उपशरदम्—शरद्ः समीपम् (शरद् के समीप)—इस विग्रह में, अव्यय विभक्ति आदि मूल से समीप अर्थ में 'उप' अव्यय का शरद् (गुह्य) के साथ 'शरद् इम् उप' समास होता है । 'उपशरद्' से समासान्त टच् (अ) प्रत्यय बनता है । उपशरद् + मु → उपशरद + भम् → उपशरदम् ।

(जराया जरश्च) : उपजरसमित्यादि ।

१२६. (क) । अनश्च १।४।१०८। अत्रन्ताद्व्ययीभावाट् स्यात् ।

(१३०) । नस्तद्धिते १।४।१४४। नान्तस्य भस्य टेलोपः स्यात् तद्धिते । उपराजम् । अभ्यात्मम् ।

प्रतिविपासम्—विपासायाः अभिमुखम् (विपासा नदी की घोर) —इस विग्रह में 'तस्योनाभिप्रतो आभिमुख्ये' (१।१।१४) से प्रति, अभ्यस्य का विपास (भ्यास नदी) के साथ समास होकर, समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है सु→मम् होकर 'प्रतिविपासम्' रूप बनता है ।

जराया इति—(गणमूत्र) —जरा शब्द को जरस् हो जाता है तथा अभ्यसी-भाव में समासान्त टच् प्रत्यय होता है ।

उपजरसम्—जरायाः समीपम् (बुढ़ापे के समीप) —इस विग्रह में 'अभ्यस्य' विभक्त० आदि से समीप अर्थ में 'उप, अभ्यस्य वा 'जरा, (गुबन्त) ' के साथ समास होता है । इस गणमूत्र के अनुसार 'जरा, को जरस् होकर, तथा टच् समासान्त प्रत्यय होकर उपजरस्+म → उपजरस + सु (अम्) = उपजरसम् ।

१२६(क) अत्रन्तेति—अत्र अभ्ययीभाव समास के अन्त में 'अन्' होता है वह अत्रन्त अभ्ययीभाव है (अन् अन्ते यस्य) ; उससे समासान्त टच् प्रत्यय होता है ।

१३०. नस्तद्धितइति—नकारान्त भसंज्ञक की टि का लोप होता है, तद्धित परे होने पर ।

टिप्पणी—यहाँ 'अ, घोर 'टि' कालिनि व्याकरण द्वारा कल्पित संज्ञाये हैं (१) 'अभि, अम् १।४।१०८' सूत्र के अनुसार नकारादि घोर अकारादि मु आदि प्रत्यय परे होने पर पहिले की अ संज्ञा होती है (२) 'अचोऽत्रादि टि १।२।१४' सूत्र के अनुसार किसी शब्द के अन्तिम स्वर(अच्) सहित आये वाक्वा समस्त वाक्वा टि संज्ञक होता है । जैसे 'उपराजन्+घ(टच्)—यहाँ अकारादि (अच्) है आदि में



अथ तत्पुरुषसमासः ॥३॥

१३३ । तत्पुरुषः

२।१।२२ अधिकारोऽयं श्राव्यद्वयीद्वे ।

१३४ । द्विगुश्च

२।१।२३ द्विगुरपि तत्पुरुषसंज्ञकः स्यात् ।

प्राप्य होता है ।

टिप्पणी—(अयं प्रत्याहारः ॥ इसमें बर्णों के बोधे, भीमते, दूसरे तथा पहले प्रत्याहार आते हैं) । १ भज प्रत्याहार आने प्रसारों से से कोई श्रितके अन्त में हो उसे भजन् प्रत्यय कहा जावेगा ।

उपसर्गमिच्छम्—उपसर्गम्—‘समिध, समीपम्’ (समिध के समीप) —इस विषय में समीप अर्थ में ‘उप’ प्रत्यय का ‘समिध’ प्रत्यय के साथ सम्बन्धीभाव समास होता है । जब समानात्म्य ‘टप्’ प्रत्यय हो जाता है तो ‘उपसर्गमिच्छम्’ नहीं तो ‘उपसर्गम्’ कह होता है । इत्यन्वयीभावः ॥२॥

अथ तत्पुरुषः १।१३३. तत्पुरुष इति—बहुव्रीहि से पहले एक तत्पुरुष का अधिकार है अर्थात् ‘तत्पुरुषः २।१।२२’ से ‘येषां बहुव्रीहिः’ २।२।२३ से पूर्व के सूत्रों से जिस समास का विधान किया गया है वह तत्पुरुषमज्ञक होता है ।

१।१४, द्विगुश्चेति—द्विगु समास भी तत्पुरुषमज्ञक होता है । (द्विगु समास की तत्पुरुष संज्ञा समानात्म्य विधि आदि के विवे की गई है) ।

टिप्पणी—तत्पुरुष समास दो प्रकार का होता है—(१) समानाधिकरण (२) अविवरण (१) समानाधिकरण तत्पुरुष में पूर्वपद तथा उत्तरपद की समानता (वचन) विधिति होती है । अविवरण और द्विगु समानाधिकरण तत्पुरुष है । (२) अविवरण तत्पुरुष में पूर्वपद द्वितीया से लेकर तत्पुरुषी विधिति तक में होता है और उत्तरपद वचन विधिति में । जिस विधिति में पूर्वपद होता है उसी नाम से तत्पुरुष कहा जाता है, जैसे कश्चित् द्वय से विहित ‘अथर्व विदः—अथर्वविदः’ आदि द्वितीया तत्पुरुष कहलाता है वहीच वही पूर्वपद है—‘अथर्व’ और वह द्वितीया है ।

१. अथर्व विदः, अथर्वविदः, अथर्वविदः, अथर्व ।

१३५। द्वितीया भितातीतपतिलगतात्यस्तप्राप्तापन्नः २।१।२४।  
द्वितीयान्तं भितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते, स च तत्पुरुषः ।  
कृष्णं भितः कृष्णभितः इत्यादि ।

१३६। तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन २।१।२०। तृतीयान्तं  
तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेनार्थशब्देन च सह वा प्राग्वत् । शङ्कुतया  
खण्डः शङ्कुलाखण्डः ।

१३५. द्वितीयेति—द्वितीयान्त का धित (धाधित), धतीत (धार हृष्वा)  
धनित (गिरा), धन (गया), धारस्त (कँडा हृष्वा), प्राप्त, धावन्न (पाया  
हृष्वा)—इन शब्दों से बने सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है तथा  
वह तत्पुरुष समास बहुमाता है ।

कृष्णधिनः—‘कृष्ण’ धिनः (कृष्ण पर धाधित)—‘कृष्ण धम् धिन  
सु’ इति विग्रह में द्वितीयान्त ‘कृष्ण’ शब्द का धिनः सुबन्त के साथ समास  
होता है । कृष्ण शब्द का पूर्व निगान धीर गृप् का भोग होकर ‘कृष्णधिन’  
यह समस्त पद होता है । इससे प्रथमा के एकवचन में ‘गु’ प्रत्यय होकर  
‘कृष्णधिनः’ बन जाता है ।

इसी प्रकार दुःसातीतः (दुःसम् धनीतः), वृणन्निनः (वृणं धनितः),  
धामगजः (धामं गजः), मुहिनान्तः (मुहिनम् धारस्तः), सुगजान्तः (सुगं  
प्राप्तः) दुःसातान्तः आदि सिद्ध होते हैं ।

टिप्पणी—द्वितीया०, आदि मूल में ‘द्वितीया’ शब्द प्रथमा विभक्ति में  
है । यह विग्रह में धिनः ‘कृष्णम्’ आदि का बोधक है । धनः प्रथमानिदिष्ट  
समास उपनयनम् से ‘कृष्ण’ आदि की उपनयन संज्ञा होकर ‘उपनयनं  
पूर्वम्’ से उपधा पूर्वनिगान (पूर्व प्रयोग) होता है । इसी प्रकार तृतीया समास  
आदि में भी ।

१३६. तृतीयेति—तृतीयान्त शब्द का धन के धर्म से दिये हुए गुणशब्दी  
के साथ तथा धर्म शब्द के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष समास  
बहुमाता है ।

शङ्कुलाखण्डः—‘शङ्कुलया खण्डः’ (संगेते से दिये हुए शब्द) यही

२. यही धर्म शब्द धनशब्द है (दे० धामनयोरथा)

वाग्येनाथो वाग्यार्थः । तत्कृतेति किम् ? अदृष्टा कारः ।

१३७ । कर्तृकरणे कृता बहुलम् । २११/२२ । कर्तरि करणे च  
तृतीया कृन्तेन बहुलं प्राग्वत् । हरिणा वातो हरिप्रागः । नरोभिन्नो

नर' गुणवाचक है और यह तृतीया के धर्म 'अद्-बुला' से किया हुआ है, यत्न प्रत्युत मूल से समास होता है । 'अद्-बुला टा लङ् मु' इस धातुविक्रिद विग्रह में 'अद्-बुला' धातु का पूर्व निधान, मूल लोप होकर 'अद्-बुलालङ्' सम्प्रत्यय बनना है । इससे प्रथमा एकवचन में 'अद्-बुलालङ्' ।

वाग्यार्थः—वाग्येन धर्मः (वाग्य से धर्म)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'वाग्य टा धर्म मु' इस धातुविक्रिद विग्रह में तत्पुरुष समास होता है ।

तत्कृतेति किम् इति—मूल में 'तत्कृत' 'यत्न तृतीयान्न का किया हुआ) यह क्यों कहा ? इसलिये कि यहाँ तृतीयान्न (धर्म) का दिया हुआ गुणवाचक नहीं यहाँ समास नहीं होता ।

इस प्रकार 'अदृष्टा कारः' में समास नहीं होता, क्योंकि वातान्न 'अलि का किया हुआ नहीं ।

१३७. कर्तृकरण इति—कर्ता और करण से जो तृतीया उस तृतीयान्न धर्म का कृन्तन के साथ बहुला समास होता है और यह तत्पुरुष समास कहना है ।

हरिप्रागः—'हरिणा वातः' (हरि से वात) —इस लौकिक विग्रह में तथा 'हरि टा वात मु' इस धातुविक्रिद विग्रह में तत्पुरुष समास हो जाता है । (यहाँ 'हरिणा' में कर्ता में तृतीया है तथा 'वात' धर्म कृन्तन है जो 'वा' वाग्य से 'क' कर्तव्य होकर बना ॥) । समास कार्य पूर्ववत् ।

नरोभिन्नः—नारोः धर्मः (नारो से धर्म) —इस लौकिक विग्रह में तथा 'नारो धर्म मु' इस धातुविक्रिद विग्रह में तत्पुरुष समास होता है । (यहाँ 'नारो' में करण में तृतीया है और 'धर्म' धर्म कृन्तन है, जो 'भिन्' ध मु से ल प्रत्यय होकर बना ॥) ।



नलभिन्नः । “कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वत्वाऽपि ग्रहणम्” नलनिर्मिन्नः ।

१३८ । चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ॥२॥१३६॥

चतुर्थ्यन्तार्थाग यत् तद्वाचिना अर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत् । यूपाय दारु यूपदारु । तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्टः तेनेह न-रन्धनाय स्थानी ।

कृद्ग्रहण इति (प०) — कृदन्त के ग्रहण में गति और कारक पूर्वक (कृदन्त) का भी ग्रहण होता है, अर्थात् जो कार्य कृदन्त को कहा जाता है वह गति (घ, परा आदि) और कारक (कर्म आदि) जिसके बहल हो ऐसे कृदन्त की भी होता है । इसका फल यह होना है कि तृतीयान्त ‘नल’ का निर्भिन्न शब्द के साथ भी समास हो जाता है । यहाँ ‘निभिन्न’ शब्द में निर गति संज्ञक है और उपयुक्त परिभाषा से कृदन्त के ग्रहण से इनका भी ग्रहण हो जाता है । इस प्रकार नलनिभिन्नः यह समस्त पद बनता है ।

१३८. चतुर्थीति—चतुर्थ्यन्त का अर्थ है—चतुर्थी है अन्त में जिसके । चतुर्थ्यन्त के अर्थ के लिए जो वस्तु हो उसके वाचक शब्द तथा अर्थ, बलि, हित, सुख और रक्षित इन शब्दों के साथ चतुर्थ्यन्त का विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है ।

यूपदारु—यूपाय दारु (यज्ञस्तम्भ के लिये काष्ठ) —इस लौकिक विग्रह में तथा ‘यूप छे, दारु सु’ असौकिक विग्रह में यूप शब्द का दारु शब्द से तत्पुरुष समास होता है । यहाँ ‘दारु’ (काष्ठ) चतुर्थ्यन्त (यूपाय) के अर्थ यूप [यज्ञस्तम्भ] के लिये है ।

तदर्थनेति—सूत्र में ‘तदर्थ’ से प्रकृतिविकृतिभाव इष्ट है । प्रकृति का अर्थ है—उपादान कारण और विकृति का अर्थ है—कार्य । भाव यह है कि जहाँ चतुर्थ्यन्त का अर्थ [पदार्थ] कार्य हो और उत्तरपद का अर्थ उसका उपादान कारण [प्रकृति] हो वहाँ यह समास होता है, जैसे उपर्युक्त उदाहरण में ‘दारु’ (सकड़ी) प्रकृति है उससे यूप बनता है और ‘यूप’ उत्तरी विकृति है । इसी प्रकार ‘घटपृष्ठिका’ ‘घट-तन्तवः’ आदि में । किन्तु

ॐ (वा) अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम् ॥  
द्विजार्थः सूयः । द्विजार्था यथायूः । द्विजार्थं पयः । भूतवलिः । मोहितम् ।  
गोमुखम् । गोरक्षितम् ।

१३६. पञ्चमी भयेन । २।१।३७ चोराद् भयं चोरभयम् ।

‘रन्धनाय स्थाली’ (रांधन के लिये देवची) यहाँ स्थाली रन्धन का उदादान  
कारण नहीं, अतः यहाँ यह समास नहीं होता ।

अर्थेनेति ‘वा’—अर्थे शब्द के साथ नित्य समास होता है । तथा समस्तपद  
का विशेष्य के समान लिङ्ग होता है ।

द्विजार्थः सूयः—द्विजाय भयम् इति द्विजार्थः (यह द्विज के लिये है)—यहाँ  
नित्य समास होने से अपने पदों में लौकिक विग्रह नहीं होता (मत्स्वरविग्रहः) ।  
‘द्विज डे ययं मु’ यह अनौकिक विग्रह है । तत्पुरुष समास होकर ‘द्विजार्थं’  
समस्त पद होता है । इसका विशेष्य के समान लिङ्ग हो जाने से ‘द्विजार्थः सूयः’  
(द्विज के लिये दाल) । (‘सूय’ शब्द पुल्लिङ्ग है) यह प्रयोग होता है—

इसी प्रकार ‘द्विजाय दधम्’ ‘द्विजार्था यथायूः’ (ब्राह्मण के लिये सप्ती)  
(स्त्रीलिङ्ग), द्विजाय दधम् ‘द्विजार्थं पयः’ (ब्राह्मण के लिये दूध) (नपुंसक  
लिङ्ग) होता है ।

इसी प्रकार भूतवलिः—भूतेभ्यः वलिः (भूतों के लिये बलि),  
मोहितम् गोमयः हिमम् (गावों के लिये हितकर),  
गोमुखम्—गोमयः मुखम् (गावों के लिये मुखर),

गोरक्षितम्—गोमय रक्षितम् (गावों के लिये रक्षित दूध), आदि में बहुव्रीहि  
तत्पुरुष समास होता है ।

१३६. पञ्चमीति—पञ्चम्यस्त का अग्रशापक सुबन्त के साथ विभक्त्य से  
समास होता है और यह तत्पुरुष समास रहता है ।

चोरभयम्—चोराद् भयम् (चोर से भय)—इस लौकिक विग्रह में तथा  
‘चोर इति भयम्’ इस अनौकिक विग्रह में चोराद् (पञ्चम्यस्त) का ‘भयम्’ के  
साथ समास हो जाता है ।

१४०। स्तोकांतिकदूराथंकृच्छ्राणि क्तेन । २। १। १६।

१४१। पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः । ६। ३। २। अनुगुत्तरप  
स्तोकांमुक्तः । अन्तिकादागतः । अभ्याशादागतः । दूरादागतः । कृच्छ  
दागतः ।

१४२। पष्ठी । २। २। ८। सुबन्तेन प्राग्वत् । राजपुरुषः ।

१४३। पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे २। २। १।

१४०. स्तोकेति—स्तोक [चोड़ा] अन्तिक [तमीप] घोर दूर इन अर्थों ।  
[चोड़ा] तथा कृच्छ्र इन पञ्चम्यास्त पदों का एक प्रत्ययान्त गुणस्त के साथ सम्  
होता है घोर वह तत्पुरुष समाप्त कहलाता है ।

१४१. पञ्चम्याः इति—स्तोका आदि शब्दों में उत्तरपद परे रहने पञ्च  
विभक्ति का मुह [मोह] नहीं होता ।

स्तोकांमुक्तः—स्तोकात् मुक्त [चोड़े से मुक्त हुआ]।

अन्तिकादागतः—अन्तिकादात् आगतः (वात से आया हुआ),

अभ्याशादागतः—अभ्याशान् आगतः (वात से आया हुआ),

दूरादागतः—दूरान् आगतः (दूर से आया हुआ),

कृच्छ्रादागतः—कृच्छ्रान् आगतः [कष्ट से आया हुआ]—इन तमीपगी  
में उपर्युक्त मूल से पञ्चमी तत्पुरुष समाप्त होता है तथा पञ्चमा विभक्ति ।  
अनुक्त [मोह का अभाव] होता है ।

१४२. पष्ठीति—पष्टपञ्च पद का मुख्य के साथ समाप्त होता है घोर ।  
[पष्ठी] तत्पुरुष कहलाता है ।

राजपुरुष —‘राजः पुरुषः’ [राजा का पुरुष]—इन मौखिक विषय में तो  
‘राजन्’ उन् पुरुष मु’ इन मौखिक विषय में पष्ठी तत्पुरुष समाप्त होता है  
मूल का मुह होकर ‘यु’ मोह होता है तथा राजपुरुष समाप्त पद बनता है

पुर्वेति—पुरुष में एकदेशी का अर्थ है—अथवा ‘एकदेशीभ्यामिति’ एष  
देश कहते हैं अथवा को । एकाधिकरण का अर्थ है—एक अर्थ [एक] । १।  
अपरा—पुर्व [आगे का] अपर [पीछे का], अपर [नीचे का] तथा दल

अवयविना सह पूर्वद्वयः समस्यन्ते एकत्वसङ्ख्याविशिष्टश्चेदवयवी ।  
पठ्ठीसमासापवादः । पूर्वं कायस्य पूर्वकायः । अपरकायः । एका-  
धिकरणे किम् ? पूर्वश्छात्राणाम् ।

१४४। अर्धं नपुंसकम् २।२।२। समांशवाच्यर्धशब्दो नित्यं  
कलीषे प्राग्वत् । अर्धे पिप्पल्या अर्धपिप्पली ।

(ऊपर का) — इन पदों का अवयवी वाचक शब्दों के साथ समास होता है यदि  
अवयवी एकरव संख्यायुक्त हो, अर्थात् 'एक' हो ।

बड़ी समासेति—यह पठ्ठी समास का अपवाद है । इस सूत्र से समास  
विधान करने के कारण शब्दों के 'पूर्वप्रयोग' (पूर्वनिपात) में भेद हो जाता है,  
जैसे—'पूर्वं कायस्य' यहाँ 'पठ्ठी' समास होता तो 'काय' का पूर्वनिपात होता  
किन्तु प्रस्तुत सूत्र से समास होने पर 'पूर्वं' शब्द का पूर्वनिपात होता है क्योंकि  
समास धातु में 'पूर्वं' इत्यादि प्रथमा निर्दिष्ट है ।

पूर्वकायः—पूर्व कायस्य (शरीर का अग्रभाग) — इस लौकिक विग्रह में  
तथा 'पूर्वं धम् काय इत्' इस अलौकिक विग्रह में उपयुक्त सूत्र ॥ तत्पुरुष  
समास होता है । यहाँ 'काय' एकरव संख्यायुक्त अवयवी है और पूर्व उसका  
अवयव है ।

इसी प्रकार अपरकायः—'अपरं कायस्य' (शरीर का पिछला भाग) ।

एकाधिकरणे किम् इति—सूत्र में एकाधिकरणे कहने का क्या अभिप्राय  
है ? यह कि जहाँ अवयवी बहुत संख्यायुक्त होगा वहाँ समास नहीं होगा,  
जैसे 'पूर्वश्छात्राणाम्' (छात्रों का पूर्व भाग) यहाँ समास नहीं होता, क्योंकि  
छात्र एक नहीं अनेक हैं ।

१४५. अर्धम् इति—'समान भाग' इस अर्ध का वाचक 'अर्ध' शब्द है, जो  
नित्य नपुंसक लिङ्ग में होता है; उसका एकत्व संख्यायुक्त अवयवी के साथ  
समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है ।

अर्धपिप्पली—अर्ध पिप्पल्याः (पीपली का अर्ध भाग) — इस लौकिक विग्रह  
में तथा अर्ध धम् पिप्पली इत्, इस अलौकिक विग्रह में उपयुक्त सूत्र से समास

१४५। सप्तमी शीण्डैः २।१।४०। सप्तम्यन्तं शीण्डादिभिः प्राग्वत्। अक्षेषु शीण्डः अक्षशीण्डः इत्यादि। द्वितीयातृतीयेत्यादियोग-विभागाद्यत्रापि तृतीयादिविभक्तीनां प्रयोगवशात्समासो होयः।

१४६। दिक्मङ्ख्ये संज्ञायाम् २।१।५०। सहायामेवेति निय-

होता है। मध्यं शब्द का पूर्व निपात होकर 'अयंपिप्पली' सम्य बनता है (यहाँ तत्पुरुष में पूर्व पद प्रधान है)।

१४५.सप्तमीति—सप्तम्यन्त का शीण्ड आदि शब्दों के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

मध्यशीण्डः—मध्येषु शीण्डः (पासे फँकने में चतुर)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'मध्यं मुप् शीण्डं मु' इस भौतिक विग्रह में तत्पुरुष समास होता है। यहाँ सप्तम्यन्त का पूर्वप्रयोग होता है।

द्वितीयेति—('द्वितीया श्रितातीत०' आदि समासविधायक सूत्रों में) द्वितीया तृतीया इत्यादि योग-विभाग करने से प्रयोग के अनुसार अग्यत्र (उक्त स्थानों से भिन्न स्थानों में, भी तृतीया आदि विभक्तियों का समास जानना चाहिये, अर्थात् जिन शब्दों में द्वितीया आदि समास कहा गया है, उनसे भिन्न शब्दों में भी कहीं कहीं शिष्ट प्रयोग के अनुसार समास समझना चाहिये।

१४६.दिवसंख्ये इति—संज्ञा के विषय में दिशावाचक शब्दों का समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

टिप्पणी—सप्तमी शीण्डैः १४५ तक व्यधिकरण तत्पुरुष दिश्याया गया है जैसा कि उदाहरणों से स्पष्ट है इसमें पूर्वपद और उत्तर पद भिन्न भिन्न विभक्ति में हैं। सूत्र १४६ से लेकर "उपमानानि सामान्यवचनैः" तक उपमानादि करण तत्पुरुष समास दिखलाया जा रहा है। इसमें पूर्वपद तथा उत्तरपद समान विभक्ति में होता है।

मार्थं सूत्रम् । पूर्वेषुकामशमी । सप्तर्षयः । तेनेह न । उत्तरा शृत्ताः ।  
पञ्च ब्राह्मणाः ।

१४७ । तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च २१ ११ ५१ ।  
तद्धितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः समाहारे च वाच्ये दिक्सङ्ख्ये  
भावत् । पूर्वभ्यां शालायां भवः पूर्वा शाला इति समासे जाते ।

पूर्वेषुकामशमी—‘पूर्वा इषुकामशमी’ इस लौकिक विग्रह में तथा ‘पूर्वा  
सु इषुकामशमी सु’ इस ध्वनीकिक विग्रह में प्रकृत सूत्र से तत्पुरुष समास होता  
है । ‘पूर्वेषुकामशमी’ प्राचीनकाल के किसी ग्राम का नाम है ।

सप्तर्षयः—‘सप्त ष से ऋषयः’ इस ध्वनीकिक विग्रह में तथा ‘सप्त  
जस् ऋषि जस्’ इस ध्वनीकिक विग्रह में तत्पुरुष समास होता है । संख्यावाचक  
का पूर्वनिपात, सुप् लुक् होकर सप्तवि से प्रथमा के बहुवचन में ‘सप्तर्षयः’ रूप  
होता है ।

संज्ञायाम् इति—संज्ञा में ही दिवावाची और सखावाची का समास  
होता है । इस प्रकार के नियम के निम्ने यह सूत्र है, ध्वन्या समास तो ‘विशेषण’  
विशेष्येण बहुलम् ५।१।५७। से सिद्ध ही था । इस नियम के कारण यहाँ  
समास नहीं होता; जैसे—‘उत्तरा शृत्ताः’ ‘पञ्च ब्राह्मणाः’ क्योंकि यहाँ संज्ञा  
नहीं है ।

१४७ तद्धितेति—तद्धितार्थ के विषय में, उत्तरपद परे होने पर  
और यदि समाहार वाच्य हो तो दिवावाचक और संख्यावाचक शब्दों का  
समानाधिकरण मुख्य के साथ समास होता है और यह तत्पुरुष समास  
कहलाता है ।

पूर्वस्याम् इति—यह तद्धितार्थ के विषय में उदाहरण है । ‘पूर्वस्यां शालायां  
भवः’ (पूर्व शाला में होने वाला) यहाँ ‘भवः’ ‘ने वाला’ यह  
तद्धितार्थ है । इस नियम में ‘पूर्व’ के समास  
होकर, सुप् का लोप

४४ (वा) सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुं वद्भावः ।

१४८ । दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ज्ञः ॥४॥१॥१०॥ अत्रमाद् भवाद्यर्थे  
ज्ञः स्यादसंज्ञायाम् ।

१४९ । तद्धितेष्वचामादेः । ७॥१॥११॥ चिति चिति च तद्धितेष्व-  
चामादेरघो वृद्धिः स्यात् । यद्येति ॥ । पौर्वशात् ।

सर्वनाम्न इति (वा) — सर्वनाम की वृत्ति मात्र में पुं वद्भाव हो जाता है ।  
पीछे कहा गया है कि कृतद्धित समास आदि पाँच वृत्तियाँ कहलाती हैं ।  
उनमें इस नियम से सर्वनाम स्त्रीलिङ्ग शब्दों का पुंस्लिङ्ग के समान रूप हो  
जाता है (पुं वद्भावः) । यहाँ समास वृत्ति है अतएव 'पूर्वशाला' में 'पूर्वा' को  
पुं वद्भाव होकर उसमें स्त्रीत्वबोधक 'दाप्' प्रत्यय नहीं रहता और 'पूर्वशाला'  
बन जाता है ।

१४८. दिक् पूर्वेलि — जिसमें दिशावाचक पूर्वपद होता है ऐसे शब्द से भव  
(होने वाला) अर्थ में 'ज' प्रत्यय होता है यदि संज्ञा न हो ।

'ज' में 'जृ' की इत् संज्ञा होकर उसका शेष हो जाता है और 'म' शेष  
रहता है । इस प्रकार 'पूर्व शाला म' इस स्थिति में —

१४९. तद्धितेष्विति — जित् और शित् तद्धित परे होने पर अर्धों में आदि  
अच् को वृद्धि होती है ।

जित् का अर्थ है — 'ज' है इत् संज्ञक जिसमें । यही 'म' प्रत्यय जित् तद्धित  
है अतः पूर्व शाला 'म' में 'जू' के ऊ (आदि अच्) को वृद्धि होकर 'मी' हो  
जाता है । 'पौर्वशाला + म' में 'यस्येति च' ३॥४॥१४८ से 'सा' के आ का लोप  
हो जाता है और 'पौर्वशाला' शब्द से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'पौर्वशालः'

पौर्वशालः — 'पूर्वस्थां शालायाम् भवः' (पूर्व शाला में उत्पन्न हुआ) —  
इस लौकिक विषय में तथा 'पूर्वां जि शाला जि' इस अलौकिक विषय में  
(तद्धितार्थोत्तरपरममाहारे च) तद्धितार्थ में उत्पन्न समास होता है । सुप् का  
लोप होकर 'पुंर्वशाला' शब्द में पूर्वा को पवद्भाव तथा पुर्वशाला शब्द से

पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ ङ(वा) द्वन्द्वतत्पुरुषयोत्तरपदे  
निरयसमासवचनम् ।

१५० । गोरतद्धितलुकि १।४।६२। गोऽन्तात्तत्पुरुषाट्ठच् स्यात्  
समासान्तो न तु तद्धितलुकि । पञ्चगवधनः ।

(दिक्पूर्वपदादसंज्ञायाम्) : 'अ' तद्धित प्रत्यय हो जाता है । 'पूर्वशासा + ध  
(अ)' इस दशा में प्रादि वृद्धि ऊ को धो तथा 'यस्येति ध' से लकार के प्रागे  
वाले प्राकार का लोप होकर 'पूर्वशास' शब्द बनता है उससे प्र० एक० में  
पूर्वशासः ।

पञ्च गावो धर्मं यस्य (पाँच गावें हैं धन जिसका) — इस तीन पदों के  
बहुव्रीहि समास में — उत्तरपद (धनम्) परे रहते 'पञ्चन्' और 'यो' शब्दों  
का विकल्प से तत्पुरुष समास प्राप्त होता है —

द्वन्द्वेति (वा) — द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में उत्तरपद परे रहने पर निरय  
समास कहना चाहिये ।

इस वार्तिक से यहाँ तत्पुरुष समास निरय होता है । युप् का लोप होकर  
तथा न् का लोप होकर पञ्च गो धन' इस स्थिति में —

१५० गोरिति — जिसके अन्त में गो शब्द हो, ऐसे तत्पुरुष से टच्  
समासान्त प्रत्यय होता है किन्तु तद्धित का लुक् (लोप) हो जाने पर नहीं  
होता ।

'टच्' में से 'ट्' और 'च्' चले जाते हैं 'अ' रहता है । इससे 'टच्' प्रत्यय  
होकर 'पञ्चगो + ध + धन' इस स्थिति में 'यो' को 'ध' होकर 'पञ्चगवधन',  
शब्द बनता है ।

पञ्चगवधनः — 'पञ्च गावो धर्मं यस्य' (पाँच गावें हैं धन जिसका) — इस  
अलोकि विग्रह में तथा 'पञ्चन् जस् गो जस् धनं तु' इस अलोकि विग्रह  
में बहुव्रीहि समास होने पर उत्तरपद परे रहने पञ्च और गो शब्द का निरय  
तत्पुरुष समास होता है । युप् का लोप होकर तथा न् लोप होकर 'पञ्चगोधन'



१५१ । तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १।२।४२।

१५२ । सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः । २।१।५२। तद्वितार्थेत्यत्रोक्तस्त्रिविधः  
सङ्ख्यापूर्वा द्विगुसंज्ञः स्यात् ।

१५३ । द्विगुरेकवचनम् २।४।१। द्विग्वर्थः समाहार एकवत् स्यात् ।

१५४ । स नपुंसकम् २।४।१७। समाहारे द्विगुद्वन्द्वश्च नपुंसकं  
स्यात् पञ्चानां गद्यां समाहारः पञ्चगवम् ।

इस प्रवस्था में 'पञ्चगो' से समासान् टच् प्रत्यय होकर ओ को भव् ही जाता है और पञ्चगवचन शब्द से प्रथमा के एकवचन में 'पञ्चगवचना' रूप आता है ।

१५१. तत्पुरुष इति—समानाधिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय समा होती है ।

समानाधिकरण का अर्थ है—समान है अधिकरण (साधारण अथवा विशेष) जिनका । जहाँ पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों समान अर्थात् एक वस्तु लिये ही आते हैं, वह तत्पुरुष समानाधिकरण कहलाता है जैसे—'नीलपु-लम्'—नील च तद् उत्पलम् (नीला है जो उत्पल) — यहाँ 'नीलम्' तथा 'उत्पलम्' एक ही वस्तु को प्रकट करते हैं तथा पूर्वपद और उत्तरपद निम्न समान विभक्ति वाले ही होते हैं ।

१५२. संख्यापूर्व इति—'तद्वितार्थे' इस सूत्र में उक्त तीन प्रकार के समा में यदि पूर्वपद संख्यावाची होता है तो वह द्विगु समा कहलाता है ।

१५३. द्विगुरिति - द्विगु समास का अर्थ समाहार (समुदाय) एकवचन में, है ।

१५४. स इति—समाहार में द्विगु और द्वन्द्व समास नपुंसकलिङ्ग है ।

पञ्चगवम्—'पञ्चानां गद्यां समाहारः' (पाँच गायों का समुदाय)—  
गौत्रिक विग्रह में तथा 'पञ्चन् ग्राम् नो ग्राम्' इस धातौकिक विग्रह में

१५५। विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २।१।१७ भेदकं भेदेन  
समानाधिकरणेन बहुलं प्राप्नोति । नीलमुत्पलं नीलोत्पलम् । बहुलप्रह-

‘तद्विधायकं’ से समाहार अर्थ में समास होता है। सूष् का लुक् होकर ‘पञ्चन् गो’ इस अवस्था में ‘न्’ लोप तथा समाधान्त टच् प्रत्यय (गोरतद्विधायक) हो कर—पञ्च गो+अ (टच्) ओकार का घञ् आदेश होकर—पञ्चगव् बग जाता है। द्विगु संज्ञा होने से एकवचन तथा लघुसकलिङ्ग होकर प्रथमा विभक्ति के एकवचन में ‘पञ्चगवम्’ रूप होता है।

१५५. विशेषणम् इति—विशेषण का विशेष्य के साथ बहुलता से समास होता है और वह कर्मधारय समास कहलाता है।

विशेषण का अर्थ है—भेदक; जो समान वस्तुओं में भेद करता है; जैसे—‘कृष्ण गोः’ यहाँ कृष्ण शब्द ‘गो’ को अन्य (श्वेतादि) गायों से भिन्न रूप में बतलाता है। जिसकी विशेषण (भेद) बगलाई जाती है वह विशेष्य या भेद कहा जाता है; जैसे ऊपर के उदाहरण में ‘गो’ विशेष्य है।

नीलोत्पलम्—‘नीलम् उत्पलम्’ (नीला कमल)—इस लौकिक विग्रह में तथा ‘नीलं सू उत्पलं सू’ इस अलौकिक विग्रह में। विशेषण (नीलम्) और विशेष्य (उत्पलम्) का समास होता है। इसमें विशेषणवाची शब्द का पूर्वं निपात होता है (वही समास-शास्त्र में प्रथमानिदिष्ट है—‘विशेषणम्’ इति १) लोप पूर्ववत्।

बहुलप्रहणाद् इति—सूत्र में ‘बहुल’ शब्द के ग्रहण से वही वही यह समास निरूप भी हो जाता है। ‘बहुल’ शब्द का अर्थ है ‘बहुन् घञन् लाति’ (जो बहुत से अर्थों को प्राप्ति कराता है)। इसके प्रयोग से चार प्रकार के अर्थ आते हैं\* (१) कहीं कोई नियम (निरूप) लग जाता है। (२) वही विस्तृत नहीं लगता। (३) कहीं विकल्प से लगता है। (४) वही कुछ अन्य (सूत्र से अप्रामाण्य) कार्य भी कर देता है।

\*अचित् प्रवृत्तिः अचिदप्रवृत्तिः अचिद् विभावा अचिदन्त्यदेव ।

विशेषिणं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुल्यकं वदन्ति ॥

एतान् कवचिन्नित्यम् कृष्णसर्पः ।—कवचिन्न—रामो जामदग्न्यः ।

१५६ । उपमानानि सामान्यवचनैः । १२।१।२१। घन इव श्यामो घनश्यामः । •(वा) शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपरयोपसङ्ख्यानम् ॥ शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः । देवपूजको माझणो देवमाझणः ।

कृष्णसर्पः—(काला सर्प) 'कृष्ण सु सर्व सु' इस अलौकिक विग्रह में विशेषण विशेष्य का समान (कर्मधारय) होता है । यहाँ (बाहुलकात्) यह समास नित्य ही होता है । 'कृष्णसर्प' नाम की सर्पों की जातिविशेष है उसके लिए 'कृष्णः सर्पः' ऐसा विग्रह वाक्य प्रयुक्त नहीं होता ।

रामो जामदग्न्यः—बहुल ग्रहण करने से ही यहाँ उभयपुंक्त नियम से समास नहीं होता (२ कवचिद् भ्रमप्रवृत्तिः) ।

१५६. उपमानानि—उपमानवाचक सुबन्तों का समानधर्मवाचक शब्दों के साथ समास होता है और वह कर्मधारय (तत्पुरुष) समास कहलाता है ।

जिससे किसी की समता दिखलाई जाती है वह उपमान कहलाता है और जिस धर्म के कारण समानता दिखलाई जाती है वह सामान्यवचन या समानधर्म कहलाता है ।

घनश्यामः—घन इव श्यामः (घन के समान श्याम)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'घन सु श्याम सु' इस अलौकिक विग्रह में प्रस्तुत सूत्र से उपमानवाचक 'घन' शब्द का समानधर्मवाचक 'श्याम' शब्द के साथ समास होता है ।

यहाँ लौकिक विग्रह में 'इव' द्वारा यह प्रकट होता है कि 'घन' शब्द सहायक द्वारा घनसदृश को कहता है । इसलिये 'घन' शब्द का 'श्याम' शब्द के साथ सामानाधिकरण्य है ।

शाकेति (वा)—शाकपार्थिव आदि समासों की सिद्धि के लिए उत्तरपद का लोप भी हो जाता है ।

शाकपार्थिवः—शाकप्रियः पार्थिवः (शाक में रवि रखने वाला

१५७ । नञ्।रा।रा। नञ् सुपा सह समस्यते ।

१५८ । नलोपो नञः ॥६३॥७२॥

नञो नस्य लोपः स्यादुत्तरपदे । न ब्राह्मणः अजाह्वणः ।

१५९ । तस्मान्नुडचि । ६३॥७४॥ लुपनकारान्नञ उत्तरपदस्या-  
जादेर्नुडागमः स्यात् । अनदवः ।

राजा) — इस लौकिक विग्रह में तथा 'शाकप्रिय सु पायिव सु' इस भ्रूलौकिक विग्रह में विशेषण विशेष्य का समास होकर उपसृक्त वाचिक से 'शाकप्रिय' के उत्तरपद 'प्रिय' का लोप हो जाता है । इसी प्रकार 'देवपूजको ब्राह्मणः' में 'पूजक शब्द का लोप होकर 'देवब्राह्मणः' शब्द बनता है ।

१५७. नञ् — नञ् का सुबन्ध के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष (नञ् तत्पुरुष) समास कहलाता है ।

१५८. नलोप इति — नञ् के न का लोप हो जाता है उत्तरपद परे होने पर ।

अजाह्वणः — न ब्राह्मणः (ऐसा व्यक्ति जो ब्राह्मण नहीं है अर्थात् ब्राह्मण से भिन्न और ब्राह्मण सहस्य) — इस लौकिक विग्रह में तथा 'न ब्राह्मण सु' इस भ्रूलौकिक विग्रह में 'नञ्' का 'ब्राह्मण' के साथ समास होता है । 'न' का लोप होकर न + ब्राह्मण → अजाह्वणः रूप होता है ।

१५९. तस्माद् इति — भिन्न नञ् के नकार का लोप हुया हो उससे परे अजादि उत्तरपद हो तो तसे नुड का आगम हो जाता है ।

'नुड' में ट की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है । उकार उच्चारण के लिये है । अतः 'नु' रूप रहता है और वह उत्तरपद के आदि में रहता जाता है ।

अनदवः — न अवः (ऐसा प्राणी जो अव न हो) — इस लौकिक विग्रह में तथा 'न अव सु' इस भ्रूलौकिक विग्रह में नञ् समास होकर न् का लोप हो जाता है । 'न + अव' इस अवस्था में उपसृक्त नियम के अनुसार नुड का आगम होकर न + नु + अव → अनदव समस्त पद होता है । इसके प्र० एक० में अनदवः, ।

नेकचेत्यादी तु नशब्देन सह 'सुप सुपे'ति समासः ।

१६० । कुगतिप्रादयः । २।२।१५।

एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते । कुत्सितः पुरुषः कुपुरुषः ।

१६१ । ऊर्पादिच्चिह्वाचश्च । १।५।६१। ऊर्पादयः कश्यप

नैष्या — न एष्या इय विग्रह में 'न' शब्द के साथ 'एष्या' शब्द के 'सुप सुप' से समास होना है । यह 'केवय समास' के समतर्गत होगा, भव्यत्पुरुष समास के नहीं । 'नञ्' का 'एष्या' के साथ नञ् तत्पुरुष समास होकर नं न लोप, मुट का प्रागम्य होकर 'ननेष्या' रूप बनेगा । इस प्रकार न तथा नञ् दो भिन्न २ प्रत्यय हैं, यह भी ध्यान देने योग्य है ।

१६०. कुगतीति — कु, गतिवञ्जक शब्द तथा प्रधादि का समर्थ के साथ नित्य समास होता है और यह तत्पुरुष समास कहलाता है ।

कुपुरुष — कुत्सित पुरुषः (मुरा मनुष्य) इस लौकिक विग्रह में तथा कु पुरुष मु' इस धार्मिक विग्रह में 'कु' प्रत्यय का 'पुरुषः' मुबन्त के साथ समास होता है ।

१६१. ऊर्पादीनि — ऊरी धादि शब्द, विप्र प्रत्ययान्त तथा डाच् प्रत्ययान्त शब्द क्रिया के योग में गतिवञ्जक होते हैं ।

दिप्यती — (१) ऊरी, तारी धादि शब्द मलगाठ में पड़ें, गये हैं ।

(२) ओ वानु जैसी गहने न हो उनके जैसी होने के अर्थ में (अधुना ६-भाषे) 'इष्टवर्णिगोमे मगधकर्त्तरि चिः' ३।४।१०। इस मूल से 'चि' प्रत्यय होता है । समान 'चि' प्रत्यय का ही लोप हो जाना है और गहने 'म' को 'ई' होकर 'गुनीकरोति' या गुनीकरोति धादि बन जाते हैं ।

(३) प्रकाश ध्वनि के अनुकरण शब्द से कू धानु के शेष में 'डाच्' प्रत्यय जाना है जैसे कोई 'पटन' २ ऐसी ध्वनि करता है तो — 'पटन इति इतोनि' इस अर्थ में 'डाच्' प्रत्यय होने पर 'पटन् + डाच् + करो' १' इस अर्थ में

डाजन्तादश्च क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः । ऊरीकृत्य । शुक्लीकृत्य ।  
पटपटाकृत्य । सुपुरुषः । क् (वा) प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया ॥

पट् को द्वित्व (दाचि बहुलं द्वे भवतः) होकर 'पट् पट् + घा + करोति' तथा दूसरे 'पट्' के 'घत्' का लोप होकर और पहले पट् के 'त्' को परकष्य (मघत् त् + घ = घ) होकर पटपटाकरोति रूप होता है ।

ऊरीकृत्य—स्वीकृत्य (स्वीकार करके)—यहाँ 'ऊ' के योग में 'ऊरी' शब्द की गति संज्ञा होकर, 'कुपतिप्रादय' से समास हो जाता है । समास होने से 'कत्वा' प्रादय को 'रूप' (समासेऽन्त पूर्व स्वरौ रूप) हो जाता है । ऊरी + क् + य (रूप) इस अवस्था में 'ऊ' से परे तुक् (त्) का भाग्य होकर ऊरीकृत्य, प्रथम शब्द होता है ।

शुक्लीकृत्य—सुपुर्ल सुपुर्ल कृत्वा (जो श्वेत नहीं उसे श्वेत करके)—इस अर्थ में श्विप्रादयान्त 'शुक्ली' शब्द की 'कृत्वा' के योग में गति संज्ञा होकर समास होता है तथा कत्वा को रूप होकर पूर्ववत् 'शुक्लीकृत्य' रूप बन जाता है ।

पटपटाकृत्य—पट् इति कृत्वा (पटपट करके)—इस अर्थ में डाच् प्रत्ययान्त 'पटपटा' शब्द की 'कृत्वा' के योग में गति संज्ञा होकर समास हो जाता है तथा कत्वा को 'रूप' आदेश होकर 'पटपटाकृत्य' रूप होता है ।

यहाँ सर्वत्र गति संज्ञा का फल समास होना है तथा समास होने से 'कत्वा' को 'रूप' आदेश होता है ।

सुपुरुषः—लोभनः पुरुषः (अच्छा मनुष्य)—इस विग्रह में 'सु' (दाचि) का 'पुरुषः' सुबन्त के साथ निम्न 'कुपतिप्रादयः' से समास होकर रूप बनता है ।

टिप्पणी—'प्र' 'परा' आदि (प्रादि) की क्रिया के योग में ही गति संज्ञा होती है सुपुरुष में 'सु' का क्रिया से योग नहीं चलता इसकी गति संज्ञा नहीं होती । ऐसे उदाहरणों के लिये ही मूल में गति से पृथक् प्रादि का ग्रहण किया है ।

प्र आदि का समास प्रादि समास कहलाना है । किन् प्र आदि वा किस विभवायन्त के साथ किस अर्थ में समास होता है । इसके स्पष्टीकरण के लिये 'प्रादयो गताद्यर्थे' इत्यादि पाँच वाक्य पढ़े गये हैं ।

प्रगत आचार्यः प्राचार्यः । छि(वा) अत्यादयः कान्ताद्यर्थे द्वितीयया अतिक्रान्तो मासामिति विग्रहे ।

१६२ । एकविभक्ति चापूर्वनिपाते । १।२।४५। विग्रहे यन्नियः विभक्तिकं तदुपसर्जनसंज्ञं न्यास्य तु तस्य पूर्वनिपातः ॥

१६३ । गोस्त्रयोरुपसर्जनस्य १।२।४५। उपसर्जनं यो गोशब्दः स्त्रीप्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात् । अतिमालः

प्राचय इति (वा) — 'प्र' आदि का 'गत' आदि धर्म में प्रथमान्त के साथ समास होता है ।

प्राचार्यः — 'प्रगत आचार्यः' (गृह्य आचार्य) — इस विग्रह में 'प्र' का 'आचार्य' के साथ समास होता है । यह समास प्रादि — तत्पुंल्लि समास कहलाता है ।

अत्यादय इति 'वा' — अति' आदि का 'कान्त' आदि धर्म में द्वितीयान्त के साथ समास होता है ।

अतिक्रान्तो मासाम् इस विग्रह में—

१६२. एक विभक्तीति — विग्रह में जिस पद की एक अवधि नियत विभक्ति रहती है, उसकी उपसर्जन संज्ञा होती है; किन्तु उसका पूर्व निपात नहीं होता ।

टिप्पणी — 'प्रथमानिदिष्ट समास उपसर्जनम्' ॥ जो उपसर्जन संज्ञा की गई थी, वह समास में पूर्वनिपात के लिये की गई थी; किन्तु यहाँ अन्य कार्य के लिये उपसर्जन संज्ञा की गई है; जिसका निर्देश आगे किया जा रहा है ।

१६३. गोस्त्रयोरिति — उपसर्जनसंज्ञक जो गो शब्द अथवा स्त्री प्रत्ययान्त शब्द; वह जिनके अन्त में हो (तदन्त) उस प्रातिपदिक की ह्रस्व दो जाता है । यही अतिक्रान्तो मासाम्, अतिक्रान्तं मासाम्, 'अतिक्रान्तेन मासाम्'

ॐ(वा) अथादयः कृष्टाद्यर्थे तृतीयया ॥ अवकृष्टः कोकिलया अवको-  
किलः । ॐ(वा) पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या ॥ परिग्लानोऽध्ययनाय  
पर्यध्ययनः ॥ ०(वा) निरादयः कान्ताद्यर्थे पञ्चम्या ॥ निष्कान्तः

इत्यादि विभिन्न विभक्तियों के विग्रह में 'मालाम्' शब्द नियत विभक्ति वाला  
अर्थात् द्वितीया विभक्ति वाला ही रहता है, अतएव यह नियत विभक्ति वाला है ।  
इसकी उपसर्जन संज्ञा हो जाती है और इसे लुप्त होता है ।

अतिमालः—'अतिमान्तो मालाम्' (अतिक्रमण कर गया माला को)—  
इस लौकिक विग्रह में तब 'अति माला अम्' इस अलौकिक विग्रह में 'अति'  
शब्द की 'प्रथमानिदिष्ट०' आदि से उपसर्जन संज्ञा होती है तथा उसका पूर्व-  
प्रयोग होता है । सुप् का लोप होकर फिर 'अतिमाला' इस दशा में 'माला'  
शब्द की 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' से उपसर्जन संज्ञा होकर 'धा' को लुप्त  
(घ) हो जाता है । इस प्रकार 'अतिमाल' समस्त पद से प्रथमा के एक० में  
अतिमालः बन जाता है ।

अवावय इति (वा)—अव आदि का कृष्ट आदि अर्थ में तृतीयांत के साथ  
समास होता है ।

अवकोकिलः—अवकृष्टः कोकिलया (लौकिक द्वारा कृत्रिम)—इस विग्रह  
में 'अव' का 'कोकिलया' के साथ समास होता है । अव का पूर्व प्रयोग और  
सुप् का लुप् हो जाता है । 'कोकिला' की उपसर्जन संज्ञा होकर लुप्त हो जाता  
है और 'अवकोकिलः' रूप बनता है ।

पर्यादय इति (वा)—परि आदि का ग्लान आदि अर्थ में चतुर्थ्यांत के साथ  
समास होता है ।

पर्यध्ययनः—'परिग्लानोऽध्ययनाय' (पड़ने से थका हुआ)—इस विग्रह में  
'परि' का चतुर्थ्यांत 'अध्ययनाय' के साथ समास होता है ।

निरादयः इति (वा)—निर् आदि का निष्कान्त आदि के अर्थ में पञ्चम्य-  
न्त के साथ समास होता है ।



कीनाम्ब्याः निष्कीनाम्बिः ।

१६४ । उत्तरोत्तरं मत्तमीत्यम् ३।१।२२।

सप्तम्यन्ते पदे कर्मणीत्यादौ बाध्यत्वेन नियतं कुम्भादि तद्वाचकं पदमुपपदसह स्यात् ।

१६५ । उपपदमतिङ् २।२।१६।

उपपदं सुबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते, अतिङ्गत्वाच्च स्यात् समासः ।  
कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।

निष्कीनाम्बिः—विश्वाम्नाः कीनाम्ब्याः (कीनाम्बी से निकला हुआ)—  
इस विग्रह में 'निर्' शब्द का निष्कान्त अर्थ में प्रत्ययान्त 'कीनाम्ब्या' के  
साथ समास होता है तथा 'कीनाम्बी' की पूर्ववत् उत्तरसंज्ञक सज्ञा होकर ह्रस्व  
हो जाता है ।

१६४. तत्रेति—सप्तम्यन्त पद 'कर्मणि' इत्यादि में बाध्य रूप में  
स्थित जो कुम्भ (पड़ा) आदि है उसका वाचक शब्द उत्तरसंज्ञक होता है ।  
अंते—

'कर्मण्यण्' (कर्मणि + ण्य) आदि सूत्र में सप्तम्यन्त पद है—'कर्मणि' ।  
उसके बाध्य रूप में स्थित है—कुम्भ आदि वातुः क्योंकि 'कुम्भं करोति' (पड़े  
को बनाता है) इत्यादि में 'कुम्भ' की कर्म संज्ञा होती है । इस प्रकार पड़े के  
वाचक 'कुम्भम्' शब्द की उत्पत्ति संज्ञा होगी ।

१६५. उपपदमिति—सुबन्त उपपद का समर्थ के साथ नियत समास होता  
है और यह समास विङ्गत्त नहीं होता । भाव यह है कि विङ्गत्त के साथ समास  
नहीं होता ।

कुम्भकार—'कुम्भं करोति' इस सीद्धिक विग्रह में तथा 'कुम्भं इव कार'  
इस भौतिक विग्रह में 'अतिकारकोपपदानाम्' इत्यादि परिभाषा के अनुसार  
उत्तरपद में सुप् के घाने से पहिले ही "उपपदमतिङ्" से समास होकर 'कुम्भ-  
कार' शब्द होता है । उससे प्रथमा एक० में कुम्भकारः ।

टिप्पणी—कुम्भं करोति इस अर्थ में 'कुम्भ' रूप कर्म के उत्पन्न होने पर  
'कृ' धातु से मण् (कर्मण्यण्) प्रत्यय होकर कुम्भ + कृ + ण् कृ के ऋ को  
'मचोऽङिति' से वृद्धि 'मार्' होकर कुम्भ + मार् + ण् → कुम्भकार शब्द बनता  
है उसी की प्रक्रिया के अन्तर्गत यह उपपद समास होता है । 'उपपद' समास

अतिष्ठ किम् ? मा भवान् भून् । आदि लुङिति सप्तमोनिर्देशान्माह-  
पदम् । “गन्तकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं आकं सुबुधरोः” ।  
व्याप्ती । अद्यक्रीती । कण्डूपीत्यादि ।

निरय समास होता है । भाव यह है कि बिना उदात्त के ‘अण्’ आदि प्रत्यय ही नहीं होते ‘कारः’ आदि का घनेने प्रयोग नहीं होता ।

अतिष्ठ इति - उदात्तसमास निवृत्त से नहीं होता, अतएव “मा भवान् भून्” में ‘मा’ का भून् के साथ समास नहीं हुआ । वही ‘मा’ उदात्त है क्योंकि ‘आदि लुङ्’ इस सूत्र में ‘आदि’ वह सप्तम्याग है । ‘भून्’ (भुङ्) लङ् तिङ्गन्त है इसी से उदात्त समास नहीं हुआ ।

गतिवारणेति प०) गति, वारक और उदात्त का इदम् के साथ भून् के घाने से घटने समास हो जाता है ।

व्याप्ती—आदिप्रति (विशेष रूप से चारों ओर घुंघरी है) — इस विषय में बि आह् पुरस्कृत ‘आ’ कागु से ‘क’ प्रत्यय (आवरकोपवर्ग) होता है । आ+आ+अ (क) वही ‘आ’ के आ का जो होकर आ+अ इस दशा में ‘अ’ से घरे भून् घाने से घटने ही गति समास हो जाता है । अब व्याप्ति दक्ष आनिवाचक । इतिने ‘आवरकोपविदाकोपवर्ग’ सूत्र से डीप् प्रत्यय होकर ‘व्याप्ती’ काय बनता है ।

यदि वही भून् होने के परवान् समास होता तो भून् के घाने से घटने ‘अ’ उदात्त से निङ्गकोपक प्रत्यय होता आवरकोप वा, क्योंकि निङ्गकोपक प्रत्यय के परवान् ही वारक विभक्ति (भून्) होती है । केवल ‘अ’ उदात्त आदि-वाचक नहीं है परः इससे ‘डीप्’ नहीं होता, यद्यपि ‘आप्’ प्रत्यय होता, इन प्रकार ‘व्याप्ती’ इष्ट का नहीं बनता ।

उदात्तकोपी — ‘अवरकोपी’ (उदात्त के द्वारा लरीरी गई) — इस विषय में उदात्त प्रतिपाद के अनुसार ‘कण्’ करके हुआ कण्मय् इस सूत्र से उदात्त का ही उदात्त के साथ भून् के घाने से घटने ही समास हो जाता है । तब ‘कोणाप्’ कण्णुर्वाप् आदि से डीप् होकर ‘उदात्तकोपी’ काय बनता है ।

यदि वही भून् घाने के परवान् समास होता तो घटने ‘आप्’ प्रत्यय हो जाता और फिर उदात्त का होने से ‘कोणाप्’ डीप् नहीं होता ।

(१६६) तत्पुरुषस्याङ्गुलेः सङ्ख्याव्ययादेः १।४।८६। सङ्ख्याव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य समासान्तोऽच् स्यात् । द्वे अङ्गुली प्रमाणस्य द्वयङ्गुलम् । निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम् ।

कण्ठ्यो—‘कण्ठेन पिबति’ (कण्ठ से पीती है, कण्ठ्यो)—इस विग्रह में सुबन्त ‘कण्ठ’ शब्द उपपद होने पर ‘पा’ वातु से ‘क’ प्राप्य होकर ‘कण्ठ पा + ण्’ (क) इस दशा में ‘पा’ के पा का सोर हो जाता है । फिर उत्तरपद में सुप् के आने से पहले ही कण्ठ शब्द का ‘व’ के साथ समास हो जाता है । इस प्रकार ‘कण्ठ्य’ शब्द जातिवाचक है, यतः जातिवाची शब्दों ॥ होने वाला डीप् प्राप्य होता है ।

यदि यहाँ सुप् आने के पश्चात् समास होता तो सुप् से पहले ‘टाप्’ हो जाता फिर डीप् नहीं होता ।

१६९. तत्पुरुषस्येति—जिस तत्पुरुष के आदि में संख्यावाचक या अवयव शब्द हो और अन्त में अङ्गुलि शब्द हो उतसे समासान्त अच् प्राप्य होता है ।

द्वयङ्गुलम्—द्वे अङ्गुली प्रमाणम् अस्य (दो अङ्गुली है माप जिसका) इस विग्रह में (तद्विनाशोत्तरपदसमाहारे च) तद्वितार्थ में तत्पुरुष समास है । यहाँ प्रमाण अर्थ में मापच् प्राप्य होता है, जिसका सोर हो जाता इस प्रकार ‘द्वि अङ्गुलि’ शब्द से समामान्त अच् प्राप्य होकर ‘नि’ के इ सोर (पश्येति च) हो जाता है । अब द्वयङ्गुल्य शब्द से ननु० प्रथमा के एकच में ‘द्वयङ्गुलम्’ रूप बनता है ।

निरङ्गुलम्—‘निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः’ (अङ्गुलियों ॥ निरत्ता हुआ)—विग्रह में ‘निर्’ वा अङ्गुलि के साथ ‘निराश्रयः आश्रयाच्च पञ्चम्या’ आदि समास होता है तथा समामान्त अच् प्राप्य होकर पूर्ववत् ‘निरङ्गुल’ रूप बनता है ।

१६७ । ग्रहः सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः ५।४।८७। ६५०।  
तत्रैव स्याच्चात्संख्याव्ययादेः । अहर्माह्वं द्वन्द्वार्थम् ।

१६८ । रात्राह्लाहाः पुंसिः २।४।२१। एतदन्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ  
पुंस्येव । अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रः । सर्वरात्रः । संख्यातरात्रः ।

१६७. ग्रहरिति—ग्रहन, सर्व, एकदेश (एक भंश भवति), संख्यात, पुण्य तथा सख्यावाची और अन्वय से पने रात्रि शब्द से समासात्त अच् प्रत्यय होता है ।

अहर्माह्वमिति—उपपुंक्त सूत्र में 'अहन्' शब्द का ग्रहण द्वन्द्व समास के लिये । अर्थात् अहन् और रात्रि के द्वन्द्व समास में अच् प्रत्यय होता है, इन दोनों का तत्पुरुष समास नहीं होता ।

१६८. रात्रेति—रात्र, अह्न और अहः—ये शब्द जिस द्वन्द्व और तत्पुरुष के घात में हों वे पुंलिङ्ग में ही होते हैं ।

महोरात्रः—'अहश्च रात्रिश्च मनयोः समाहारः' (दिन और रात का समुदाय)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'अहन् तु रात्रि तु' इस अलौकिक विग्रह में द्वन्द्व समास होता है । सुप् सोन होकर न् को र् तथा उत्' होकर 'महोरात्रि और समासात्त अच् प्रत्यय इ का सोन तथा उपपुंक्त सूत्र के अनुसार पुल्लिङ्ग होकर 'महोरात्रः' रूप बनता है ।

सर्वरात्रः—'सर्वा रात्रिः' अथवा 'सर्वा वासो रात्रिश्च' (सारी रात)—इस विग्रह में 'सर्वा' शब्द का 'रात्रि' शब्द के साथ तत्पुरुष समास होता है । 'सर्वा' शब्द को पुंल्लिङ्ग (पुंलिङ्ग के समान रूप) होकर तथा सर्वरात्रि शब्द से समासात्त अच् प्रत्यय होकर पूर्ववत् 'सर्वरात्रः' रूप बनता है ।

संख्यातरात्रः—संख्याता रात्रिः अथवा संख्याता वासो रात्रिश्च (गिनी हुई रात) इस विग्रह में 'सर्वरात्रः' के समान तत्पुरुष समास होता है ।

टिप्पणी—एकदेश का उदाहरण 'पूर्वरात्रः' (पूर्व रात्रेः अर्थात् रात्रि का पूर्व भाग) है । वही भी सर्वरात्रः के समान कार्य होता है ।

०(वा) संख्यापूर्वं रात्रं वलीबम् । द्विरात्रम् । त्रिरात्रम् ।

१६६ । राजाहःसस्त्रिम्यष्टच् ५।४ ६१। एतदन्तात्तत्पुरुषात् टच्  
स्यात् । परमराजः ।

✓ १७० । आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६।३।४६।

संशयेति (वा) — संख्या पूर्वक रात्र् शब्द नपुंसकलिङ्ग होता है ।

द्विरात्रम् — द्वयोः रात्र्योः समाहारः (दो रात्रियों का समुदाय) — इस विग्रह में द्वि शब्द का रात्रि शब्द के साथ (तद्वितीयोत्तरपदसमाहारे च) समाहार धर्म में द्विगु समास होता है । समासान्त शब्द प्रत्यय होकर तथा उपसृक्त याविक के अनुसार नपुंसक लिङ्ग होकर 'द्विरात्रम्' शब्द बनता है ।

त्रिरात्रम् — तिसृणां रात्रीणां समाहारः (तीन रात्रियों का समुदाय), 'द्विरात्रम्' के समान ।

१६६. राजेति — जिस तत्पुरुष के शब्द में राजा, यहू या सति शब्द होता है उससे समानान्त टच् प्रत्यय होता है ।

परमराजः — परमशाली राजा च (बड़ा राजा या अशाली राजा) — इस विग्रह में परम शब्द का राजन् शब्द के साथ (विशेषण विशेष्य का) कर्मधारय तत्पुरुष समास होता है । उपसृक्त नियम के अनुसार समानान्त 'टच्' प्रत्यय होकर 'परम राजन् + च (टच्)' इस रूपा में शब्द का लोप हो जाता है । परमराज शब्द से प्र० एक० में परमराजः ।

टिप्पणी — समानान्त टच् प्रत्यय होकर ही धर्मराजः, भोजराजः आदि राजन्शब्दान्त, परमाहः, उत्तमाहः (व्येष्ट दिन) आदि यहू शब्दान्त तथा राजसलः, बाह्यसलः आदि सलशब्दान्त समस्त पद बनते हैं ।

आन्महतः इति — यहू शब्द के शब्द अर्थात् 'त्' को आहार आदेय हो जाता है समानाधिकरण उत्तरपद तथा जातीय (जातीयर) प्रत्यय परे होने पर ।

महाराजः — यहू च अतो राजा च, इस नोटिक विग्रह में तथा

महत आकारोऽन्तादेशः स्यात्समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे ।  
महाराजः । प्रकारवचने जातीयर् । महाप्रकारो महाजातीयः ।

१७१ । द्व्यष्टनः सङ्ख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ६।३।४७  
आत्स्यात् । द्वौ च दश च द्वादश । अष्टाविंशतिः ।

‘महत् सु राजन् सु’ इस व्युत्पन्न विग्रह में महत् को समानाधिकरण ‘राजन्’ शब्द परे होने पर आकार अन्तादेश होता है । शेष ‘परमराज’ के समान ।

इसी प्रकार महादेवः, महावीरः, महापुरुषः, महायुद्धम् इत्यादि ।

महती सेना महासेना, महादेवी, महानदी आदि शब्दों में भी ‘महती’ का पुल्लिङ्ग के समान (पुं वद्भाव) होकर महत् शब्द हो जाता है और त् को आ होकर ‘महा’ ।

महाजातीयः—महाप्रकारः (बड़े ङङ्ग का)—इस अर्थ में ‘प्रकारवचने जातीयर्’ सूत्र से महत् शब्द से ‘जातीयर्’ प्रत्यय होता है । उपर्युक्त नियम से ‘महत्’ के अन्त को आकार होकर ‘महाजातीयः’ रूप बनता है ।

टिप्पणी—(१) ‘महाजातीयः’ लङितान्त शब्द है समस्त पद नहीं । यहाँ ऊपर के सूत्र में महत् के त् को आ होता है इसी से यहाँ उदाहरण दिया गया है ।

(२) समानाधिकरण उत्तरपद परे होने पर ही यह ‘भास्व’ होता है । मतः महतः सेवा—महासेवा इस वृत्ती समास में भास्वन ही होता है । महान्तो बाहू यस्य ॥ महाबाहुः इस समानाधिकरण बहुव्रीहि में भास्व होता ही है ।

१७१. द्व्यष्टन इति—द्वि और अष्टन् शब्द के अन्त को आकार (आदेश) होता है लकाराधी उत्तरपद परे होने पर, किन्तु बहुव्रीहि समास में तथा ‘मशीति’ शब्द परे रहते नहीं होता ।

द्वादश—द्वौ च दश च (दो और दस अर्थात् बारह)—इस विग्रह में द्वि शब्द का दशन् शब्द के साथ द्वन्द्व समास होता है । उपर्युक्त नियम के अनुसार द्वि को आकार अन्तादेश होकर ‘द्वादशन्’ समस्त शब्द बनता है । इससे प्रथमा के एकवचन में ‘सु’ उसका लोप तथा ‘न्’ का लोप होकर ‘द्वादश’ रूप बनता है ।

अष्टाविंशतिः—अष्टौ च विंशतिश्च (आठ और बीस अर्थात् अट्ठादश)—

१७२ । त्रैत्रयः ६।१।४८। त्रयोदश । त्रयोविंशतिः । त्रयस्त्रिंशत् ।

१७३ । परवत्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः २।४।८६। एतयोः परपद-  
स्येव लिङ्गं स्यात् । कुक्कुटमयूरीविभे । मयूरीकुक्कुटाविभौ । अर्थ-

यहाँ 'प्रष्टन्' शब्द का विभक्ति के साथ द्वन्द्व समास होता है तथा प्रष्टन् के अन्त को आकार हो जाता है ।

१७२. त्रैत्रिति—त्रि शब्द को 'त्रयम्' (मादेश) से जाता है सदायादाची उत्तरपद पर रहते किन्तु बहुव्रीहि में तथा मन्तीति शब्द पर रहते नहीं होता ।

त्रयोदश—त्रयश्च दश च (तीन और दस मर्षात् तेरह)—इस विग्रह में 'त्रि' शब्द का 'दशन्' शब्द के साथ द्वन्द्व समास होकर त्रि को 'त्रयस्' हो जाता है । 'त्रयस् + दशन्' यहाँ 'स' को द तथा उ होकर त्रयोदश रूप होता है । इसी प्रकार 'त्रयश्च विंशतिश्च' → 'त्रयोविंशतिः' और त्रयश्च त्रिंशत् च → 'त्रयस्त्रिंशत्' रूप होते हैं ।

१७२. परवत् इति—द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में परपद के समान लिङ्ग होता है ।

कुक्कुटमयूरी इमे—कुक्कुटश्च मयूरी च (मुर्धा और मोरनी)—इस विग्रह में द्वन्द्व समास होता है । इसका परपद 'मयूरी' स्त्रीलिङ्ग है तथा द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में परपद के समान लिङ्ग होता है, अतएव समस्त पद उपर्युक्त नियम के अनुसार स्त्रीलिङ्ग में है । इसी स्त्रीलिङ्ग को 'इमे' स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग स्पष्ट करता है ।

मयूरीकुक्कुटौ इमौ—मयूरी च कुक्कुटश्च (मयूरी और मुर्धा)—इस विग्रह में द्वन्द्व समास होता है । यहाँ परपद 'कुक्कुट' पुल्लिङ्ग है अतएव समस्त पद पुल्लिङ्ग में होता है । 'इमौ' इसी पुल्लिङ्ग को प्रकट करता है ।

पर्वपिप्पली—अर्धं पिप्पलीः (पिप्पली का अर्ध भाग)—यहाँ तत्पुरुष समास है । परपद पिप्पली स्त्रीलिङ्ग है अतएव समस्त पद स्त्रीलिङ्ग होता है ।

विप्लवो । ०(वा) द्विगुप्राप्तापन्नाजम्बुवंगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः ।।  
पञ्चसु कपालेषु संस्कृत-पञ्चकपाल पुरोडाशः ।

१७४ । प्राप्तापन्ने च द्वितीयया । ॥२॥ एतौ समस्येते अका-  
रद्वयानयोरन्तादेशः । प्राप्नो जीविकां प्राप्तजीविक । आपन्नजीविकः ।

द्विगुप्राप्तेति (वा) — द्विगु समास और द्वित्व समास में प्राप्त, आपन्न तथा अतम् दाह पूर्व में (पूर्वपद) है एवं यदि समास, इनमें परपद के समास निम्न नहीं होता ।

पञ्चकपालः पुरोडाशः — पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः (पाँच कपालों में संस्कृत) — इस विग्रह में तद्विनाश में द्विगु समास होता है । यहाँ परपद 'कपाल' नपुंसक लिङ्ग है किन्तु उसके अनुसार समस्त पद नपुंसक लिङ्ग में नहीं होता अतः विद्येय के अनुसार लिङ्ग होता है । यहाँ 'पुरोडाश' (विद्येय) पुल्लिङ्ग है अतएव समस्त पद पुल्लिङ्ग में है ।

१७४. प्राप्तापन्ने च द्वितीययेति — प्राप्त और आपन्न दाहों का द्वितीयान्त के साथ समास होता है और इनके अन्त की 'अकार' (आदेश) हो जाता है ।

प्राप्तजीविकः — प्राप्नो जीविकाम् (जीविका को प्राप्त हुआ) — इस विग्रह में 'प्राप्नो' दाह का 'जीविका' द्वितीयान्त के साथ लट्पठ्य समास होता है । जीविका दाह की उत्पत्ति संज्ञा होकर 'प्रा' को ह्रस्व हो जाता है । २ यहाँ परपद 'जीविका' स्त्रीलिङ्ग है किन्तु इसके समान समस्त पद स्त्रीलिङ्ग में नहीं होगा, अतः तु विद्येय के अनुसार लिङ्ग होता है ।

द्विप्लवो — प्राप्ता जीविकाम् स्त्री इस विग्रह में 'प्राप्तजीविका' यह समस्त पद होता है । यहाँ मूल के अर्थ (वृत्ति) में कहा हुआ 'प्राप्ता' दाह की अपार अन्तादेश होता है ।

आपन्नजीविकः — आपन्नो जीविकाम् (जीविका को आपन्न हुआ) — इस विग्रह में 'प्राप्तजीविकः' के स्थान समस्त कार्य होता है ।

१. एकादशति आनुवंशिकाणि १।२।४४।

२. जीविकोदयार्थस्य १।२।४५।



अलङ्कुमार्ये अलङ्कुमारिः । अत एव ह्यापकात्समासः । निष्कौशम्बिः  
 १७४ । अर्घर्चाः पुंसि च । २।४।३१ । अर्घर्चादियः शब्दाः  
 पुंसि वृत्तीवे च स्युः अर्घर्चः । अर्घर्चम् । एवं पञ्चजतीर्घशरीरमण्डः

टिप्पणीः—यहाँ पद मे 'द्वितीयाधिता - १३५ इसके समास होता है तथा जीविकाप्राप्तः' और 'जीविकापक्षः' शब्द भी होते हैं ।

अलङ्कुमारिः—'अल कुमारी' (कुमारी के लिये योग्य) —इत विग्रह मे तत्पुरुष समास होता है । कुमारी की उपमर्जन सज्ञा होकर ई को लुप्त हो जाता है । यहाँ परपद 'कुमारी' स्त्रीलिङ्ग है, किन्तु उसके समान समस्त पद का लिङ्ग नहीं होता यद्विन्तु विशेष्य के अनुसार होता है । अतः 'अलङ्कुमारिः' पुंलिङ्ग है ।

अतएवेति—उत्पुंक्त वातिक में अलम् पूर्वक समास में परपर के समान लिङ्ग होने का नियम किया गया है । इससे यह पता चलता है कि 'अलम्' का मुबन्त के साथ समास होता है ।

वासिकावार के मत में तो 'पर्यायो भानाद्यर्थे अनुष्वा' इन वातिक के अनुसार यहाँ समास होता है ।

निष्कौशम्बिः—यहाँ परपद कौशम्बी स्त्रीलिङ्ग है किन्तु उसके समान समस्त पद स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता यद्विन्तु विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होता है ।  
 (देखिये पृष्ठ ११२)

टिप्पणी—निष्कौशम्बिः में प्रादि समास है । द्विगुप्राप्तापन्न०' इत्यादि वातिक में गतिममान के साथ-साथ प्रादि समास का भी ग्रहण है । इसी से यह बड़ाहरण दिया गया है ।

१७५. अर्घर्चा इति—'अर्घर्च' इत्यादि शब्द पुंलिङ्ग तथा अनुसक्तलिङ्ग (दोनों) में होते हैं ।

अर्घर्चः—अर्घर्चम्—'अर्चोऽर्थम्' (लुप्ता का अर्थमान) —इत विग्रह में अर्घर्चपुंसकम् मे तत्पुरुष समास होता है । समासान्त 'अ' प्रावर होकर 'अ' + अ → अर्घर्च समस्त पद बनता है । यहाँ परपद 'अर्च' स्त्रीलिङ्ग उसके अनुसार समस्त पद का लिङ्ग नहीं होता यद्विन्तु पुंलिङ्ग और

पीयूषदेहांकुंशवात्रसूत्रादयः । सामान्ये नपुंसकम् । मृदु पचति । प्रातः कमनीयम् । इति तत्पुरुषः ॥३॥

अथ बहुव्रीहिसमासः ॥४॥

१७६ । दोषो बहुव्रीहिः २।२।२३। अविकारोऽयं प्राग्वद्भावात् ।

१७७ । अनेकमन्यपदार्थे २।२।२४। अनेक प्रथमान्तमन्यपदार्थार्थे वर्तमानं वा समास्यते स बहुव्रीहिः ।

१७८ । सप्तमीविशेषणो बहुव्रीहौ २।२।२५। सप्तम्यन्तं

नपुंसक लिङ्ग दोनों होते हैं ।

एवमिति—इसी प्रकार पत्र, तीर्थ, शरीर, मण्ड, पीयूष, देह, प्रकुश, पात्र, सूत्र, आदि शब्द दोनों लिङ्गों में होते हैं ।

टिप्पणी - यहाँ समस्त पदों के लिङ्ग निर्देश के प्रकरण में अप्रत्यक्ष रूप से कुछ शब्दों का लिङ्ग निर्देश कर दिया गया है । इनका समास प्रकरण में स्थान नहीं है ।

सामान्य इति—यही लिङ्ग विशेष का मान नहीं होता, यह सामान्य है । सामान्य अर्थ में नपुंसक लिङ्ग होता है, जैसे 'मृदु पचति' में 'मृदु' शब्द नपुंसक लिङ्ग है । इसी प्रकार 'प्रातः कमनीयम्', यही 'कमनीयम्' में सामान्य अर्थ में नपुंसक लिङ्ग है । इति तत्पुरुषः ।

अथ बहुव्रीहिः ॥७६ शेष इति—द्वन्द्व से पूर्व तक यह (बहुव्रीहि का) अधिकार है । शेष समास की बहुव्रीहि सत्ता होती है । शेष का अर्थ है बड़े हुए से बचा हुआ—'उत्तादयः शेषः' ।

१७७. अनेकम् इति—अन्यपद के अर्थ में विद्यमान अनेक प्रथमान्त पदों का विकल्प से समास होता है और यह बहुव्रीहि समास कहलाता है ।

१७८. सप्तमीति—सप्तम्यन्त और विशेषण का बहुव्रीहि समास में पूर्व प्रयोग होता है ।

विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । अत एव ज्ञापकाद्व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः ।

१७६ । हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ६।३।६। हलान्ताद् अदन्ताच्च सप्तम्या अलृक् । कण्ठेकालः ।

अतएवेति—उपयुक्त सूत्र में सप्तम्यन्त का बहुव्रीहि समास में पूर्वप्रयोग कहा गया है । इससे ज्ञात होता है कि भिन्न विभक्ति वाले पदों का भी बहुव्रीहि समास होता है; इसी को व्यधिकरण बहुव्रीहि समास कहते हैं । जहां सभी प्रथमान्त पदों का समास होता है, वह समानाधिकरण बहुव्रीहि कहा जाता है । इस प्रकार बहुव्रीहि समास दो प्रकार का होता है—(१) समानाधिकरण बहुव्रीहि (२) व्यधिकरण बहुव्रीहि । (१) विग्रह वाक्य में समानाधिकरण बहुव्रीहि के पद प्रथमा विभक्ति में रहते हैं जैसे प्राप्तम् उदकं यं सः 'प्राप्तोदकः' यहाँ 'प्राप्तम्' तथा 'उदकम्' दोनों प्रथमान्त हैं । यहाँ बहुव्रीहि द्वितीयांश में हुआ है, ('द्वितीयांशं बहुव्रीहिः') जिसे 'यम्' शब्द द्वारा विग्रह में प्रकट किया जाता है । इसी प्रकार प्रथमा की छोड़कर अन्य सभी विभक्तियों के अर्थ में बहुव्रीहि समास होता है । (२) व्यधिकरण बहुव्रीहि का विग्रह में एक पद प्रथमान्त होता है और दूसरा पठ्ठी या सप्तमी विभक्ति में, कण्ठे कालः यस्य' (कण्ठेकालः) भावि ।

१७६. हलदन्तात् इति—हलन्त तथा अकारान्त शब्द से परे वाली सप्तमी का युक्त (सो०) नहीं होता, संज्ञा के विषय में ।

कण्ठेकालः—कण्ठे कालः यस्य सः (कण्ठ में है काल—काला विग्रह या विषय—जिसके ऐसा, नीलकण्ठ महादेव) इस विग्रह में उपयुक्त ज्ञापन से व्यधिकरण बहुव्रीहि समास होता है । 'सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ' से कण्ठे (सप्तम्यन्त) का पूर्व प्रयोग हो जाता है तथा उपयुक्त नियम के अनुसार सप्तमी का युक्त नहीं होता । इस प्रकार प्रथमा के एक वचन में 'कण्ठेकालः' रूप होता है ।

कण्ठेकालः—व्यधिकरण बहुव्रीहि का उदाहरण है । समानाधिकरण बहुव्रीहि के द्वितीयांश से लेकर सप्तम्यर्थ तक के उदाहरण कम्यः नीचे दिये

प्राप्तमुदकं यं स प्राप्तोदको ग्रामः । ऊढरयोऽनङ्गवान् । उपहृतपशुरुद्रः ।  
उद्धृतौदना स्थाली । पीताम्बरो हरिः । वीरपुरुषको ग्रामः । ॥ (दा)

प्राप्तोदको ग्रामः—‘प्राप्तम् उदकं यं सः’ (प्राप्तं हुआ है अर्थात् पहुँच गया है उस जिसको ऐसा ग्राम) — इस विग्रह में द्वितीया विभक्ति के अर्थ में प्राप्त तथा उदक इन दो प्रथमान्त शब्दों का बहुव्रीहि समास होता है निष्ठाभक्त ‘प्राप्त’ शब्द का पूर्व प्रयोग होकर प्राप्तोदक शब्द बनता है । उससे ग्राम (विशेष्य) के अनुसार पुल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन में प्राप्तोदकः रूप होता है ।

द्विपत्नी — बहुव्रीहि समास प्रायः विशेषण होता है और उसमें लिङ्ग वचन प्रादि विशेष्य के अनुसार होते हैं ।

ऊढरयोऽनङ्गवान्—‘ऊढो रयोऽनङ्गवान्’ (चलाया है रथ जिसने, ऐसा बैन) — इस विग्रह में तृतीया विभक्ति के अर्थ में ऊढ तथा रथ इन प्रथमान्त पदों का बहुव्रीहि समास होता है ।

उपहृतपशुः रुद्रः—‘उपहृतः पशुः यस्मै मः’ (उपहार किया गया है पशु जिसके लिये, ऐसा रुद्र) — इस विग्रह में चतुर्वी विभक्ति के अर्थ में उपहृत तथा पशु इन प्रथमान्त पदों का बहुव्रीहि समास होता है ।

उद्धृतौदना स्थाली—‘उद्धृतम् ओदनं यस्याः सा’ (निकास लिया है भात जिससे ऐसी घाली या देगची) — इस विग्रह में पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में उद्धृतौदना समास होता है ।

पीताम्बरो हरिः—‘पीतम् अम्बरं यस्य सः’ (पीला है वस्त्र जिसका, ऐसा हरिः) — इस विग्रह में षष्ठी विभक्ति के अर्थ में बहुव्रीहि समास होता है ।

वीरपुरुषको ग्रामः—‘वीराः पुरुषाः यस्मिन् सः’ (वीर पुरुष हैं जिसमें, ऐसा ग्राम) — इस विग्रह में सप्तमी विभक्ति के अर्थ में बहुव्रीहि समास होता है । यहाँ ‘कप्’ (क) समासान्त प्रत्यय है ।

१. ‘अनेकमन्यपदार्थे, २।२।२४॥

२. ‘निष्ठा’ २।२।३३॥ इस सूत्र से क्त-प्रत्ययान्त का पूर्व प्रयोग होता है ।

प्रादिभ्यो घातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः । प्रपतितपर्यः, प्रपर्यः ।  
० (या) नञोऽस्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः ॥ अविद्यमानपुत्रः,  
अपुत्रः ।

१८० । स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्समानाधिकरणे  
स्त्रियामपूरणोप्रियादिषु ६।३।४।

प्रादिभ्य इति (वा) — प्रादि से परे जो घातु से बना हुआ शब्द है, तदन्त का दूसरे पद के साथ बहुव्रीहि समास होता है और पूर्व भाग में जो उत्तरपद (भर्तात् घातुज शब्द) होता है उसका विकल्प से लोप होता है ।

प्रपतितपर्यं, प्रपर्यः — 'प्रपतितानि पर्यानि यस्मात्' सः (गिरगये हैं पत्ते जिससे ऐसा) । यह विग्रह है — यही 'प्र' से परे घातुज शब्द 'पतित' है । तदन्त 'प्रपतित' शब्द है । इसका 'पर्यं' शब्द के साथ समास होता है । जब पतित शब्द (जो भर्तात् में उत्तरपद है) का लोप हो जाता है तो 'प्रपर्यः' अथवा 'प्रपतितपर्यः' इस प्रकार दो रूप हो जाते हैं ।

नञ इति (वा) — नञ् से परे जो विद्यमानता (अस्ति) अर्थ वाला पद, तदन्त का अर्थ पद के साथ बहुव्रीहि समास होता है और विद्यमानता अर्थ-वाचक का विकल्प से लोप हो जाता है ।

अविद्यमानपुत्रः, अपुत्र — 'अविद्यमानः पुत्रो यस्य सः' (नहीं है पुत्र जिसके ऐसा) — यह विग्रह है । यहाँ नञ् से परे अस्त्वर्थवाचक 'विद्यमान' शब्द है । अविद्यमान शब्द का पुत्र के साथ बहुव्रीहि समास होता है । 'अविद्यमान' शब्द का लोप हो जाता है तो 'अपुत्रः' अथवा 'अविद्यमानपुत्र' इस प्रकार दो रूप बनते हैं ।

८०. स्त्रियाः इति — सूत्र में स्त्रिय 'भाषितपुंस्कादनूङ्' एक समान पद है । जिसका अर्थ है — भाषितपुंस्क शब्द से परे जहाँ ऊँछ प्रत्यय नहीं है । यही 'भाषितपुंस्कात्' शब्द में पञ्चमी विभक्ति का निपातन में लोप (लुक्) नहीं हुआ किन्तु 'अनूङ्' शब्द में षष्ठी विभक्ति होनी चाहिये थी उसका निपातन से ही लोप हो गया है । (यह समस्त पद 'स्त्रियाः' का विशेषण है) ।

उक्तपुंस्कादन्तः । ऊहोऽभावोऽस्यामिति बहुव्रीहिनिपातनात्पञ्चम्या  
अलुक् दृष्ट्यादयं लुक् । मुख्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तपुंस्क तामान् पर  
ऊहोऽभावो यत्र नगभूतस्य स्त्रीवाचकशब्दस्य पुंवाचकस्यैव रूप स्यात्  
समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे न तु पूरणं प्रियादौ च परतः ।  
गोत्रिणोरिति द्वयः । चित्रगुः । रूपबद्धभावं ।

‘भाविगुंस्त्वम्’ शब्द का अर्थ है—‘उक्तपुंस्त्वम्’ अथवा मुख्य प्रवृत्तिनिमित्ते  
यद उक्तपुंस्त्वम् । भाविगुंस्त्वम् के शब्द है जिसका प्रयोग पुल्लिङ्ग तथा अग्य  
लिङ्ग (स्त्रीलिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग) में भी होता है और प्रवृत्तिनिमित्त भी  
दोनों लिङ्गों में समान होता है । प्रवृत्तिनिमित्त का अर्थ है—प्रयोग का कारण  
अर्थात् जो शब्द समान निमित्त से पुल्लिङ्ग तथा अग्य लिङ्ग में प्रयुक्त किया  
जाता है वह ‘भाविगुंस्त्वम्’ कहलाता है, जैसे ‘विद्या’ शब्द है । यह विद्या  
के कारण पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है ।

सूत्र का अर्थ—प्रवृत्तिनिमित्त समान होने पर जो शब्द उक्तपुंस्क है और  
उसने परे ऊह प्रात्यक्ष नहीं है, ऐसे स्त्रीवाचक शब्द का पुल्लिङ्गवाचक के समान  
कर हो जाना है, समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे होने पर, किन्तु पूरणी  
संज्ञा (अथवा आदि) और विद्या आदि शब्दों परे होने पर नहीं ।

चित्रगुः—‘विद्या जो दाय’ (विद्या है दाय जिसकी)—इस विग्रह में दृष्टी  
विभक्ति के अर्थ में बहुव्रीहि समास होता है । विद्या + दौ, इस दृष्टा से द.दा-  
नाधिकरण स्त्रीलिङ्ग जो शब्द परे होने पर उत्पुंस्त्व सूत्र से विद्या को पुंल्लिङ्ग  
भाव होकर ‘विद्य’ हो जाता है तथा जो के जो को ‘गोत्रिणोदात्तजनस्य’ से  
ह्रास्व (उ) होकर ‘विद्यद्’ शब्द बनता है ।

रूपबद्धभावं—‘कवयो भावो दाय’ (का कवी है कवी जिसकी)—इस  
विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है । ‘कवयो’ शब्द भाविगुंस्त्व है । यहाँ  
समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग ‘भावा’ शब्द उत्तरपद है अतः पुंल्लिङ्ग होकर

अनूहः किम् ? वामोरुभार्यः । पूरण्यां तु—

१८१ । अष्टपूरणीप्रमाण्योः ५।४ १६। पूरणार्थप्रत्ययान्त यात्री-  
जितं तदन्तात्तम यद्यन्वाच्च बहुव्रीहिरप्यथात् । कल्याणी पञ्चमी  
यासा रात्रीणां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । स्त्री प्रमाणी वरय सः  
स्त्रीप्रमाण । अग्रियादिषु किम् ? कल्याणीप्रिय इत्यादि ।

कथम्' हा जाता है गया भाषा के सा जो 'गोस्त्रियोदासबन्ध' से हल होना है। इस प्रकार काव्यमायं' दास बनता है।

समूह विमिति - शून्य में 'समूह' क्यों कहा ? जगदिये कि त्रिम शब्द में  
परे 'ऊह' प्रत्यय होता है उसे पुनर्भाव नहीं होता, अतः 'सामोह' में  
'सामोह' शब्द के स्थान पर 'समूह' नहीं होता । यही सामोह शब्द में (साम  
+ ऊह + ऊह) ऊह प्रत्यय हुआ है । आसित

पूरणी सकल करे होने पर ली —

१८१. अब इति—पुनरावेक प्रत्यक्षान् जो स्वीयित्वा वाश तदन्त तदा प्रमाणी तदन्तान् अन्वेषीति से तन्मात्रम् अन् अन् प्रत्यक्ष होता है ।

[illegible]

रही प्रमाणा—रही प्रमाणा व'र' (रही है प्रमाण प्रमाण) — इन विषयों में प्रमाणों में बहुमोहि समान होता है। उदाहरण मूकानुसार समानान्त 'मा' का प्रमाण होता है 'ई' का जोर हो जाता है तथा प्रमाण एकत्रित में 'रही प्रमाण' बन जाता है।

१८२ । बहुव्रीहौ सवध्यदणोः स्वाङ्गात्पञ्च ५।४।१।३।  
 त्वाङ्गवाचिसवध्यदण्यन्ताद् बहुव्रीहेः पञ्च स्यात् । दीर्घसकयः ।  
 जलजाक्षी । स्वाङ्गात्किम् ? दीर्घसकिय शकटम् । स्थूलाक्षः वेणुयष्टिः ।  
 'अदणोऽदर्शनाद्' ५।४।७६। इति सव्यमाख्योऽप्य् ।

प्रमियादिवृत्ति—'प्रियाः पुंस्त्वभाषितः' आदि सूत्र मे 'प्रमियादिपुं' अर्थात् 'प्रिया' आदि शब्द परे होने पर पूर्वपद को पुंस्त्वभाव नहीं होता, यह क्यों कहा ? इसलिये कि 'कल्याणीप्रिय' (कल्याणी प्रिया यस्य सः)—यहाँ प्रिया शब्द परे होने पर 'कल्याणी' शब्द को पुंस्त्वभाव नहीं होता ।

१८२. बहुव्रीहौवृत्ति—जिसके मन्त्र मे स्वाङ्गवाची सक्रिय और प्रति शब्द हों ऐसे बहुव्रीहि से समासात्त वच् प्रत्यय होता है । (वच् में 'य' दीय रहता है, प्रकार और प्रकार इतस्तम्भ है; 'वित्' होने से स्त्रीलिङ्ग मे 'पिद्मोत्पदि-म्यरच' ५।१।४१ से ङीप् प्रत्यय ही जाता है ।)

दीर्घसकयः—दीर्घे सविपरी यस्य सः (बड़े हैं ऊह जिसकें)—इत विग्रह में वच्छर्ष में बहुव्रीहि समास होता है । उपर्युक्त सूत्र से समासात्त वच् (य) प्रत्यय होकर 'दीर्घ+सविप+य' इस अवस्था मे 'यद्येति य' से 'इ' का लोप होकर 'दीर्घसकयः' रूप होता है ।

जलजाक्षी—जलत्रे इव अक्षिणी यस्याः सा (जल के समान हैं अर्धे जिसकी)—इस विग्रह में वच्छर्ष में बहुव्रीहि समास होता है । समासात्त वच् प्रत्यय तथा 'इ' का लोप होकर 'जलजाक्षी' शब्द बनता है । इसके स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होकर 'जलजाक्षी' बन जाता है ।

स्वाङ्गात् किमिति—स्वाङ्ग शब्द से शरीर का अवयव निवा जाता है । अतएव 'दीर्घसकिय शकटम्' (सखी सक्रिय वाणी वाही) यहाँ 'सक्रिय' शरीर का अङ्ग नहीं अपितु वाही की लक्ष्मी पतली बिछेर लक्ष्मी का नाम है अतः समासात्त वच् नहीं होता । इसी प्रकार—

स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः (बड़ी आँखों वाली बाँस की लाठी)—यहाँ भी 'स्थूलाक्षा' में वच् समासात्त नहीं होता अपितु 'अदणोऽदर्शनात्' २०२ सूत्र से



१८३ । द्वित्रिम्यां यः मूर्ध्नः ५।४।११५ आभ्यां मूर्ध्नः यः  
स्याद् बहुव्रीहौ । द्विमूर्धः । त्रिमूर्धः ।

१८४ । अन्तर्वह्निर्म्यां च लोम्नः ५।४।११७ आभ्यां  
लोम्नोऽप स्याद् बहुव्रीहौ । अन्तर्लोमः । बहिर्लोमः ।

१८५ । पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ५।४।११८ हस्त्यादि

‘अच्’ समासान्त होता है । इसी से ‘स्पृलाला’ बनता है ‘स्पृलाली’ नहीं ।

टिप्पणी — जहाँ ‘यच्’ समासान्त होता है वहाँ ‘ङीप्’ स्त्री प्रत्यय होत  
है किन्तु जहाँ ‘अच्’ समासान्त होता है वहाँ ‘टाप्’ स्त्रीप्रत्यय होता है ।

१८३. द्वित्रिम्याम् इति—द्वि धीर त्रि शब्दों से परे मूर्धन् शब्द को, समा  
सान्त ‘य’ प्रत्यय होता है, बहुव्रीहि समास में । ‘य’ में ‘अ’ दोष रहता है ।

त्रिमूर्धः—द्वौ मूर्धानो यस्य सः (दो तिर हैं जिसके)—इस विग्रह में  
बहुव्रीहि समास होता है । उपर्युक्त सूत्र से समासान्त ‘य’ प्रत्यय होकर ‘द्वि  
+ मूर्धेन + ‘अ’ इस दशा में ‘अन्’ का लोप (नस्तद्धिते) होकर ‘त्रिमूर्धः’ शब्द  
बनता है । इसी प्रकार ‘त्रिमूर्धः’ (तयो मूर्धानो यस्य=तीन हैं तिर जिसके) ।

१८४. अन्तरिति—अन्तर् धीर बहिर् शब्द से परे लोमन् शब्द को  
समासान्त ‘अच्’ प्रत्यय होता है, बहुव्रीहि समास में ।

अन्तर्लोमः—अन्तर् लोमानि यस्य (भीतर हैं लोम जिसके)—इस विग्रह  
में बहुव्रीहि समास होता है तथा उपर्युक्त सूत्र से समासान्त ‘अच्’ प्रत्यय होकर  
‘अन्तर् + लोमन् + अच्’ इसमें ‘अन्’ का लोप (नस्तद्धिते) हो जाता है । फिर  
‘अन्तर्लोम’ से प्र० एङ० में अन्तर्लोमः रूप बनता है । इसी प्रकार ‘बहिर्लोमः’  
बहिर् लोमानि यस्य (बाहर हैं लोम जिसके) ।

१८५. पादस्येति—बहुव्रीहि समास में ‘हस्ति’ आदि से शिन् उपमान से परे  
शाने पाद शब्द के अन्त का लोप (समासान्त) हो जाता है ।

टिप्पणी—यह लोप समासान्त विधि के अन्तर्गत है अतः समासान्त  
‘अच्’ इत्यादि प्रत्ययों के समान समझा जाता है और इनके होने पर समा-

वर्जितादुपमानात्परस्य पादशब्दस्य लोपः स्याद् बहुव्रीहौ । व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपात् । अहस्त्यादिभ्यः किम् ? हस्तिपादः । कुसूलपादः ।

१८६ । मङ्ख्यामुपूर्वस्य १।४।१४०। पादस्य लोपः स्यात् समासान्तो बहुव्रीहौ । द्विपात् । सुपात् ।

१८७ । उद्विभ्यां काकुदस्य १।४।१४०। लोपः स्यात् । सत्काकुत् । विक्राकुत् ।

सात्स 'कप' प्रत्यय नहीं होता ।

व्याघ्रपात्—व्याघ्रस्येव पादो यस्य (बाघ के समान हैं पैर जिसके)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है और उपर्युक्त सूत्र से पाद के घन्त्य प्रकार का लोप (समासान्त) होने पर व्याघ्रपाद् → व्याघ्रपात् शब्द बनता है ।

मङ्ख्याविभ्य इति—इस्ती आदि से भिन्न उपमान से परे क्यों कहा ? इसलिये कि हस्तिपाद हस्तिन इव पादो यस्य' (हाथी के समान हैं पैर जिसके) तथा कुसूलपादः, 'कुसूलस्येव पादो यस्य' (कुसूल के समान हैं पैर जिसके) इत्यादि में अन्त का लोप नहीं होता ।

१८९. संक्षेपेति—जिसके पहले संख्यावाचा या सुपाद हों, ऐसे पाद शब्द के घन्त्य का लोप (समासान्त) होता है, बहुव्रीहि समास में ।

द्विपात्—दो पादो यस्य (दो पैर हैं जिसके)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है । संख्या पूर्व होने के कारण पाद के घन्त्य प्रकार का लोप (समासान्त) हो जाता है तथा द्विपाद्, द्विपात् रूप बनता है । इसी प्रकार सुपात् शोभनो पादो यस्य (सुन्दर पैर हैं जिसके) ।

१८७. उद्विभ्यां काकुदस्य—उद् और वि से घागे वाले काकुद शब्द के अन्त का (समासान्त) लोप होता है, बहुव्रीहि में । उरकाकुत्—उदगतं काकुदं गम्य (उठ गया है तालु जिसका)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होकर उत् + काकुद इस दशा में उपर्युक्त सूत्र से 'अकार' का लोप समासान्त हो जाता है

१८८ । पूर्णाद्विभाषा ॥१४॥१४९॥ पूर्णकाकुत् । पूर्णकाकुदः ।

१८९ । सुहृदसुहृदो मित्रामित्रयोः ॥१४॥१५०॥ सुदुर्म्या  
हृदयाय हृदभावो निपात्यते । सुहृन्मित्रम् । दुहृन्मित्रः ।

१९० । उरः प्रभृतिभ्यः कप् ॥१४॥१५१॥

१९१ । सोऽपदादौ ॥१५॥१५२॥ पाशकल्पककाम्येषु वितर्गस्य सः ।

तथा उरकाकुद→उरकाकुत् शब्द बनता है । इसी प्रकार विक्राकुत्, (विपत्)  
काकुदं यस्य, विगत हुआ है तालु जिसका) ।

१८८, पूर्णाविति—पूर्ण शब्द से परे काकुद शब्द का समानान्त लोप  
विकल्प से होता है, बहुव्रीहि समास में ।

पूर्णकाकुत, पूर्णकाकुदः—पूर्ण काकुदं यस्य (पूर्ण है तालु जिसका)—इस  
विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है । जब उपसृक्त श्रुच से शब्द का लोप होता  
है तो पूर्णकाकुत्, जब लोप नहीं होता तो पूर्णकाकुदः रूप बनते हैं ।

१८९, सुहृद इति—बहुव्रीहि समास में सु और दुर से परे हृदय  
शब्द का निपातन द्वारा (समानान्त) 'हृद' हो जाता है कमजोर भिन्न और शत्रु  
अर्थ में ।

सुहृद—शोभनं हृदयं यस्य सः (प्रशंसा है हृदय जिसका वस, मित्र) = इस  
विग्रह में 'सु' का हृदय के साथ बहुव्रीहि समास होता है तथा उपसृक्त श्रुच  
में निपातन से हृदय को 'हृद' आदेन हो जाता है । इसी प्रकार "दुष्टं हृदयं  
यस्य"—दुष्ट है हृदय जिसका, शत्रु (अभिन्न) इस अर्थ में 'दुहृद' शब्द  
बनता है ।

१९०, उर इति—उरस् आदि शब्दों से समानान्त कप् प्रत्यय होता है,  
बहुव्रीहि में । कप् में ए का लोप हो जाता ॥ क दोष रहता है ।

१९१, स इति—पाश, कल्प, क और काम्य परे होने पर वितर्ग को स  
हो जाता है ।

- १६२। कस्कादिषु च । ८।३।४८। एत्विण उत्तरस्य विसर्गः ।  
 पः स्यादन्यत्र तु सः । इति सः, व्यूढोरसकः ।  
 १६३ । इणः घः ८।२।३६। इण उत्तरस्य विसर्गस्य ।  
 पाराकल्पककाम्येषु परेषु । प्रियसर्पिकः ।  
 १६४ । निष्ठा १।२।३६। निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्व स्यात् ।

१६२. कस्कादिष्विति—कस्क इत्यादि (यद्य पठित) शब्दों में क (मघात् इ, व, ए, ऐ, ओ आदि) से परे जाने विसर्ग को ए (एकार) हो जाता है, अन्य को स् (सकार) ।

व्यूढोरसकः—व्यूढन् उरो यस्य (विद्यास है वलःस्थल जिसका)—इस विग्रह में (व्यूढ+उरस्) बहुव्रीहि समास होता है । पूर्व सूत्र से समासात् कप् प्रत्यय हो जाता है । 'व्यूढ+उरस्'+क' इस दशा में स् को विसर्ग हो जाता है फिर विसर्ग को स् होता है ।

१६३. इण इति—इण से परे जाने विसर्ग को ए होता है—पाश, क क और काम्य पर होने पर—

प्रियसर्पिकः—प्रिय सर्पिः यस्य (पूत है प्रिय जिसको)—इस विग्रह व्यूढोरसक के समान समस्त कार्य होता है । किन्तु यहाँ विसर्ग इकार से होता है अतः विसर्ग को ए होता है ।

१६४. निष्ठंति—बहुव्रीहि समास में निष्ठा प्रत्ययात् शब्द का प्रयोग होता है ।

टिप्पणी—क और क्तवत् प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा है (क्तवत् निष्ठा अतः पठितः, पठितवाम् आदि शब्द निष्ठान्त हैं ।

१. सरपसानयोविसर्जनीयः ॥८३॥१२॥

२. सोअदादी ८।३।३८। से स् होता है (उत्तबोधिनी) फिर 'कस्का' च' का यहाँ क्या प्रयोजन है ? यह विचारणीय है ।

३. इणः घः ८।३।३६॥

युक्तयोगः ।

१६५ । शेषाद्विभाषा ॥१४॥१५॥ अनुक्तसमासान्ताद् बहुव्रीहेः  
कप वा स्यात् । महायशस्कः । महायशः । इति बहुव्रीहिः ॥४॥

अथ द्वन्द्वसमासः ॥५॥

१६६ । चार्ये द्वन्द्वः २।२।२६। अनेकं सुवर्तं चार्ये वर्तमानं  
वा समास्यते सध्वन्द्वः ।

युक्तयोगः—युक्तो योगो येन सः (सगाया है योग जिसने)—इस विग्रह में  
युक्त तथा योग शब्द का बहुव्रीहि समास होता है । उपर्युक्त सूत्र के अनुसार  
निष्ठान्त 'युक्त' शब्द का पूर्व प्रयोग हो जाता है ।

शेषाद् इति—जिस बहुव्रीहि समास से (कोई) समासान्त न कहा गया हो  
उससे समासान्त रूप प्रत्यय विकल्प से होता है ।

टिप्पणी—शेष का अर्थ है कहने से बचा हुआ । यहाँ वही शेष है जिस  
बहुव्रीहि से कोई समासान्त नहीं कहा गया है ।

महायशस्कः, महायशः—महत् यशो यस्य (महान् यश है जिसका)—इस  
विग्रह में महत् शब्द का यशस् के साथ बहुव्रीहि समास होता है । 'महत् +  
यशस्' इस वशा में 'महत्' शब्द के 'त्' को 'मा' हो जाता है । तथा उपर्युक्त  
सूत्र के अनुसार विकल्प से समासान्त शेषिक 'कप्' होकर 'महायशस् क → महा-  
यशस्क', कप् प्रत्यय न होने पर महायशस् + गु (प्र० एकवचन में) ध्रु शेष  
तथा ए से परे वाले अ को दीर्घ होकर स् को विसर्ग हो जावे है और महायशः  
रूप होता है ।

अथ द्वन्द्वः—१६६. चार्य इति—च (घोर) के अर्थ में वर्तमान अनेक  
मुख्यों का (विकल्प से) समास होना है और उसकी द्वन्द्व समास होती है ।

समुच्चयान्वाचयेत्तरेतरयोगसमाहाराच्चार्याः । तत्र 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' इति परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः । 'भिक्षामटं मां चानय' इति अन्यतरस्यानुषङ्गिकत्वेनान्वयोऽन्वाचयः । अन्ययोरसामर्थ्यात्समासो न ।

समुच्चयेति—समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार—ये चार 'च' के अर्थ हैं । इनमें—(प्रत्येक का सत्तण यह है)

समुच्चय—परस्पर-निरपेक्ष अनेक पदार्थों का एक में सम्मिल्य होना समुच्चय कहलाता है, जैसे—ईश्वर और गुरु की सेवा करो ।

यहाँ ईश्वर और गुरु पदार्थों का भजस्व (भजन क्रिया) में स्वतन्त्र रूप से सम्मिल्य होता है । 'ईश्वरं भजस्व', 'गुरुं भजस्व' इस प्रकार भलग भलग दोनों का क्रिया में सम्मिल्य होता है । ये दोनों पदार्थ सम्मिल्य में एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते । इसी हेतु दोनों परस्पर निरपेक्ष हैं ।

अन्वाचय—जब (च के अर्थ द्वारा जुड़ने वाले पदार्थों में से) एक का गौण रूप से (प्रानुषङ्गिकत्वेन) सम्मिल्य होता है, तो उसे अन्वाचय कहते हैं, जैसे 'भिक्षामटं मां चानय'—भिक्षा को जामो और गाय भी लामो ।

यहाँ च से दो कार्य जुड़े हैं—एक भिक्षा के लिये घूमना दूसरा गाय लाना । इनमें भिक्षा के लिये घूमना (भिक्षाटन) प्रधान कार्य है । यदि भिक्षाटन करते हुए गाय भिक्षा लाये तो उसे भी लेते जाना' इस तात्पर्य से 'गाय लाना' प्रानुषङ्गिक या गौण कार्य है, अतः यहाँ च 'अन्वाचय' अर्थ को प्रकट करता है ।

अनवीरिति—इन दोनों (समुच्चय और अन्वाचय) में सामर्थ्य न होने के कारण समास नहीं होता ।

विशेष—जहाँ अनेक पदार्थों का एक दूसरे के प्रति आकांक्षा होने से परस्पर सम्बन्ध होता है उसे सामर्थ्य ( ) कहते हैं<sup>१</sup> । वहाँ समास होता

धवसद्विरो द्विन्वि इति मिलितानामन्वय इतरेतरयोगः । 'संज्ञापरिभाषम्' इति, समूहः समाहारः ।

है ('समर्थः पदविधिः' २०१।१) । समुच्चय में दोनों पदार्थ निरोध हैं इसलिये उनमें सामर्थ्य नहीं । अन्वय में एक पदार्थ मौल्य होता है इसलिये वे परस्पर आकांक्षा नहीं रखते अतएव वहाँ भी सामर्थ्य नहीं । इसीलिये इन दोनों अर्थों में समास नहीं होता ।

इतरेतर योग—आपस में मिले हुए (इतर का इतर से योग) पदार्थों का एक में अन्वय होना इतरेतर योग कहलाता है, जैसे धवसद्विरो द्विन्वि—धव और सद्विरो को काटो ।

यहाँ धव और सद्विरो का एक साथ मिलकर 'काटना' (द्विन्वि) क्रिया में अन्वय होता है । किन्तु दोनों का अपना अलग-अलग 'व्यक्तित्व' रहता है यही द्विवचन से प्रकट होता है ।

समाहार—समाहार का अर्थ है समूह । जैसे; संज्ञापरिभाषम्—संज्ञा और परिभाषा का समूह ।

यहाँ संज्ञा और परिभाषा को समुदाय रूप में एक मान लिया जाता है, इनका निजी व्यक्तित्व समुदाय में तिरोहित हो जाता है और समुदाय का ही अर्थ अर्थ के साथ अन्वय होता है ।

विशेष—इतरेतरयोग और समाहार इन दोनों (ध के अर्थों) में सामर्थ्य होने के कारण द्वन्द्व समास होता है । इसी हेतु द्वन्द्व समास दो प्रकार का माना जाता है— १. इतरेतर द्वन्द्व । २. समाहार द्वन्द्व । इनके विग्रहादि निम्न प्रकार होते हैं—

धवसद्विरो—धवसध सद्विरोध (धव और सद्विरो)—इस विग्रह में धव और सद्विरो शब्दों का इतरेतर योग में द्वन्द्व समास हो जाता है । 'धव सु + सद्विरो सु' यहाँ विभक्ति का धोष हो जाने पर अल्लाचूतरम् २.२।१४ ॥ 'धव' का पूर्वनिपात होकर 'धवसद्विरो' समस्तपद बनता है । धव और सद्विरो दो हैं अतः प्रथमा द्विवचन की 'धो' विभक्ति धाने पर धवसद्विरो शब्द बनता है ।

१६७] राजदन्तादिषु परम् १२।२।३१। एषु पूर्वप्रयोगाहं परं  
स्यात् । दन्तानां राजा राजदन्तः । (वा) धर्मादिष्वनियमः ।  
अर्थधर्मो धर्माधीनित्वादि ।

टिप्पणी—इतरेतरयोग द्वन्द्व में यदि पदार्थ दो हों तो समास में द्विवचन  
होता है यदि दो से अधिक हों तो समास में बहुवचन, जैसे—धवस्व लविरश्च  
पलाशश्च—धवस्तदिरपलाशाः ।

सज्ञापरिभाषम्—सज्ञा च परिभाषा च तयोः समाहारः (सज्ञा भीर  
परिभाषा का समाहार) —इस विग्रह में समाहार अर्थ में द्वन्द्व समास हो जाता  
है । समाहार द्वन्द्व सदा नपुंसक<sup>१</sup> लिङ्ग भीर एकवचन में ही होता है ।  
नपुंसक लिङ्ग हो जाने से 'सज्ञा परिभाषा' इस समस्त पद के अन्त को ह्रस्व  
(भा को म हो जाता है) ।<sup>२</sup> तब प्रथमा एकवचन (नपुं०) की अम्' विभक्ति  
आकर 'सज्ञापरिभाषम्' रूप होता है ।

१६७. राजदन्तेति—राजदन्त आदि शब्दों में जिस शब्द का पूर्व प्रयोग  
प्राप्त हो, उसका परे (आगे) प्रयोग किया जाता है ।

राजदन्तः—दन्तानां राजा (दाँतों का राजा)—इस विग्रह में 'धण्ठी' सूत्र  
से (पण्ठी) तत्पुरुष समास होता है । यहाँ 'दन्त' शब्द का पूर्व प्रयोग प्राप्त  
है ।<sup>३</sup> इस सूत्र के अनुसार 'द-त' का प्रयोग आगे हो जाता है ।

धर्मादि (वा) -- धर्म (अर्थ) आदि शब्दों में जिसको पहले रक्ता आय,  
इसका नियम नहीं अपात् किसी को भी पहले रक्ता जा सरता है ।

टिप्पणी—'धर्मादि० इत्यादि' श्लेषपाठ के अन्तर्गत है ।  
द्वन्द्व समास के प्रकरण में 'धर्मादि' आदि प्रयोगों को दिखलाना अभीष्ट था,

१. स नपुंसकम् २।४।२७

२. ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य १।२।४७

३. प्रथमानिदिष्टं समास उपसर्जनम् १।२।४३। उपसर्जनं पूर्वम् २।२।३०



(१६८) द्वन्द्वे धि । २।२।३२। द्वन्द्वे घिसंज्ञं पूर्वं स्यात् । हरिश्च हरश्च हरिहरौ ।

(१६९) अजाद्यदन्तम् । २।२।३३। द्वदं द्वन्द्वे पूर्वं । स्यात् । ईशकृष्णौ ।

इसीलिए 'राजवन्ताद्विपु परम्' यह सूत्र यहाँ दिया गया है । 'राजवन्त' शब्द में पठ्ठी सत्पुरुष है यह ध्यान देने योग्य है ।

अयंयमौ, यमौयौ—अयंश्च यमश्च (अयं और यम) —इस विग्रह में इतरेतरयोग में द्वन्द्व समास होता है । पूर्वं प्रयोग का नियम न होने के कारण यो रूप बनते हैं ।

१६८. द्वन्द्व इति—द्वन्द्व समास में घि संज्ञक पद का पूर्वं प्रयोग होता है । यहाँ उपसर्जनं पूर्वम् २।२।३० से पूर्वं शब्द की अनुवृत्ति होती है ।

द्विषणी—वालिनि ने घि' एक संज्ञा की है । प्रायः छुर्य इकारान्त हरि आदि और उकारान्त शुक्र आदि शब्द (सति शब्द की छोड़कर) घिसंज्ञक होते हैं ।

हरिहरौ—हरिश्च हरश्च (हरि और हर) —इस विग्रह में इतरेतर द्वन्द्व समास होता है । हरि (इकारान्त) की 'घि' संज्ञा होने से इसका पूर्वं प्रयोग होता है ।

१६९. अजादीति—अच् (स्वर) है आदि में जिसके वह अजादि कहना है और अन् (अकार) जिसके अन्त में होता है वह अज्ज कहना है । ये दोनों एक के ही विशेषण हैं । अजात् जिसके आदि में स्वर हो, अन्त में 'अ' हो ऐसा शब्द । द्वन्द्व समास में अजादि और अजन्त पद का पूर्वं प्रयोग होता है ।

ईशकृष्णौ—ईशश्च कृष्णश्च (ईश और कृष्ण) —इस विग्रह में इतरेतर द्वन्द्व समास होता है । यहाँ 'ईश' शब्द अजादि (अच् है आदि में जिसके)

२००। अल्पाक्षरम् २.२।३५। शिवकेशवौ ।

२०१। पिता मात्रा १.२।७०। मात्रा सहोक्तौ पिता वा  
शब्दयते । माता च पिता च पितरौ, मातापितरौ वा ।

और प्रकारान्त है अतः एवं इसका पूर्व प्रयोग होता है ।

२००. अल्पाक्ष इति—‘अल्पाक्ष’ का अर्थ है—अल्प (चोटे) हैं अक्ष (स्वर) जिसमें । जिस शब्द में चोटे स्वर होते हैं, उसका इन्द्र समास में पूर्व प्रयोग होता है ।

शिवकेशवौ—शिवश्च केशवश्च (शिव और केशव)—इस विग्रह में (इतरेतर) इन्द्र समास होता है । यहाँ शिव अल्पाक्षर है अतः शिव का पूर्व प्रयोग ही जाता है ।

द्विवचनी—‘केशव’ में तीन (ए, अ, इ) स्वर हैं तथा ‘शिव’ में (इ, अ) दो स्वर हैं इसलिये ‘शिव’ अल्पाक्षर है ।

२०१. पितैति—‘मातृ’ शब्द के साथ कथन होने पर ‘पितृ’ शब्द विभक्त्य से बोध रहता है ।

पितरौ अथवा मातापितरौ—माता च पिता च (माता और पिता)—इस विग्रह में मातृ और पितृ शब्द का इतरेतर इन्द्र समास होता है । उपर्युक्त सूत्र के अनुसार ‘पितृ’ पद बोध रह जाता है, किन्तु यहाँ पितृ शब्द ‘माता और पिता’ दोनों के अर्थ को कहता है इसलिये द्विवचन में प्रयोग होता है और ‘पितरौ’ बनता है ।

अब एक बोध नहीं होता तब अधिक पूज्य होने के कारण ‘मातृ’ का पूर्व प्रयोग होता है—(अभ्यर्हित च, वातिक) । मातृ+पितृ इस दशा में पूर्वपद ‘मातृ’ के ऋ को आनङ् होकर (आनङ् ऋतो इन्द्रे ६।३।२३) माता पितृ—प्रथमा द्विवचन में—मातापितरौ ।

विशेष—जहाँ एक पद बोध रह जाता है उन संभासों को एकशेष कहते हैं । वास्तव में एक बोध कोई शृषक् समास नहीं, अपि तु ‘एकशेषवृत्ति’ नाम की भिन्न प्रकार की विधि है । एकशेष विधि में बोध रहने वाला पद अन्ते

२०२ । द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् । २।४।२। एषां द्वन्द्व  
एकवचम् । पाणिपादम् । मार्दङ्गिकर्वैण विकम् । रथिकादवारोहम् ।

२०३ । द्वन्द्वाच्चुदयहान्तात् समाहारे २।४।३। चवर्गान्ता-  
दपहास्ताश्च द्वन्द्वाट्टट् च्वात्समाहारे । वाक् च त्वक् च  
चात्त्वचम् ।

जाने जाने पद के अर्थ को भी कहता है—यः शिष्यते, स लुप्यमानायां निधायो  
भवति ।

२०२. द्वन्द्वश्चेति—यहाँ 'मञ्जु' शब्द का अन्वय प्राणि, तूर्य और सेना  
तीनों के साथ होता है । प्राणी, तूर्य (वायु) तथा सेना के मञ्जु के वाचक  
शब्दों का द्वन्द्व एक वचन में होता है । यह सूत्र नियमाय है । अभिप्राय यह है  
कि इनका समाहार अर्थ में ही द्वन्द्व समाप्त होता है, इतरेतर योग में नहीं ।  
समाहार एकवचन तथा नपुंसक में होता ही है ।

पाणिपादम्—पाणी च पादौ च (हाथ और पैर)—इस विग्रह में, प्राणी  
के मञ्जुवाची होने से पाणि तथा पाद शब्द का, उपर्युक्त नियम के अनुसार,  
समाहार द्वन्द्व ही होता है, नपुंसकसिद्ध एकवचन में 'पाणिपादम्' रूप  
होता है ।

मार्दङ्गिकर्वैणविकम्—मार्दङ्गिकश्च वैणविकश्च (मृदङ्ग बजाने वाला और  
वीणा बजाने वाला)—इस विग्रह में 'तूर्यमञ्जु' (वायु के मञ्जु) होने के कारण  
समाहार द्वन्द्व ही होता है तथा नपुं०, एकवचन होता है ।

रथिकादवारोहम्—रथिकाश्च अवरोहाश्च (रथिक और चढ़ावारी)—  
इस विग्रह में, सेना के मञ्जु होने के कारण समाहार द्वन्द्व ही होता है तथा  
नपुं०, एकवचन होता है ।

२०३ द्वन्द्वाच्च इति—जिस द्वन्द्व समाप्त के अन्त में चवर्ग (चु) द, ध या  
ह होते हैं, उससे समासान्त टच् प्रत्यय होता है, समाहार में ।

टच् में से ट् और च् चले जाते हैं केवल 'ध' छेब रहता है ।

चात्त्वचम्—वाक् च त्वक् च तयोः समाहारः (वाणी और त्वचा  
का समाहार)—इस विग्रह में वाक् और त्वक् का समाहार—अर्थ में द्वन्द्व

त्वक्स्त्रजम् । शमीदृषदम् । वाक्त्विवम् । छत्रोपानहम् । समाहारे  
किम् ? प्राबृट्शरदौ । इति द्वन्द्वः ॥१॥

समास होता है । पूर्वपद (वाक्) के व् को क् हो जाता है (धो: कृ: ) । 'वाक्  
त्वक्' यह चवर्गान्त है, अत एव समासान्त टच् प्रत्यय होकर 'वाक्त्वक् म'  
→ वाक्त्वच, मपुं० एकवचन में 'वाक्त्वचम्' ।

स्त्रजम्—स्त्रक् च जक् च तयोः समाहारः (स्त्रच् और जच् का  
समाहार)—इस विग्रह में स्त्रच् और जक् शब्दों का समाहार द्वन्द्व समास  
होता है । ऐसे कार्य वाक्त्वचम् के समान ।

शमीदृषदम्—शमी च दृषद् च तयोः समाहारः (शमी और पापाण का  
समाहार)—इस विग्रह में शमी और दृषद् का समाहार द्वन्द्व समास होता है ।  
अन्त में दृ होने से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होकर पहले के समान रूप  
बनता है ।

वाक्त्विवम्—वाक् च त्विद् च तयोः समाहारः (वाणी और प्रभा का  
समाहार)—इस विग्रह में 'वाक्' और 'त्विव्' शब्दों का समाहार धर्म में  
द्वन्द्व समास होता है । अन्त में 'व्' होने से समासान्त टच् प्रत्यय होकर रूप  
बनता है ।

छत्रोपानहम्—छत्रं चोपानहौ च तयोः समाहारः (छाता और जूती का  
समाहार)—इस विग्रह में छत्र और उपानह, शब्दों का समाहार धर्म में द्वन्द्व  
समास होता है । अन्त में 'ह्' होने के कारण उपसृक्त सूत्र से समासान्त टच्  
प्रत्यय होकर रूप बनता है ।

समाहारे किमिति—'समाहार में' ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि इतरेतर  
द्वन्द्व में समासान्त टच् प्रत्यय नहीं होता । जैसे—

प्राबृट्शरदौ—प्राबृट् च शरदश्च (बर्षा और शरद)—इस विग्रह में प्राबृट्  
और शरद शब्दों का इतरेतरधोष में द्वन्द्व समास होता है, अतः यहाँ समासान्त  
'टच्' प्रत्यय नहीं होता । ॥१॥

## अथ समासान्ताः ।

२०४ । ऋक् पूरब्धः पथामानक्षे १।४।७४ अ अनक्षे इति  
 ऋद्धेदः । ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अपत्ययोऽन्तावयवः, अक्ष या धूत-  
 पन्ताय तु न । अघर्चं । विष्णुपुरम् । विमलाय सरः । राजधुरा ।  
 अक्षे तु अक्षधूः । दृढधूरक्षः । सस्त्रिपथः । रन्ध्रपथो देरः ।

अथ समासान्ताः : २०४. ऋक्पूरिति—यहाँ समासान्ताः १।४।७४ से  
 समासांत शब्द की प्रनुवृत्ति होनी है । मूल में स्थित 'अनक्षे' इस पद का  
 अ+अनक्षे ग्रह क्षेत्र है । जिस समास के अन्त में ऋक्, पूर, अक्ष, धुर या  
 पथिन् शब्द होना है उस समास से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जाता है किन्तु  
 अक्ष (रन्ध्र का मध्य भाग) में जो 'धुर' (धुरी) शब्द को नहीं होता ।

अघर्चं—अघर्चं ऋचः (ऋचा का घापा)—इस विग्रह में तत्पुरुष समास  
 होता है । उपर्युक्त मूल से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जाता है । (पूर्व तिथि  
 पहले दी जा चुकी है) ।

विष्णुपुरम्—विष्णोः पृ (विष्णु की नगरी)—इस विग्रह में बन्धी  
 तत्पुरुष समास होता है । उपर्युक्त मूल से समासान्त 'अ' प्रत्यय होकर विष्णु  
 + पुर + अ → नपुंसकविज्ञ के प्रथमा एकवचन में विष्णुपुरम् ।

विमलाय सरः—विमला घापो मय (निर्मल हैं अल जिसमें)—इस  
 विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है । उपर्युक्त मूल से समासान्त ॥ प्रत्यय  
 होकर विमल + घाप + अ → विमलाय शब्द बनता है । सरम् (नदी) शब्द  
 का विशेषण होने से "विमलाय" नपुंसकविज्ञ एकवचन में होता है ।

राजधुरा—राज धू (शत्रु का भार)—इस विग्रह में बन्धी तत्पुरुष  
 समास होता है । उपर्युक्त मूल से समासान्त 'अ' प्रत्यय होकर राजन् + धुर  
 + अ । नु सोर होकर "राजधुर" । स्त्रीविज्ञ में टार् (मा) प्रत्यय (घनाघन-  
 टार्) होकर राजधुरा शब्द बनता है ।

अक्षे तु इति—अक्ष की धुरी के विषय में प्रयुक्त धुर शब्द से तो समा-  
 सान्त 'अ' प्रत्यय नहीं होता अतएव 'अक्षस्य धूः, अक्षे' 'बन्धी रूप बनता है ।  
 इसी प्रकार

दृढधूरः—दृढा धूर्ताय (दृढ धुरी है जिसकी)—इस विग्रह में बहुव्रीहि

२०५। अक्षणोऽदर्शनात्

अक्षणोऽदर्शनात् अक्षणोऽदर्शनात्

स्यात्समासान्तः। गवामक्षीव गवाक्षः।

२०६। उपसर्गादिध्वनः। उपसर्गादिध्वनः।

समास होने पर समासान्त 'ध' प्रत्यय नहीं होता। यहाँ 'धु' शब्द प्रत्यय के विषय में है।

सन्निपथः—सन्निपथः पञ्चाः (सत्ता का भाग) इस विग्रह में पठो तत्पुरुष समास होता है। अन्त ये 'पथिन्' शब्द होने से समासान्त 'ध' प्रत्यय हो जाता है। 'सन्निपथिन् ध' इस अवस्था में पथिन् के 'इन्' (टि) का (नस्तद्धिते) लोप होकर सन्निपथ→सन्निपथ. रूप बनता है।

रथपथो वृद्धः—रथपथः पञ्चाः यस्मिन् (रथपथी है) यान् (जितमें)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है। समासान्त 'ध' प्रत्यय होकर पहले के समान रूप बनता है।

२०५. अक्षण इति—अक्षणाधी से भिन्न अक्षि शब्द से समासान्त ध्व प्रत्यय होता है।

गवाक्षः—गवाम् अक्षि इव (गो की अक्षि जैसी—खिड़की)—इस विग्रह में पठो तत्पुरुष समास होता है। यहाँ अक्षि शब्द ध्व का पर्याय नहीं, इस लिये उपर्युक्त सूत्र से समासान्त ध्व प्रत्यय हो जाता है। 'गो+अक्षि+ध' इस रूपा में इकार का लोप (यस्येति च) होकर गव्+अक्ष्+ध→गवाक्ष रूप बनता है।

दिग्गती—गवाक्ष शब्द के विग्रह-ध्व में कुछ मतभेद है। मिद्वान्त कौमुदी की तत्त्वकोषिकी टीका के अनुसार अक्षि का ध्व है—दिग् (गावः शिरसाः, अक्षि शब्दो रथपथी) इसलिये यहाँ यह ध्व का पर्याय नहीं। बालमनोरमा के अनुसार यहाँ अक्षि शब्द अक्षिसदृश से आक्षेपिक है अतः यह ध्व का वाचक नहीं तथा ध्व प्रत्यय हो जाता है।

२०६. उपसर्गादिति—उपसर्ग से परे ध्वन् शब्द को समासान्त 'ध्व' प्रत्यय होता है।

प्राथम्यः .

. (यान् पर गवा दृष्टा) —इस विग्रह में

२०७ । न पूजनात् १।४।६६। पूजनाद्यात् परेभ्यः समासान्ता  
न भ्युः छः (वा) स्वतिभ्यामेव । सुराजा । अतिराजा । इति  
समासान्ताः ॥

'घस्यादयः जाभ्याघर्षे द्वितीयया' इस (बार्तिक) से प्रादि समास (तत्पुरुष)  
होता है । उपर्युक्त सूत्र के अनुसार समासान्त 'घच्' प्रत्यय होकर 'घ+मभ्वन्  
+घ' इस दशा में 'घन्' (टि) का लोप हो जाता है और प्राच्यः' शब्द  
बनता है ।

२०७. न पूजनाद् इति—प्रसंगार्थक शब्दों से परे वाले शब्द से समा-  
सान्त प्रत्यय नहीं होते । (तु और घटि शब्दों में परे वाले पदों से ही यह  
समासान्त प्रायवों का निषेध होता है ।)

सुराजा—शोभनी राजा (मच्छा राजा)—इस विग्रह में 'कृगतिप्रादयः'  
प्रादि (तत्पुरुष) समास होता है । यहाँ 'राजाहःससिम्पष्टच्' से समासान्त  
'टच्' प्रत्यय प्राप्त हुआ उसका उपर्युक्त सूत्र से निषेध हो जाने पर  
सुराजन् → (प्र०, एक०) 'सुराजा' रूप बनता है ।

अतिराजा—पूज्यो राजा (पूज्य राजा) इस विग्रह में प्रादि (तत्पुरुष)  
समास होता है । यहाँ भी समासान्त टच् प्रत्यय का निषेध हो जाता है ।

इति समासप्रकरणम्

## अथ कृदन्तप्रकरणम्

अथ कृदन्तकृत्यप्रक्रियाप्रकरणम् ॥१॥

२०८ । धातोः ३।१।६१

आवृतीयाध्यायसमाप्त्यन्तं ये प्रत्यावाप्ते धातोः परे लुः । कृदन्ति-  
दिति कृत्संज्ञा ।

२०९ । वाऽसकृपोऽस्त्रियाम् ३।१।६४

अस्मिन्धात्वधिकारेऽसकृपोऽपवापदप्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा  
स्थात् ल्यधिकारोक्तं विना ।

अथ कृदन्त कृत्यप्रक्रिया । २०८ धातोः—यह अधिकार सूत्र है । यहाँ  
(३।१।६१) से अष्टाध्यायी के तृतीय अध्याय की समाप्ति पर्यन्त जो प्रत्यय कहे  
गये हैं, वे धातु से परे होते हैं ।

कृदन्ति—कृदन्ति, ३।१।६१। इस सूत्र से (विद् भिन्न) इन प्रत्ययों की  
इत् संज्ञा होती है ।

२०९. वासक्य इति—इस धातु के अधिकार में असकृप अपवाद प्रत्यय  
उत्सर्ग प्रत्यय का विकल्प से बाधक होता है, 'स्त्रिया तित्' ३।३।६४। इस  
अधिकार में उक्त प्रत्ययों को छोड़कर ।

उत्सर्ग का अर्थ है—सामान्य (General) और अपवाद का अर्थ है—  
विशेष या बाधक (Exception) । नियम यह है कि अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग प्रत्यय  
का बाधक होता है । किन्तु इस सूत्र से धातु के अधिकार में उक्त असकृप  
प्रत्ययों के विषय में यह बाध विकल्प से होता है । जैसे—वर्तमान् ३।२।१।  
इस सूत्र द्वारा कर्म उत्पन्न होने पर सभी धातुओं से धातु प्रत्यय का विधान  
किया गया है । यह अणु सामान्य प्रत्यय है । आनोऽनुवर्गों वः ३।२।१। सूत्र  
द्वारा आन्त धातु से 'क' प्रत्यय का विधान किया गया है । यह 'क' प्रत्यय  
धातु प्रत्यय का अपवाद है । सकृप का अर्थ है—समान रूप वाला जैसे धातु  
और वः दोनो सकृप प्रत्यय हैं क्योंकि दोनों में 'घ' घेय रहता है । जो सकृप  
महो के असकृप प्रत्यय हैं; जैसे 'तस्मिन्' प्रत्यय का 'अन्' प्रत्यय असकृप है । ये  
असकृप प्रत्यय इन प्रकरणों में विहित हैं । पमठः धातु य  
सामान्यतः उक्त प्रत्यय तस्मिन् भी होता । अपवाद यः



२१० । कृत्याः ३।१।६५।

एबुलतृचावित्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः ।

२११ । कर्तरि कृत् ३।४।६७।

कृत्यप्रत्ययः कर्तरि स्यात् । इति प्राप्ते ।

२१२ । तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ३।४।७०।

एने भावकर्मणोरेव स्युः ।

२१३ । तव्यत्तव्यानीयरः ३।१।६६।

घातोरेते प्रत्ययाः स्युः । एधितव्यम्, एधनीयं स्वया ।

भी; जैसे दातव्यम्, देयम् दोनों रूप बनते हैं । किन्तु दातृरूप परिभाषा स्वी-  
कृतिप्राप्त प्रत्ययों में नहीं लगती । घतः 'स्थिप्रां विनन्' इस सामान्य नियम  
का 'घ' प्रत्ययान् ३।३।१०२। नित्य बाधक होता है और विकीर्ण रूप ही  
बनता है ।

२१०. कृत्या इति—एबुल तृचा ३।१।६५। इससे पहले के प्रत्ययों की  
वृत्त संज्ञा होती है ।

२११. कर्तरिणि—इप्रत्यय कर्ता अर्थ में होते हैं । इसके प्राप्त होने  
पर—

२१२. तयोरेवेनि—कृत्य, वन, घोर वान् अर्थ वाले प्रत्यय भाव और कर्म  
(तयो.) में ही होने हैं ।

२१३. तव्यदिति—घानु से तव्यन्, तव्य और घनीयर् प्रत्यय होते हैं ।  
तव्यन् में 'तव्य' का शेष रहता है तथा इसकी घानु से जोड़ने पर भी तव्य  
के समान ही रूप बनने हैं । केवल स्वर का भेद है, तव्यत् स्वरित होता है  
(तित्त्वस्वरितम्) । घनीयर् में घनीय शेष रहता है ।

एधितव्यम्, एधनीयम् स्वया (तुम्हें बड़ना चाहिये)—एध् (बढ़ि होना,  
धर्मर्ष) घानु से माघ में तव्य (तव्यन् भी) तथा घनीयर् प्रत्यय होने हैं ।

१. घार्धघानुधर्मस्वरनादेः ७।२।३५। इसके घानुमात्र ध्रुव (नेट) घानुओं  
में 'तव्य' प्रत्यय होने पर प्रत्यय घोर घानु के बीच में डट् का जाता है । इट्  
(६) शेष रहता है ।

भावे औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीबत्वम् । चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया ।  
 (घ) केलिमर उपसंख्यानम् ॥ पचेलिमा मायाः । पक्तव्याः ।  
 भिदेलिमाः सरलाः । भेनव्या दस्यर्थः । कर्मणि प्रत्ययाः ।

एप् + तव्य—तव्य से पूर्व 'इट' (इ) का यागम होकर एषितव्य, कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु भादि एषितव्यम् । एप् + घनीय—एघनीयम् ।

टिप्पणी—कृतद्वित समासार्थ १।२।४६। से कृदन्त, तद्धितान्त तथा समास की प्रातिपदिक संज्ञा होती है । पाणिनि व्याकरण में प्रातिपदिक संज्ञा वाले शब्द से ही 'सु' भादि (विभक्ति) प्रत्यय होने हैं ।

भाव इति—भाव में सामान्य एकवचन तथा नपुंसकलिङ्ग होता है । कृत्य प्रत्यय धर्मक धातुओं से भाव में होते हैं, तथा सकर्मक धातुओं से कर्म में (तयोरेव कृतधत्तप्रत्ययः) । एष् धातु सकर्मक है, इससे 'तव्यम्' भादि भाव में होते हैं । इसलिये 'एषितव्यम्' भादि में भाव में एकवचन तथा नपुंसकलिङ्ग होता है । इनके साथ बर्ता में तृतीय विभक्ति होती है (कृत्यकरणयोस्तृतीया) इसी से 'रव्या' यहाँ तृतीया विभक्ति है ।

चेतव्यः, चयनीयः वा धर्मस्त्वया—(तुम्हें धर्म प्रमित करना चाहिये)—यहाँ चि (चुनना, सकर्मक) धातु से कर्म में तव्य और घनीय प्रत्यय होते हैं । चि + तव्य—'इ' को गुण १ (ए) होकर चेतव्यः । चि + घनीय—'इ' को गुण 'ए' तथा 'ए' को 'घय्' होकर चयनीयः ।

चि धातु सकर्मक है । ऊपर के उदाहरण में कर्म में प्रत्यय हुआ है, इसी से 'चेतव्यः' भादि में कर्म (धर्म) के अनुसार पुल्लिङ्ग और एकवचन होता है । यहाँ (अनुक्त) कर्ता में तृतीया होती है—(त्वया) ।

केलिमर इति—केलिमर प्रत्यय भी तव्यत् भादि के साथ कहना चाहिये । केलिमर में 'एलिम' शेष रहता है ।

पचेलिमा मायाः—पक्तव्या (पकाने योग्य) —पच् (पकाना, सकर्मक + केलिमर—पचेलिमाः । कर्म में प्रत्यय होने से कर्म (मायाः) के अनुसार

१. इस प्रकरण में इगन्त (इक् प्रत्याहार है अन्त में मिलके) भङ्ग को 'सार्वधातुकार्यधातुबन्धोः ७।३।८४ से गुण होता है तथा उपधा ३ लघु इक् को 'पुगन्तलपूपयस्य च ७।३।८६ से ।

२१४ । कृत्यत्मुटो बहुलम् ३।१।१११।

‘कचचिप्रवृत्तिः कचचिदप्रवृत्तिः कचचिद्विभाषा कचचिदन्यदेव ।  
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुल्यकं वदति’ ॥१॥  
स्नानयनेनेति स्नानीयं चूनाम् । दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः ।

२१५ । अचो यत् ३।१।११२।

अजन्ताद्वातोयन् । चैयम् ।

पुंल्लिङ्ग तथा बहुवचन होता है ।

भिदेतिमाः सरसाः—भेतव्याः इत्यर्थः (काटने योग्य सरल वृक्ष)—भिद्  
(भेदना, तोटना) + वेतिमद्—भिदेतिमाः । पूर्ववत् ।

कर्मणोति—पवेतिमाः, भिदेतिमाः अं कर्म में प्रत्यय हुआ है, एच् और  
भिद् धातु सकर्मक है ।

२१४. कृत्येति—कृत्य संज्ञक प्रत्यय और एण्ड बहुलता से होते हैं । जहाँ  
कहे हैं उससे भिन्न स्थानों में भी होते हैं ।

टिप्पणी—बहुल शब्द का अर्थ है ‘बहुत उंचा’ (बहुवचन लाठीति)  
अगली कारिका में बहुल के प्रकार बताये हैं ।

कचचिविधि—कहीं (नियत) प्रवृत्ति होना, कहीं प्रवृत्ति न होना, कहीं  
विकल्प से होना, कहीं कुछ और ही होना इस प्रकार विधि का बहुत प्रकार  
का विधान देसकर (विद्वान्) चार प्रकार की (बहुलता) बताता है ।

स्नानीयम्—स्नानि अनेन (जिससे स्नान किया जाता है वह चूण स्नानीय  
कहा जाता है)—जहाँ ‘स्ना’ धातु से करण अर्थ में अनीयर् प्रत्यय बाहुल्यकाद् हो  
गया है—स्ना + अनीय ✓ स्नानीयम् ।

दानीयः—दीयतेऽस्मै (जिसे दिया जाता है, वह दानीय विप्र है)—  
‘दा’ धातु से सम्प्रदान में अनीयर् प्रत्यय हो जाता है ।

टिप्पणी—कृत्य प्रत्यय भाव और कर्म में होते हैं, ‘बहुल’ कहने से वे  
ऊपर के उदाहरणों में करण और सम्प्रदान में भी हो गये हैं ।

२१५. अच् इति—अजन्त (जिसके अन्त में स्वर हो) धातु से अच् प्रत्यय  
होता है ।

चैयम् (चुने योग्य)—अजन्त चिञ् (चुनना) धातु से यत् प्रत्यय होकर

२१६ । ईदिति १।४।६५।

यति परे आत् ईत्यात् । देयम् ।

२१७ । पोरदुपघात् ३।१।६५।

अगन्ति।दुपघात् स्यात् । अतोऽपवादः । शप्यम्, लभ्यम् ।

२१८ । एतिस्तुशास्वदुजुपः वयप् ३।१।१०६।

भ्यः वयप् स्यात् ।

२१९ । ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् १।१।७१।

→इ को गुण (ए) चेत् । प्रातिपदिक सज्ञा होकर लुप् सिङ्ग में घु=घम् ।

१६. ईदिति—यत् प्रत्यय परे होने पर या को ई हो जाता है ।

म् (देने योग्य या देना चाहिये)—दा (देना) यातु से यत् प्रत्यय  
+य→कार के युक्त से या को ई होकर की+य→ई को गुण ए  
रम् ।

७. पोरिति—जिस यातु के अन्त में वर्ण का कोई वर्ण हो तथा उपमा  
उससे यत् प्रत्यय होता है ।

इति—यह यत् प्रत्यय 'ऋहलोर्णत्' ३।१।१२४ से प्राप्त भवत् का  
।

म्—(दाय के योग्य)—यम् (दाय देना या दायव लावा) यातु के  
(वर्ण) है यो उपमा में 'छ' है इत्यतिरेकसे यत् प्रत्यय होकर  
→लप्यम् ।

८.—(पाने योग्य)—लम् (पाना) यातु से यत् प्रत्यय होकर  
→लभ्यम् ।

१०—लम् यातु के अन्त में वर्ण का वर्ण भू रे तथा अन्त के वर्ण से  
(उपमा) प्रकार है ।

एति इति—इत् (एडि) -

है । वयप् से

यातु से वयप्

उपमा भो

इत्यः । स्तुत्यः । शासु अनुशिष्टौ ।

२२० । शास इदङ्हलोः ॥१॥३५॥

शास उपधाया इत्यादङि हलादौ विडति च । शिष्यः । पृत्यः ।  
आदृत्यः । जुष्यः ।

२२१ । मृजेर्विभाषा ॥१॥१११॥

मृजेः क्यट्वा स्यात् । मृज्यः ।

होने पर ह्रस्व को तुक् का भागम हाता है । (क्यप् पित् है) ।

इत्यः, (जाने योग्य) — इत् (जाना) धातु से क्यप् प्रत्यय होकर इ+य-  
'इ' से परे तुक् (त्) का भागम इ+त्+य इत्यः । इसी प्रकार स्तु (स्तुति  
करना, धातु से — स्तु+क्यप् → स्तुत्यः (स्तुति करने योग्य) ।

शासु इति — शास् धातु धनुषासन धर्म में है ।

२२०. शास इति — शास् धातु की उपधा को इकार हो जाता है अङ्ग  
हलादि कित् छित् प्रत्यय परे होने पर । (क्यप् पित् है)

शिष्य — शास् (धनुषासन करना) — धातु से क्यप् प्रत्यय होकर  
शास्+क्यप् → शाम् के धा (उपधा) को इकार होकर शित्+य → शि  
प २ शिष्यः ।

क्षयः — (वरण करने योग्य) — वृ (वरण करना) धातु से क्यप्, वृ+  
→ तुक् होकर → क्षयः ।

आदृत्य — (आदर — योग्य, आदरणीय) — आदृ (उपसर्ग) पूर्वक वृ  
(आदर करना) धातु से क्यप् होकर आदृ+य → तुक् → आदृत्यः ।

जुष्यः — (सेवनीय) — जुष् (प्रीति तथा सेवा करना) धातु से क्यप् होकर  
जुष्यः ।

२२१. मृजेर्विति — मृज् धातु से क्यप् प्रत्यय होना है विफल से ।

मृज् (घुट्ट करने योग्य) — मृज् (घुट्ट करना) धातु से क्यप् होकर  
मृज्+य = मृज्यः २ ।

१. शासिविशिष्टौ च ॥१॥३५॥

२. कित् मल्य परे होने पर छिति च ॥१॥३५॥ से गुण कृद्धि का नियम हो

२२२ । ऋहसोरिण्यत् ६।१।१२५।

अवर्णांताद्धलन्ताच्च मातोऽर्यत् स्यात् । कार्यम् हार्यम् धार्यम् ।

२२३ । चजोः कुघिण्यतोः ७।१।२२।

चजोः कुत्वं स्यात् घिति ययति च परे ।

२२४ । मृजेर्वृद्धिः ७।२।११५।

मृजेरिको वृद्धिः स्यात् सार्वधातुकार्धधातुकयोः । भाग्यः ।

२२२. ऋहसोरिति—जिस धातु के अन्त में ऋकार प्रथवा अघञ्जन हो उससे ण्यत् प्रत्यय होता है ।

कार्यम्—(करने योग्य, करना चाहिये)—कृ (करना) धातु से ण्यत् प्रत्यय होकर कृ+य→णित् प्रत्यय परे होने से ऋ की वृद्धि भाद् होकर काद्+य→कार्यम् । इसी प्रकार हृ (हरण करना) से हृ+ण्यत्→हार्यम् (हरने योग्य) । धृ (धारण करना) से धृ+ण्यत्→धार्यम् (धारण करने योग्य) ।

२२३. चजोरिति—च और ज को 'कुत्वं' (कवर्ण) हो जाता है पितृ (जिसमें य हल् हो) और ण्यत् प्रत्यय परे होने पर ।

२२४. मृजेरिति—मृज् धातु के ऋ ( इक् ) को वृद्धि हो जाती है सार्व-धातुकमीर भार्गधातुक प्रत्यय परे होने पर ।

टिप्पणी— धातु से होने वाले तिङ् (तिप्, तल्, भि धादि) और शित् (जिसमें झ इत् हो) प्रत्यय 'सार्वधातुक' कहलाते हैं तथा इनसे भिन्न भार्ग-धातुक (तिङ्शितसार्वधातुकम् ३।४।११३ तथा भार्गधातुकं शेषः ३।४।११४) ।

भाग्यः (शुद्ध करने योग्य)—मृज् धातु से ण्यत् के विकल्प में ण्यत् प्रत्यय होकर मृज्+ण्यप्→ऊपर के सूत्रों से जकार को यकार (कृत्वं) तथा ऋ को षाद् (वृद्धि) भाद्+य्+य→भाग्यः ।

१. मषोर्जिण्यति ७।२।११५।

२२५ । भोज्यं भक्ष्ये ७।१।६६।  
भोग्यमन्यत् । इति कृत्यप्रक्रिया ॥१॥

अथ पूर्वकृदन्तम् ॥२॥

२२६ । ष्वल्लुत्तुचौ ३।१।१३१।  
घातोरेतौ स्तः । कर्तरि कृदिति कर्त्रर्थे ।  
२२७ । युबोरनाकौ ७।१।१।

यु यु एतयोरनाकौ स्तः । कारकः । कर्त्ता ।

२२५. भोज्यमिति—भक्ष्य अर्थ में भोज्य शब्द बनता है ।

भोज्यम् (खाने योग्य, भक्ष्य)—भुञ् (पासन तथा भोजन करना) धातु से 'स्त' होने के कारण ष्यत् प्रत्यय होता है । भुञ् + य इस वशा में ञ् को कृत्य ) प्राप्त होता है किन्तु ऊपर के सूत्र से भक्ष्य अर्थ में कृत्य का अभाव निपातन से से वह नहीं होता, 'उ' को गुण (घो) होकर भोज्यम् । अन्य अर्थात् गने योग्य अर्थ में कृत्य होकर भोग्यम् । इति कृत्य प्रक्रिया ॥१॥

२२६. अथ पूर्वकृदन्तम् । ष्वल्लुत्तुचौ—धातु से ष्वल् भीर लृच् प्रत्यय होते ष्वल् में वु तथा लृच् में तु शेष रहता है ।

द्वितीय—ष्वल्लुत्तुचौ से आरम्भ करके 'करत्ते यञः २४८' से पूर्व के प्रत्यय मान काल में होते हैं ।

कर्त्तरिति—'कर्त्तरि कृत् २११', इस सुत्रानुसार ये प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में हैं ।

२२७. युबोरिति—यु भीर वु इन दोनों को क्रमशः घत भीर भक्त आदेश पाते हैं ।

कारकः—करोति इति (करने वाला)—कृ (करना) धातु से कर्त्ता अर्थ ष्वल् प्राप्य होकर कृ + ष्वल् → वु को भक्त तथा ष्ट को मृष्टि (भार) र → कार् + भक्त → कारकः । स्थितिक्रम में कारिका, नपुंसकलिङ्ग में कम् ।

कर्त्ता—करोति इति (करने वाला)—कृ + लृच् → ष्ट को गुण

१. अथोञ्जिति ७।१।१३५।

२. सार्वधातुकार्यधातुकयोः ७।१।८४।

कट्टे के . . . . .

२२८ । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ॥३॥१॥२२४

नन्दादेभ्यः, प्रसादेर्णिनि, पचादेरच् म्यान् । नन्दयतीति नन्दनः ।  
जनमर्दयतीति जनार्दनः । लबलः । माही । व्यायी । मन्त्री । पचादि-  
राहतिगणः ।

घर् → कर् + कृ → कर्त्तुं । पु० प्रथमा एक० में कर्ता । (स्त्री०) कर्त्री, (नपुं०)  
कर्तृ ।

२२८. नन्दीति—नन्दि घाति घातुषो से ल्यु प्रत्यय, घट्, घादि से णिनि  
तथा पच्, घादि से घच् होता है ।

ल्यु में घु दोष रहता है, णिनि में हन् घोर घच् में घ । ये तीनों प्रत्यय  
कर्ता घर्ष में ही होते हैं ।

नन्दनः—नन्दयति इति (मान-वित करने वाला) —ल्यिच् प्रत्ययान्त (गैर-  
लार्थक) नन्दि घातु से ल्यु प्रत्यय होकर नन्दि + ल्यु → ल्यु को घन (घुषोरनाकी)  
नन्दि + घन → इ (णि) का मोप होकर नन्द + घन → नन्दनः ।

जनार्दन —जनमर्दयति इति (जन को मर्ति देने वाला, विष्णु) —जन उप  
पद-युक्त णिजन्त घट् (मर्ति घोर घातना) घातु से ल्यु प्रत्यय होता है । जन  
+ घट् + इ + ल्यु → ल्यु को घन तथा इ (णि) लोके जनार्दनः ।

लबलः—लुनाति इति (काटने वाला, ममक) —लुम् (काटना) घातु से  
ल्यु प्रत्यय होकर लू + ल्यु → लू + घन → लू को लृण (लाभेवातुपार्थवातुदयोः)  
लो तथा लो को लच् होकर लब् + घन । नन्दादिगण से निपातन से न को ल  
होता है—लबलः ।

माही—मृह्णाति इति (घट्टा करने वाला) —घट्ट (घट्टा करना) घातु से  
णिनि प्रत्यय होकर घट् + हन् इस वटा में वटा के घ को वृद्धि (मा) होकर  
घाट् + हन् → घाटिन् । पुं०, प्रथमा एकवचन में माही । : १

१. लोरेनिटि १॥३॥२॥१॥

२. घट उपवायाः ७॥२॥१॥१॥ उपवा के घ को वृद्धि होती है । निरु णि  
प्रत्यय परे होने पर ।



२२६ । इगुपधज्ञाप्रोक्तिरः कः ३।१।१३१।

एभ्यः कः स्यात् । युष्मः । कृतः । क्षः । प्रियः । किरः ।

स्वायी—तिष्ठति इति (स्थिर)—पठा (ठहरना) धातु से एिनि प्रत्यय होकर स्वा+इन् इस दशा में एित् प्रत्यय परे होने से स्वा धातु को युक् का भागम होता है । स्वा+म्+इन्→स्वायिन्→पु० एक० में स्वायी ।

मन्त्री—मन्त्रति इति (मन्त्रणा देने वाला)—एित् प्रत्ययान्त मन्त्रि (चुरादि, गुप्त वार्तालाप करना) धातु से एिनि प्रत्यय होता है । मन्त्र्+इ (णिच्)+एिनि→मन्त्र्+इ+इन्→इ (एि) का लोप होकर मन्त्र+इन्→मन्त्रिन्→मन्त्री ।

पकादिरिति—पच् आदि धाकृतिगण है । पयति इति पचः→पच्+अप् (पकाने वाला) इत्यादि शब्द धच् प्रत्ययान्त हैं ।

२२६. इगुपधेति—जिन धातुओं की उपधा में इ, उ, ऋ, लृ (इक्) में से कोई हो (इगुपध) इनसे तथा ज्ञा, प्री और कृ धातु से क प्रत्यय होता है । क प्रत्यय में म लोप रहता है । मह प्रत्यय कित् है अतः इसके परे रहते 'विडति च' से गुण-निर्देश आता है ।

बुध—(जानने वाला, विद्वान्) बुध् (जानना) धातु की उपधा में उ (इक्) है । अतः इससे क प्रत्यय होकर बुध्+अ→बुधः । प्रत्यय के कित् होने से व को गुण (घो) नहीं होता (विडति च) ।

कृशः—कृषयति इति (दुबला, क्षीण)—कृष् (दुबला होता) धातु से क प्रत्यय होकर कृशः । (ऋ को गुण नहीं होता) ।

ज्ञः—जानाति इति (जानने वाला)—ज्ञा (जानना) धातु से क प्रत्यय होकर ज्ञा+अ→प्रत्यय के कित् होने से घा का लोप (धातो लोप इति च ६।४।६४) होकर ज्ञ्+अ→ज्ञः ।

१. धातो युक् चित्कृतोः ७।३।३३। आकारान्त को युक् का भागम होता है । तथा एित् कृत् प्रत्यय परे होने पर ।



२३२ । कर्मण्यण् ३।२।१।

कर्मण्युपपदे घातोरण् प्रत्ययः स्यात् । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।

२३३ । आतोऽनुपसर्गे कः ३।२।३।

आदन्ताद्धातोरनुपसर्गात्कर्मण्युपपदे कः स्यात् । अणोऽपवादः ।

आतो लोपः । गोदः । घनदः । कम्बलदः । अनुपसर्गे किम्, ? गोसन्दायः

पुंलिङ्ग में तदा बहुवचनात् होता है, जैसे—गृहाः दाराः ।

२३२. कर्मणीति—कर्म उपपद होने पर घातु से घण् प्रत्यय होता है ।

कुम्भकारः—कुम्भ करोति इति (घड़ा बनाने वाला—कुम्हार)—इस विग्रह में कुम्भ+क+घण्→क के ऋकार को वृद्धि धाट् होकर कुम्भ+कार→कुम्भ की कार शब्द के साथ उपपद समास (उपपदमतिङ्) होकर कुम्भकारः ।

टिप्पणी—इस घातु अधिकार में कृत्प्रत्यय पदों से सम्भक्त जाने वाला (बोध्य) पद उपपद कहनाता है और उसका अगले पद से समास होता है (उपपदमतिङ्) । (विलोप इष्टव्य 'उपपदमतिङ् १५५')

२३३. आतइति—जिससे पहले उपसर्ग न हो ऐसी आदन्त घातु से कर्म उपपद होने पर 'क' प्रत्यय होता है । यह घण् का आभक्त है ।

गोदः—गां ददाति इति (गाय देने वाला)—गो+दा+क→गो+दा+र→पा का लोप होकर गो+द+घ→गोदः । इसी प्रकार घनं ददाति इति नदः (घन+दा+क) । कम्बलं ददाति इति कम्बलदः (कम्बल+दा+क) ।

अनुपसर्गे किमिति—उपसर्ग रहित आकारान्त घातु से क होता है यह क्यों ? इसलिये कि गोसन्दायः में 'सम्' उपसर्ग सहित दा घातु है मतः यहाँ क

ॐ (वा) मूलविभुजादिभ्यः कः ॥ मूलानि विभुजनीति मूलविभुजो  
रयः आकृतिगणोऽयम् । महीध्रः । कुम्भः ।

२२४ । चरेष्टः ३।२।१५।

अधिकरणे उपपदे । कुरुचरः ।

२२५ । भिक्षासेनादायेषु च ३।२।१७।

भिक्षाचरः । सेनाचरः । आदायेति क्यबन्तम् । आदायचरः ।

मही होता अर्धितु अण् प्रत्यय होता है गो + तम् + दा + अण् → दा से परे मुक्  
का भाग्य' गो + दा + व् → घ → मोतग्भावः ।

मूलेति (वा)—मूलविभुज आदि धातुओं में क प्रत्यय होता है ।

मूलविभुजो रयः—मूलानि विभुजति (जड़ों को कुचने वाला रय)—  
मूल + विभुज + क → मूल + विभुज, उपपद समाप्त होकर मूलविभुजः ।

आकृतिगणोति यह (मूलविभुज आदि) आकृति गण है । अतएव मही  
धरति इति → मही + धृ + क → प्रत्यय के टिप् होने से गुण लट् होता अर्धितु  
अ को दृ (घण्) होकर मही + घ + दृ + घ = महीध्रः । इसी प्रकार कुं  
पृथिवी धरति कुम्भः । महीध्र धीर कुम्भ धार 'धरत' के पर्याय है ।

२२४. चरेरिति—अधिकरण उपपद होने पर चर् भातु से ट प्रत्यय होता  
है । ट में घ टिप् रहता है । टिप् होने से स्त्री० में झीप ।

कुरुचरः—कुरुषु धरति इति (कुरुदेश में घूमने वाला)—कुरु + चर् +  
ट → कुरु + चर् + घ → उपपद समाप्त कुरुचरः । स्त्रीभिन्न में टिप् होने से  
झीप् कुरुचरी ।

२२५. भिक्षेति—भिक्षा सेना धीर आदाय धार उपपद होने पर चर्  
भातु से ट प्रत्यय होता है ।

भिक्षाचरः—भिक्षा धरति (भिक्षाचरण करने वाला)—भिक्षा + चर् +  
ट ।

सेनाचरः—सेना धरति (सेना में प्रविष्ट होता है)—सेना + चर् + ट ।

१. धाता मुक् विण् कृतोः ७।३।१३।

२. टिङ्ङाणम् ० ४।१।१५।

३. सेना धरति प्रविशतीत्यर्थः (दह्यबोधिनी) ।

२३२ । कर्मण्यण् ३।२।१।

कर्मण्युपपदे घातोरण् प्रत्ययः स्यात् । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।

२३३ । आतोऽनुपसर्गे कः ३।२।३।

आदन्ताद्धातोरनुपसर्गात्कर्मण्युपपदे कः स्यात् । अणोऽपवादः ।

आतो लोपः । गोघः । घनदः । कम्बलदः । अनुपसर्गे किम् ? गोसम्बाधः ।

पुंल्लिङ्ग में गदा बहुवचनात् होता है, जैसे—गुहाः दाराः ।

२३२. कर्मण्यणि—कर्म उपपद होने पर घातु से घण् प्रत्यय होता है ।

कुम्भकारः—कुम्भ करोति इति (पटा बनाने वाला—कुम्भार)—इस विषय में कुम्भ + क + घण् → क के लकार को मूढ़ि घाट् होकर कुम्भ + कार → कुम्भ की वार एतद् के साथ उपपद समास (उपपदमनिद्) होकर कुम्भकारः ।

द्विपत्नी—दस धातु अघिवाज में कल्पमन्त्र पदों से सम्मान जाने वाला (बीज्य) पर उपपद कर्मणा है और उसका अन्त्ये पद से समास होता है (उपपदमनिद्) । (विमोप इष्टव्य 'उपपदमनिद् १२५')

२३३. घातइति—जिसमें पहले उपसर्ग न हो ऐसी आदेश्य धातु से कर्म उपपद होने पर 'क' प्रत्यय होता है । बहु घण् का बाधक है ।

गोघः—गो ददाति इति (गाय देने वाला)—गो + दा + क → गो + दा + क → पा दा लोर्ग होकर गो + द + घ → गोघः । इसी प्रकार क्वं ददाति इति नदः (घन + दा + क) । कम्बल ददाति इति कम्बलदः (कम्बल + दा + क) ।

अनुपसर्गे विमिति—उपसर्ग सहित आकाराल धातु से क होता है यह क्यों ? इसविषये कि गोसम्बाधः में 'सम्' उपसर्ग सहित दा धातु है अतः यहाँ क

मृत्तुजनात् मृत्तुवभुजा

महीप्र. । कुप्र. ।

२३४ । चरेष्टः ३।२।१६।

अधिकरणे उपपदे । कुरुचरः ।

२३५ । भिदासेनादायेषु च ३।२।१७।

भिदाचरः । सेनाचरः । आदायेति क्यबन्तम् । आदायचरः ।

भिता धातु धातु प्रापय' होता है गो + धम् + दा + धात् → दा ध परे दुक्  
गम' गो + दा + ध् → ध् → गोवन्दायः ।

लेनि (३१) — मूलविभुज धाति धातुओं में क प्रत्यय होता है ।

विभुजो रथः — मूलानि विभुजति (बच्चों को कुचनने वाला रथ) —  
विभुज + क → मूल + विभुज, उपपद समाप्त होकर मूलविभुज ।

इति धातु (मूलविभुज धाति) धातुनि गण है । धातुव मही

ति → मही + ध् + क → प्रापय के वित् होने से गुण मही होता धातु

रु (पण) होकर मही + ध् + रु + ध् = महीप्र । इसी प्रकार कू

प्रति कुप्रः । महीप्र और कुप्र धातु 'चरन्त' के वर्ग में हैं ।

४. चरेष्टि — अधिकरण उपपद होने पर चर् धातु में ट प्रत्यय होता  
है । चर् ट पर होता है । टित् होने से स्त्री० में डीप ।

चरः — कुरुषु चरति इति (कुरुप्रदेस में घूमने वाला) — कुरु + चर् +  
क + चर् + ध् → उपपद समाप्त कुरुचरः । स्त्रीमिह में टित् होने से

चरी ।

५. भिसेनि — भिदा सेना धातु धातुव धातु उपपद होने पर चर्

प्रत्यय होता है ।

चरः — भिदा धाति (भिदाचरण करने वाला) — भिदा + चर् +  
क + चर् + ध् → उपपद समाप्त भिदाचरः । स्त्रीमिह में टित् होने से

चरी ।

६. भिसेनि — भिदा सेना धातु धातुव धातु उपपद होने पर चर्

प्रत्यय होता है ।

चरः — भिदा धाति (भिदाचरण करने वाला) — भिदा + चर् +  
क + चर् + ध् → उपपद समाप्त भिदाचरः । स्त्रीमिह में टित् होने से

चरी ।

७. भिसेनि — भिदा सेना धातु धातुव धातु उपपद होने पर चर्

प्रत्यय होता है ।

चरः — भिदा धाति (भिदाचरण करने वाला) — भिदा + चर् +  
क + चर् + ध् → उपपद समाप्त भिदाचरः । स्त्रीमिह में टित् होने से

२३६ । कृजो हेतुमाच्छ्रोत्यानुलोम्येषु ३।२।२०।

पुं शोऽनेषु करोतेष्टः स्यात् ।

२३७ । कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णोप्वनव्ययस्य ८।१।४१।

आदुत्तरस्यानव्ययस्य विभर्गस्य समासे निरर्थं भादेशः स्यात् करो-  
स्यादिषु पदेषु यशाकरी विद्या । आदृकरः । वचनकरः ।

२३८ । एजेः सप्त ३।२।२ ।

यचन्तादेजेः सप्त स्यात् ।

आदायेति—‘आदाय’ बहु स्या प्रत्ययान्त शब्द है ।

आदायकर.—आदाय (गृहीत्वा) चरति (सेकर चलने वाला)—आदा  
+ कर् + ट ।

२३६. कृज इति—हेतु, ताच्छील्य (वैसा स्वभाव होना) तथा धातुचोम  
(धनुकुलता) प्रकट हो तो (कर्म उपपद होने पर) कृ धातु से ट प्रत्यय  
होता है ।

२३७. घत इति—घाकार से परे उस विभर्ग को, जो अन्त्य का न हो,  
समास में निरर्थ सकार भादेश हो जाता है कृ, कम् धातु तथा कुम्भ, पात्र,  
कुशा और कर्णों शब्द पर होने पर ।

यशाकरी विद्या—यशः करोति, तद्धेतुः (यश दा हेतु विद्या)—कृजो हेतु-  
शून्य से हेतु धर्म में ट प्रत्यय होकर यशः + कृ = ट → यशः + कृ + घ → घ को  
गुण धर् यशः + कर → उपपद समास तथा ऊपर के शून्य से विभर्ग को ल होकर  
यशस्कर (स्त्री०) छीप् प्रत्यय यशस्करी ।

आदृकरः—आदृ करोति, तच्छीलः यद्यपि आदृ कर्तुं पीतमस्य  
(स्वभाव से आदृ करने वाला)—आदृ + कृ + ट → आदृ + कृ + घ → घ  
को गुण धर् आदृ + कर उपपद समास आदृकर ।

वचनकरः—वचनं करोति, तदनुलोमः । (वचनानुकूल कार्य करने वाला)—  
वचन + कृ + ट → वचनकरः ।

२३८. एजेरिति—एिप् प्रत्ययान्त (प्रेरणाधिक) एज् (कांपना) धातु

२३६ । अरुद्विपदजन्तस्य मुम् ६।३।६७।

अरुपो द्विपतोऽजन्तस्य मुमागमः स्यात् खिद्वन्ते परे नत्वन् यः ।  
शित्वाच्छवादिः । जनमेजयतीति जनमेजयः ।

२४० । प्रियवदो वदः खच् ३।२।३८।

प्रियवदः । वशवदः ।

२४१ । अग्येभ्योऽपि ह्रियन्ते ३।२।७५।

प्रतिन् वदन्तिप् खिच् एने प्रत्यया घातोः स्युः ।

से घञ् प्रत्यय होता है ।

सप्त प्रत्यय में अ दीप्त रहता है । शित होने से इसकी सार्वधातुक (तिङ्, धित् सार्वधातुकम्) संज्ञा होती है । घतः बीच में घप् (घ) घादि घा घाता है । 'खिच्' करने का काल आये बतलाया जाता है—

२३६. अरुद्विपदजन्तस्य—अरुप् द्विपत् घोर अजन्त (स्वराजन्त) घञ् को मुम् का प्रागम होना है । खिद्वन्त घञ् पर होने पर खिद्वन्त अक्षय को दर्शाते ।

शित्वाच्छादि—राप् प्रत्यय के शित होने से राप् घादि होते हैं ।

जनमेजयः—जनमेजयति (जनता को कमाने वाला, राजा है)।

जिजन्त एज् घातु (एजि) से सप्त प्रत्यय होता है । जन घम् + एजि + घत् → एजि घोर राप् के बीच में घप् (घ) होकर जन घम् + एजि + घ + घ (खच्) → 'ह' को गुण ए तथा घप् होकर जन + एज्य + घ + घ पढ़ने घ को परस्पर होना है तथा घम् का लुक् (मुपो घातु) होकर → खिद्वन्त एज्य घञ् पर रहने पर अजन्त जन को मुम् (म) —जन + म् + एज्य → जनमेजयः ।

प्रियवद इति—प्रिय और वद (कर्म) उपपद होने पर वद घातु से सप्त प्रत्यय होता है । वद में अ दीप्त रहता है ।

प्रियवदः—प्रिय वदति (प्रिय बोलने वाला) —प्रिय + वद् + खच् → प्रिय + वद् + घ → प्रिय से परे मुम् (म्) का प्रागम होकर प्रिय + म् + वद् → म् को अनुस्वार प्रियवदः ।

वशवदः—वशवदति (वशीन) —वश + वद् + खच् ।

१. कर्त्तरि राप् ३।२।६८।

२. घटो दुष्टे ६।२।६७।



२४२ । नेङ् वशि कृति ७।२।=।

यशादेः कृत इण् न स्यात् । शृ हिंसायाम् । सुशर्मा । प्रातरित्वा ।

२४३ । विह्वनोरनुसिकस्याऽऽत् १।४।४१।

अनुनासिकस्याऽऽत्स्यात् विजायत इति विजावा । ओण् अपत्यने ।  
अवावा । विच् । रुप रिप हिंसायाम् । रोट् । रेट् । सुगुण ।

२४१. अन्येभ्य इति—मनिन्, वनिप्, वनिप् घोर विच् ये प्रत्यय चातु से देखे जाते हैं ।

इस सूत्र में 'अन्येभ्यः' का अर्थ है—गहले सूत्र—घातो मनिन् वनिच्-वनिपदन १।२।७४। में कही गई (घाकाराग्ल) चातुर्थों से भिन्न चातुर्थों से परे, इसलिये प्रयोग का अनुमरण करके चातु मात्र से ये प्रत्यय होते हैं । मनिन् में मन् वनिप् घोर वनिप् से वन् छेप रहता है । विच् का लोप (सर्वाग्ल) हो जाता है ।

२४२. नेङिनि—जित कृन् के घादि में व, द्, म् तथा बर्गों के पाँचों बोधे, तीसरे घञर (वञ्) होने हैं (बभावि) उसे इट् का आगम नहीं होता [यह 'घाद्यं चातुर्थेभ्य इत् समादे.' का शापक है] ।

सुशर्मा—सुष्ठु गृणाति (घञ्छी तरह हिंसा करता है)—सु ऊना पूर्वक सु (हिंसा करना) चातु से मनिन् प्रत्यय होकर सुगु + मन् → ग्गु क गुण भर होकर सुगर् + मन् → ऊनर के गून् से इट् का नियम होकर सुशर्मन् प्र० एक० सुशर्मा ।

प्रातरित्वा—प्रातः एति (प्रातः जाने वाला)—प्रातर् पूर्वक इण् (प्रातः, चातु से वनिप् प्रत्यय होकर प्रातर् + इ + वन् → प्रत्यय के पितृ होने से पूर्व तत्त्व 'इ' का लुट् का आगम होकर प्रातर् + इ + ल् → वन् → प्रातः रित्वन्, प्र० एक० प्रातरित्वा ।

२४३. विह्वनि—विट् घोर वनिप्, वनिप् (वन्) प्रत्यय परे होने पर अनुनासिक वरां को घा हो जाता है ।

१. ह्रस्वस्य गिति कृति लृट् १।१।७१।

२४४ । विवृप् च ३।२।७६।

अयमपि दृश्यते । उदासत् । पर्यन्वत् । बाह्व्रट् ।

**विजावा**—विजावने (विविध प्रकार से होने वाला) —वि पूर्वक जन् । उपपत्ति, प्राविर्भाव) धातु से वनिप् प्रत्यय होकर विजन + वन् → न् (धनु-नामिक) को या विज + प्रा + वन् + विजावन् प्र० एक० में विजावा ।

**घवावा**—घोलति घपनयति इत्यर्थः (हटाने वाला) —घोए (हटाना) धातु से वनिप् प्रत्यय होता है । घोए + वन् → ए को या होकर घो + प्रा + वन् → घो को धव्-घवावन् । प्र० एक० में घवावा ।

**रोट**—(हिंसा करने वाला —रुप् (हिंसा करना) धातु से विष् प्रत्यय होता है । रुप् + विष् → विष् का लोप (सर्वापहार) तथा 'उ' को गुण घो होकर रीप् । रीप् से प्रथमा एकवचने र्मेप् को ह (जश्त्व) तथा द् (चर्त्वं) होकर रोट् । इसी प्रकार रिप् (हिंसा करना) धातु से रेद् ।

**सुगण**—मुष्टु गणयति (घण्टी तरह गिनने वाला) सु पूर्वक गण धातु से विष् प्रत्यय होता है । सुगण् + विष् → विष् का लोप सुगण् ।

२४५. विवृन् चेति—धातुघो से विवृन् प्रत्यय भी देखा जाता है ।

**विप्लली**—विवृप् का सर्वापहार हो जाता है । वह प्रत्यय क्ति घोर पिन् है ।

**उदासत्**—उपायाः१ (पात्रात्) स सते [पतीसी से गिने वाला]—उदापूर्वक लं स् धातु से विवृप् प्रत्यय होकर उदा मस् + ल् स् + विवृप् → विवृप् का लोप तथा प्रत्यय ल् क्ति होने से धातु के न् [धनुस्वार] का लोप उपपन्न समास तथा मूर् (मस्) लोप होकर उदासत् प्र० एक० में धन्त के स् की द् घोर द् की विकल्प त् (बाधसाने से चर्त्वं) होकर उदासत् ।

**पर्यन्वत्**—पर्यन्दि प्यसते [पत्त से गिरने वाला]—पर्य + प्यंस् + विवृप् दोष उदासत् के समान है ।

१. पिठरः स्थाली उदाकुण्डम्-अमरकोष ।

२. अनिदिता हल

उपायाः विडति ६।४।२४ ।

३. वसुसंमुखस्वनद्वौ दः ६।२।७२

३४५ । सुप्यजातो णिनिस्ताच्छीत्ये । ३।२।७८।

अजात्यर्थे सुपि घातोणिनिः स्यात् ताच्छीत्ये शोत्ये । उष्णभोजी ।

२४६ । मनः । ३।२।८२

सुपि मन्यतेणिनिः स्यात् । दर्शनीयमानो ।

२४७ । आत्ममाने स्वद्वे । ३।२।८३।

स्वकर्मके मनने वर्तमानान् मन्यतेः सुपि स्वश्च स्यात् चाणिनिः ।

वाहधट्—वाहात् [धरवान्] धरते [ धरव से गिरने वाला ]—वाह् + भृ + क्तिच्, विवप् का लोट, न् का लोप होकर वाहधट् । प्र० एक-वचन में 'सु' प्रत्यय, सुलोप तथा न् को 'धरव०' इत्यादि सूत्र से प् और प् को द् [जडव] द् [पर्व] होकर वाहधट् ।

२४५. सुप्रीति—जातिवाचक [गो प्रादि] से भिन्न कोई सुवन्त उपपद होने पर घातु से णिनि प्रत्यय होता है यदि ताच्छीत्य (घादत) प्रकट करता हो । 'णिनि' में इन् लोप रहता है ।

उष्णभोजी—उष्ण भूङ्क्ते तच्छीतः धरवा भोजतुं क्षीतमस्य (गर्म गर्म खाने की भावत वाला)—यहाँ उष्ण सुवन्त उपपद है, जो जातिवाचक नहीं प्रत्युत गुणवाचक है । उष्ण पूर्वक भुज् (खाना) घातु से णिनि प्रत्यय होकर उष्ण भम् + भुज् + इन् → 'उ' की गुण धी तथा उपपद समास और सुप् (भम्) लोप होकर उष्णभोजिन्; प्र० एक० में उष्णभोजी ।

२४६. मन इति—सुवन्त उपपद होने पर मन् घातु ३ णिनि होता है ।

दर्शनीयमानो—दर्शनीयं मन्यते ( दर्शनीय मानने वाला )—'दर्शनीयम्' सवन्त उपपद होने पर मन् (जानना, दिवादि) घातु से णिनि प्रत्यय होता है । दर्शनीय भम् + मन् + इन् → मन् के व को वृद्धि (घा) तथा उपपद समास और सुप् (भम्) लोप होकर दर्शनीय + मान् + इन् → दर्शनीयमानिन्; प्र० एक० में दर्शनीयमानो ।

२४७. आत्ममान इति—अपने आपको ( स्वकर्मक ) कुछ मानने के

पण्डितमात्मानं मन्यते पण्डितमन्यः । पण्डितमानी ।

२४८ । वित्यनव्ययस्य ६।२।६६।

खिदन्ते परे पूर्वपदस्य ह्रावः स्यात् । ततो मुम् । कालिमन्या ।

२४९ । करणे यजः ३।२।८५।

करणे चपदे भूतार्थयजेर्णिनिः स्यात्, कर्तरि । सोमेनेष्टवान्

अथ में वित्तमान मन् घातु से मुक्त उपरद होने पर अन् प्रत्यय होता है और णिनि भी ।

पण्डितमन्य — पण्डितमात्मानं मन्यते (अपने आत्मा को पण्डित मानता है) — इस विग्रह में पण्डितम् मुक्त उपरद होने पर मन् घातु से अन् प्रत्यय होता है । पण्डित अम् + मन् + घात् → घित् होने से अम् की सार्वधातु सज्ञा होती है और घातु से २ वयन् (य) हो जाता है । उपरद सप्तात तथा मुम् (अम्) का लोप होकर → पण्डित + मन् + य (यन्) + अ = खिदन्त शब्द से पूर्व भजत (पण्डित) को मुम् (म्) का आगम होकर पण्डित + म् + मन्य + अ → अ की परस्पर होकर पण्डितमन्यः ।

पण्डितमानी — पण्ड में णिनि प्रत्यय होकर पण्डित अम् + मन् + णिनि → दांनीयमानी के समान कार्य ह्रावः का बनता है ।

२४८ वित्तीति — लिङ्ग परे होने पर अव्यय-भिन्न पूर्वपद को ह्रस्व होता है ।

कालिमन्या — कालीम् आत्मानं मन्यते (अपने आत्मा को काली समझती है) — काली मुक्त उपरद होने पर मन् घातु से अम् प्रत्यय होता है । घातु से वयन् होकर काली + मन्य + अ → ऊपर के मूल से ई को ह्रस्व इ होकर मुम् का आगम होता है तथा स्त्रीलोपक टाप् प्रत्यय होकर कालिमन्या ।

२४९. करण इति — करण कारक उपरद होने पर भूतकाल में यज

१. तिङ्घित् सार्वधातुकम् ।

२. दिवादिभ्यः यन् ३।१।६६ ।

३. अतो गुणे ६।१।६७ ।

सोमयाजी । अग्निष्टोमयाजी ।

२५० । दशोः क्वनिप् ३।२।१५।

कर्मणि भूते । पारं दृष्टवान् पारदृश्व ।

२५१ । राजनि युधि कूळः ३।२।१६।

क्वनिपस्योत् । युधिर्गन्तर्भावितस्यर्थः । राजानं योषितवान् राज-

धातु के णिनि प्रत्यय होता है, कर्त्ता में ।

टिप्पणी—‘करणे यजः २४६’ से वरमुश्च २७१ तक के प्रत्यय भूतकाल में कर्तृ अर्थ में होते हैं ।

सोमयाजी—सोमेन दृष्टवान् (जिसने सोमयाग किया, वह) —सोम उपपद होने पर यज् (देवपूजा करना आदि) धातु से भूतकालिक कर्तृ अर्थ में णिनि प्रत्यय होता है । उपपद समाप्त तथा सुप् (टा) भोग होकर सोम यज् + इत् → यज् के य को वृद्धि; (घा) सोमयाजिन्; प्र० एकवचन में इ (उपधा) को दीर्घ तथा न् का भोग होकर सोमयाजी । इसी प्रकार ‘अग्निष्टोमेनेन दृष्टवान् इति’ अग्निष्टोमयाजी ।

२५०. दशोरिति—कर्म उपपद होने पर भूतार्थ में दृष् धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है ।

पारदृश्व—पार दृष्टवान् ( जिसने पार को देख लिया) —‘पारम्’ उपपद होने पर दृष् (देखना) धातु से भूतकालिक कर्तृ अर्थ में ‘क्वनिप्’ प्रत्यय, उपपद समाप्त तथा सुप् भोग होकर पार + दृष् + वत् → पारदृश्वन् । प्र० एकवचन में पारदृश्व ।

टिप्पणी—‘पारदृश्वन्’ शब्द से स्त्रीलिङ्ग में द्वीप् प्रापय तथा न् को ‘र’ होकर ‘पारदृश्वरी’ रूप होता है ।

२५१. राजनि इति—राजन् कर्म उपपद होने पर युष् धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है ।

युष्वा । राजकृत्वा ।

२५२ । सहे च ३२।६६।

कर्मणीति निवृत्तम् । सह योधितवान् सहयुष्वा । सहकृत्वा ।

युयोति—युष् धातु सकर्मक है । इससे पूर्व कर्म उपपद कैसे हो सकता है ? इस शका का समाधान करते कहते हैं—यहाँ युष् धातु मन्तर्भावित-  
ष्यमं ली गई है अर्थात् “युष्” धातु योधि (युष्+यिष्) प्रेरणार्थक को  
प्रकट करती है ।

राजयुष्वा—राजानं योधितवान् (जिसने राजा को लड़ाया)—राजन् (कर्म)  
उपपद होने पर युष् (युद्ध करना) धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है ।  
उपपद समाप्त तथा सुप् लोप होकर राजन् के नकार का लोप हो जाता है ।  
राज युष् + वन् → राज युष्वा → प्र० एक० में राजयुष्वा ।

राजकृत्वा—राजानं कृतवान् (जिसने राजा बनाया)—राजन् (कर्म)  
उपपद होने पर कृ धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है । उपपद समाप्त सुप् लोप  
सधा न् लोप होकर राजकृ + वन् इस दशा में क्वनिप् के पितृ होने से ‘कृ’ को  
लुक् का भाग्य हो जाता है । राजकृ + लृ + वन् → राजकृत्वा, प्र० एक०  
राजकृत्वा ।

२५२. सहे चेति—‘सह’ उपपद होने पर युष् धीर कृ धातु से क्वनिप्  
प्रत्यय होता है ।

कर्मणीति—इस सूत्र में कर्मणि निवृत्त हो गया, यहाँ उसकी  
प्रवृत्ति नहीं आती, क्योंकि ‘सह’ धर्म्य है । इसका विशेषण कर्म नहीं हो  
सकता ।

सहयुष्वा—सह योधितवान् (साथ लड़ाया जिसने)—सह उपपद होने  
पर युष् धातु से क्वनिप् प्रत्यय होकर प्र० एक० में सहयुष्वा । इसी प्रकार  
‘सह कृतवान् इति’ सहकृत्वा ।

१. न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ५।२।७।

२. ह्रस्वस्य पिति कुटि लुक् ६।१।७।१।

२५३ । सप्तम्यां जनेर्द्धः ३।२।६७।

२५४ । तत्पुरुषे कृति बहुलम् ६।३।१४।

केरलुक स्यात् । सरसिजम् । सरोजम् ।

२५५ । उपसर्गे च संज्ञायाम् ३।२।६९।

“प्रजा स्यात्सन्ततौ जने” ।

२५३. सप्तम्याम् इति—सप्तम्यम् उपपद होने पर जन् धातु से भूतार्थ में ड प्रत्यय होता है [ड में घ षेप रहता है । यह कित् है]

२५४. तत्पुरुष इति—तत्पुरुष समास में कृशत् उत्तरपद होने पर टि (सप्तमी एक०) का बहुव करके लोप नहीं होता ।

सरसिजम् सरोजम्—सरसि वातम् (सरोवर में उत्पन्न हुआ)—सप्तम्यम् ‘सरस्’ शब्द उपपद होने पर जन् (उत्पन्न होना) धातु से ड प्रत्यय होता है । सरस् + डि + जन् + घ (ड) → प्रत्यय के कित् होने से प्रत् (टि) का लोप होकर सरस् + डि + ज् + घ → सरस् + डि + ज् यहाँ उपपद समास होने पर डि (सुप्) का लोप प्राप्त हुआ ऊपर के सूत्र के अनुसार सप्तमी का विकल्प से लुक हुआ । जब लुक नहीं हुआ तो सरसिज रूप बना । लुक हो जाने पर सन्धि नियम से सरस् के स् की व, व की व तथा घ + व = प्रो होकर ‘सरोज’ मपु० प्र० एक० में सरसिजम्, सरोजम् ।

२५५. उपसर्ग इति—उपसर्ग उपपद होने पर जन् धातु से ड प्रत्यय होता है, संज्ञा में ।

२५६ । वतवतवतु निष्ठा १११२६।

पनौ निष्ठासंज्ञी स्तः ।

२५७ । निष्ठा ३१२१०२।

भूतापहृषोर्धातोर्निष्ठा स्यात् तत्र 'तयोरेव'-इति भावकर्मणोः  
स्तः । 'कर्तरि कृद्' इति कर्तरि स्यत्तु । उकावितौ । स्नातं मया ।

टिप्पणी—यहाँ से उपपद रहित पातु से होने वाले कृदन्त प्रत्यय बने  
जा रहे हैं ।

२५६. वनेनि—त घोर स्यत्तु प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा होती है ।

२५७. निष्ठा—भूत-धर्म से वर्तमान पातु ने निष्ठा-संज्ञक प्रत्यय  
होते हैं ।

तत्रोक्ति—इन दोनों में से तयोरेव कृत्यतत्त्वमयीः २१२' इनके अनुसार  
त प्रत्यय भाव घोर वर्तने में होता है । स्यत्तु प्रत्यय 'कर्तरि कृत् २११' से  
वर्ता में होता है ।

उकाविति—उ घोर क् इत्यस्यक है । वनवत् से 'उ' की इत् संज्ञा होती  
है घोर वन, वनवत् दोनों में क् की इत् संज्ञा होती है । इत् संज्ञक का लोप  
हो जाता है । ये दोनों प्रत्यय बिह्व हैं ।

स्नातं मया—(होने स्नात विद्या)—भूतार्थ में विद्यमान स्ना (व्या  
पीये) पातु ॥ भाव से वत प्रत्यय होकर स्ना+त→तुं० प्र० एत० में  
स्नातम् ।

विशेष—(१) साधारणतया अवयवक पातुओं से भाव से 'वत' होता है,  
'स्ना' अवयवक है । अतः भाव से वन होता है । भाव में (साधारण) वतुसक  
भिन्न तदा एव वचन होता है । भाववाच्य का वर्ता कृतोदा विधिति में होता  
है, एतौ से 'मया' वह दिया गया है ।

(२) परावयवक, अवयवक तदा तिम्र, पीद (पीना), रवा (रहना),  
पात् (पेना), वत् (रहा), वत् (उत्पन्न होना), रत् (रहना), क् (अवर्ति  
होना)—इन पातुओं से वर्ता कर्त्त (कर्त्तृवाच्य) में ही वत प्रत्यय होता है,  
अथे वतं देवदेव, वतः देवदेवः आदि इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं



स्तुतस्त्वया विष्णुः । विश्वं कृतवान् विष्णुः ।

२५८ । रदाम्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ८।२।४२।

भागें मिलेंगे ।'

स्तुतस्त्वया विष्णुः (तुमने विष्णु की स्तुति की) — भूतार्थ में स्तु (स्तुति करना) घातु से कर्म में क्त प्रत्यय होकर स्तु + त → प्रत्यय के क्ति होने से 'उ' को गुण नहीं होता' स्तुन पु० प्रथमा एक० में स्तुतः ।

विशेष—सकर्मक घातु से कर्म में क्त प्रत्यय होता है, स्तु घातु सकर्मक है । घतः इससे कर्म में 'क्त' द्वया है । कर्म के अनुसार ही उसके निङ्ग वचन और विभक्ति होते हैं, यह दिखाने के लिये स्तुतः विष्णुः' (पु०, प्रथमा एक०) दिया गया है, कर्म क्त प्रत्यय द्वारा 'उक्त' है, घतः विष्णु (कर्म) में प्रथमा है । कर्म में प्रत्यय होने से कर्ता अनुक्त है । घतः कर्ता तृतीया विभक्ति में है । इसी से 'रदाम्या' में तृतीया विभक्ति है ।

विश्वं कृतवान् विष्णुः (सत्तार को विष्णु ने बनाया) — 'कृ' वातु से कर्ता में क्तवत् प्रत्यय होता है, कृ + क्तवत् → क्ति होने से गुण का प्रभाव कृतवत् । पु० प्रथमा एकवचन में कृतवान् ।

विशेष—गतिपदिक से मुख्य पद कैसे बनते हैं, यह कीमुदी के मुख्य प्रकरण में दिया गया है । यहाँ मस्येगतः पुस्तिङ्ग में कृतवत् + सु → क्तवत् के वगित होने से नुम् का प्रागम कृतवत् + सु → सुलोप, ए लोप तथा नाप् की उपधा (भ) को धर्म होकर कृतवान् बनता है ।

स्त्रीलिङ्ग में छोप् (ई) होकर कृतवत् + ई कृतवती प्र० एक० में कृतवती होकर कृतवती (नदी के स्थान) । नपु सकृदिङ्ग में सुभोव होकर कृतवत् ।

२५८. रदाम्यामिति—र और द से परे निष्ठा के द को नू हो जाता है और निष्ठा से पूर्व घातु के द को भी नू हो जाता है ।

१. गणपतीन्द्रकादितपनोदस्यासवतवनरुहजोयंतिम्यश्च ३।४।७२।

२. विजिनि च १।१।२५।

३. उगिदवा सर्वनामस्थानेऽथातोः ७।१।७५।

४. सर्वनामस्थाने चासनुदो ६।४।८५।

रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य नः स्यात् । निष्ठापेक्षया पूर्वस्य घातोर्ध्वस्य च । श्रु हिंसायाम् । श्रुत इत् । रपट् । रास्वम् । शीणः । भिन्नः । छिन्नः ।

२५६ । संयोगादेरातो घातोर्ध्वतः ८२१४३ ।

निष्ठातस्य नः स्यात् । द्राणः । ग्लानः ।

२६० । त्वादिभ्यः ८२१४४ ।

एकविंशतेर्लुब्धादिभ्यः प्राग्बन् । लूरः । उया घातुः । प्रहिंस्येति

शीण -- (मष्ट दृषा) - श्रु (हिंसा करना) घातु से कर्म में लृ प्रत्यय होता है । श्रु को रेफ सहित इकार होकर श्रृत् तया ॥ को शीष् । ई होकर शीर्त् + त इस अवस्था में र से परे निष्ठा के त् को न् हो जाता है, न् को ए होकर शीर्त् + ए → शीर्ण, पु० प्र० एक० में शीर्णः ।

भिन्नः (फाड़ा हुआ) — भिद् (फाड़ना) घातु में कर्म में लृ प्रत्यय होता है । भिद् + त यही द् से परे निष्ठा के त् को न तया पहले द् को भी न् होकर भिन्त् + न् → भिन्न → भिन्नः । इसी प्रकार छिद् (काटना) छिन्नः (काटा हुआ) ।

२५६. संयोगादेरिति — जिस घातु के घादि में व्यञ्जनो का संयोग हो, अन्त में घाकार हो तथा उसमें य् द् त्, व् (यण्) में से कोई अक्षर हो, उस घातु से परे निष्ठा के त् को न् होता है ।

द्राणः — द्रा (पुलित गति) घातु से लृ प्रत्यय होता है । द्रा + त यहाँ द्रा घातु के घादि में (द् और द् का) संयोग और अन्त में घाकार है तथा इसमें द् (यण्) भी है अतः निष्ठा के त् को न् होकर द्रा + न् → न् को ए → द्रा + ए → द्राणः ।

ग्लानः — (डुब्बी) — ग्लै (हर्षण्य) घातु से लृ प्रत्यय होता है । घातु के ऐ को घा होकर ग्ल् + त इस दशा में ऊपर ॥ गुण से त् को न् होकर ग्लानः ।

२६०. त्वादिभ्य इति — इक्षीत्

त्वादि घातुओं से परे

१. श्रुत इत्

८२१७७।

२.

संप्रसारणम् ।

२६१ । हलः दशर।

अज्ञादयबाद्धलः परं यत्सम्प्रसारणं तदन्तस्य दीर्घः स्यात् । जीनः ।

२६२ । ओदितश्च पार।४५।

भुजो-भुग्नः । दुग्धोदित, रङ्गधनः ।

निष्ठा के लुप्त होना है ।

ये धातुएँ धातु पाठ में इषादि गण में स्थित हैं ।

पुनः—(बाटा हुआ)→सून् (बाटना) बापु मे ल प्रथम गीकर  
पु+व→व को न→सुनः ।

२६१. हल इति-पञ्च के अवयव व्यञ्जन ( हल् ) से परे ओ तात्रगादरा हो तदन्त की दीर्घ हो आता है ।

धीनः—(ओं प्रायु वाता) ग्या ( जीवं होवा ) वातु से ल प्रायु  
होकर ग्या + त इन दगा में ल के बित् होने के कारण य को इ  
(गद्यवासा<sup>१</sup>) हो जाना है । अ + इ + या = इन दगा में आकार का  
पुनरु ( इ + या = इ ) जि + त = स्वादि से होने से निष्ठा लू वा नू तथा  
'हल' से इ को दीर्घ ( ई ) ओ + न = ओमः ।

६२. योऽपि न्येति—अत्र नानुमो में 'यो' की हनु संज्ञा होती है, उनसे परे विस्था के त को न होना है।

पुनः — (देखा) — मुझे (कोटिहरे) बापु में 'को' की शरणा और मोह होकर भुव् + न् रहना है । भुव् + न् = भुव् + न् = ऊपर के भुव में न् की न् — भुव् + न् = न् को न् होकर भुव् + न् = पुनः ।

अन्तर्यामिनिः -- (कदा कृपा, कृपा कृपा) -- उन् पूर्वक दुर्गोक्ति (नति नया  
मिति) चान् से न् अन्तर होता है । उन् + वि + तन् -- मोदिन् होते से विद्वान्  
को न् उन् + वि + तन् -- अ इय कदा से अ को अन्तर्यामिनि उ (उन् + अ + त + इ)

२६३ । शुष्कः कः ८।२।११।

निष्ठातस्य कः स्यान् । शुष्कः ।

२६४ । पयो यः ८।२।१२।

पयः । सै ह्यंक्षये ।

२६५ । दायो मः ८।२।१३।

दामः ।

२६६ । निष्ठायां सेटि ६।४।२२

योर्लोपः । भावितः । भावितवान् । दृष्टं दितायाव ।

+न→इ को पूर्वस्वर<sup>१</sup> (उ+इ=उ) उन्+त+उ+न→उ को दीपेर  
उन्+त+न→मगिष बार्ध होकर उत्प्लुतः ।

२६३, शुष्क इति—शुष् वातु से परे निष्ठा के त् को क होगा है ।

शुष्कः (पूजा) —शुष्+त→त को क होकर शुष्+न→शुष्कः ।

२६४, पय इति—पय् वातु से परे निष्ठा के त् को क् हो जाता है ।

पयः (पवा हुआ) —पय् (पवाता वातु से एक प्रत्यय होकर पय्+त→  
त को व→पय्+न→क् को क् पयः ।

२६५ दाय इति—दां (ह्यंक्षये) वातु से परे निष्ठा के त् को न्  
होगा है ।

दामः (दीरा, दृष्ट) —दां वातु से एक प्रत्यय होकर वातु के ऐ को 'दा'  
हो जाता है, दा+त इस दया में त् को न् होकर दा+न→दामः । (दां  
बर्ता से एक प्रत्यय हुआ है) ।

२६६, निष्ठायां सेटि—इद् नहिउ (देह) निष्ठावंशव प्रत्यय परे होने पर  
ति (लित्) का लोप होगा है ।

भावितः भावितवान्—यही लिख्य (वेरलायं) नु वातु (भावित से  
क तया लानु प्रत्यय होने है । भावि+त, भावि+नन्नु→न घोर लानु  
के बलादि होने से इट् का प्रत्यय होगा है । भावि+इ+त लया+भावि ।

१. सम्प्रसारणान्न ३।१।१८।

२. दृष्टः ६।४।२१।

३. योः कृः ८।२।१०।

४. दार्धवातुवर्धे बलादेः ८।२।१३।

२६७ । दृढः स्थूलबलयोः ७।२।२०।

स्थूले बलवति च निपात्यते ।

२६८ । दधातेहिः ७ २।४२।

तादौ किति । हितम् ।

२६९ । दो ददोः ७।४।४६।

धुसशक्य दा इत्यस्य दद् स्यात् तादौ किति । चत्वंम् । दत्तः ।

इ+तवत् इस दशा में, लि का सोप होकर भाव्+इ+त→भावितः, भावितवान् ।

२६७. दृढ इति—स्थूल और बलवान् शब्दों में 'दृढ' शब्द का निपातन किया जाता है ।

दृढ—(स्थूल, बलवान्)—दृह् (हितार्थक) धातु से क्त प्रत्यय होकर निपातन से दृद् का अभाव, निष्ठा त को ड तथा ह् का सोप होकर दृढ शब्द बनता है । (प्र० सिद्धान्त कीमुदी)

टिप्पणी—निद्धान्त कीमुदी के अनुसार दृह्, दृहि, दृडौ, से यह शब्द बनता है । यही उचित भी है 'दृह्' 'हितायाम्' में नहीं ।

२६८, दधातेरिति—धा धातु को हि आदेश हो जाता है तकारादि कित् प्रत्यय परे होने पर ।

हितम्—धा ( धारण तथा पोषण करना ) धातु से क्त प्रत्यय होकर धा+क्त→धा+त इस दशा में क्त के कित होने से धा को हि आदेश हो जाता है । हि+त→नपुं० प्रथमा एक० में हितम् ।

२६९- दो ददिति—धुसंज्ञक दा धातु को दद् आदेश हो जाता है तकारादि कित् प्रत्यय परे होने पर ।

दत्तः ( दिया हुआ )—दा ( देना ) धातु से क्त प्रत्यय होकर दा को दद् हो जाता है । दद्+त→द को व् (चत्वं) होकर दत्+त→दत्तः ।

टिप्पणी—यहाँ दा को दद् या दप् आदेश होता है, ये दो मत हैं ।

२७० । लिटः कानच्वा ३।२।१०६।

२७१ । क्वसुश्च ३।२।१०७।

लिटः कानच् क्वसुश्च वा स्तः । तद्वानावात्मनेपदम् । चक्राणः ।

२७२ । म्योश्च ४।२।६१।

मास्तस्य घातोर्नस्वं स्वात् म्योः परतः । जगन्वान् ।

२७०. लिट इति—लिट् (लकार) को कानच् आदेश होता है विकल्प से । कानच् में घान शेष रहता है ।

२७१. क्वसुरिति—लिट् को क्वसु आदेश भी होता है विकल्प से । क्वसु में वस् शेष रहता है ।

तद्व इति—तद्व (त से लेकर पहिड़ तक घातु से लगने वाले ६ प्रत्यय) तथा घान् (कानच् घानच् आदि) की आत्मनेपद संज्ञा होती है । ये आत्मनेपदी घातुओं से होते हैं यह भाव है ।

चक्राणः—(भूतकाल में करता हुआ)—कृ (करना) घातु से परे लिट् के स्थान में कानच् होता है । कृ+घान→कानच् (लिट्) परे होने पर घातु को द्वित्व कृ+कृ+घान→अभ्यासकार्य होकर क्व+कृ+घान→क्व को र् (रण), न को ण होकर चक्राणः ।

२७३. म्योश्चेति—मकारान्त घातु (के अन्त्यवर्ण) को नकार आदेश हो जाता है मकार और वकार परे रहने पर ।

जगन्वान्—जम् (जाना) घातु से परे लिट् के स्थान में क्वम् ही जाता है । जम्+क्वम्→घातु को द्वित्व आदि कार्य होकर ज्वम्+वस् इस दशा में ऊपर के म् को न् होकर 'जगन्वस्' पुं० प्रथमा एकवचन में जगन्वान् ।

टिप्पणी—जगन्वस् वाक्य के रूप 'विद्वांसु' के समान चलते हैं ।

१. पहले कृ की अभ्याससंज्ञा : उसके 'क्व' को घर् (उरत्, उरण् उपरः), र मोव (र

२७३ । लट्, शतृशानचावप्रथमासमाधिकरणे ३।२।१२५  
अप्रयमान्तेन समानाधिकरणे लट् एतौ स्तः । यवादि । पचन्तं  
चैत्र पश्य ।

२७४ । घाने मुक् ७।२।२२।

अवन्ताङ्गस्य मुगागमः स्यादाने परे । पचमान चैत्र पश्य ।

२७३. लट् इति—प्रयमान्त से भिन्न पद के साथ समानाधिकरण में लट् के स्थान में शतृ धीर घानच् होते हैं ।

शतृ में 'घत्' तथा घानच् में 'घान' धेय रहता है । ये दोनों प्रत्यय वर्तमान काल में होते हैं । शतृ परस्मैपदी धातुओं से होता है तथा घानच् आत्मनेपदी धातुओं से ।

यवादीति—शतृ धीर घानच् प्रत्यय परे होने पर शप् यादि प्रत्यय (विकरणा) होते हैं । इन दोनों में घ की इरपञ्चा होने से ये चित् हैं । चित् होने से इनकी सार्धधातुक संज्ञा है घतः भू + शप् + ति = भवति यादि के समान इनके परे रहने पर भी शप् यादि होते हैं । शप् में घ धेय रहता है ।

पचन्तं-चैत्र पश्य—(पकाते हुए चैत्र को देखो)—पच् धातु से परे लट् के स्थान में शतृ होना है । पच + घत् → धातु से घाने धर होकर पच् + घ + घन् → शप् के घ को 'अगो गुणे' से पररूप (घ + घ = घ) होकर पचत् । यह द्वितीयान्त 'चैत्र' का समानाधिकरण है इसलिये पुंलिङ्ग द्वितीया एङ्-सबन्ध में पचन्तम् ।

द्विगुणी—शतृ प्रत्ययान्त शब्द तीनों लिङ्गों में होते हैं :—नपुं० मिज्ज में 'पचत्' यादि, पुंलिङ्ग में पचन्, पचन्ती, पचन्तः इत्यादि तथा स्त्रीलिङ्ग में डीप्' धीर कृम्' (न्) का आगम होकर पचन्ती इत्यादि नदी के समान रूप होते हैं ।

२७४. घान इति—अकारान्त भञ्ज को मुक् (म) का आगम होता है, घान परे होने पर ।

उगितदच ५।१।६। शतृ प्रत्यय में ऋकार की इन् संज्ञा होती है घतः

१. शतृ प्रत्ययान्त शब्द उगित् है । २. शप्प्रत्ययान्तरित्यम् ७।१।२१

लटित्यनुवर्तमाने पुनर्लङ्प्रदृष्टात्तथमासामानाधिकरण्यात्पि वयं नि  
सन् द्विजः ।

२७५ । विदेः शतृर्वमु ७२१२६ ।

वेत्तेः परस्य शतुवसुरादेशो वा । म्यान् । विदन । विद्वान् ।

पथमान चञ्च' पथ (पठाने हुए चञ्च का २वा) — पथ धातु से पथ  
के स्थान पर 'पथच्' होता है । पथ् + धान् = पथ् (पु) धातु पथ् + ध  
धान् → पथ् + धान् इस अवस्था में धातु पथ् 'पथ' का 'पथ' १२ गाने  
मुद् (म्) का प्रागम हो जाता है — पथ् + म् + धान्, पु० द्वितीया एक०  
पथमानम् ।

टिप्पणी — धानच् प्रत्ययान्ता लट् भी तीनों निष्ठाओं में १२ गाने — १०  
तथा नपु० में अकारान्त लट्ओं के स्थान तथा स्त्रीनिष्ठा में १२ गाने १५ गाने  
पथमान + धा → पथमाना आदि रदा के समान बन जाते हैं ।

लटिति — इस सूत्र में वर्तमाने लट् २२ १२ । से लट् की १२ वृत्ति  
हो ही जाती, फिर भी यही लट् ग्रहण किया है, इसमें प्रथम लट् के 'पथ' १५  
करण होने पर भी वही लट् की लट्, धानच् हो जाना है ।

साध द्विजः (विद्यमान आह्वान) — 'अस्ति द्विज' इस अर्थ में प्रथम लट् का  
प्रयोगाधिकरण धातु धातु से लट् के स्थान में धातु हो जाना है धान् + धन्  
इस रदा में धातु के ध का लोप होकर म् + धन् = मत् प्रातिपदिक बनता  
है । इससे पु० प्रथमा एक वचन में सन् । नपु० मत् । स्त्री० मती ।

टिप्पणी — सूत्र के अनुसार धातु और धानच् प्रत्ययों का अवयवमान प्रयोग  
ही प्राण्य है । इस आपक से प्रथमान्त प्रयोग भी गोन । है यह धान् १५ गाने  
है । बाह्य में प्रथमान्त प्रयोग प्रचुरता से मिलते हैं उनमें से ही मत् द्विजः  
यह एक है ।

२७६. विशेरिति — विद् (जाने घटा०) से परे धातु की 'वद्' लट् हो  
जाता है विशेर से । वद् में वत् येन रहता है ।

१. एतसोत्पत्तिः १।५।११११



चौ सत्सङ्गीतः ।

लटः सट्टा ३।३।२५।

व्यवस्थितविभाषेयम् । तेनाप्रथमासामानाधिकरन्ध्रे प्रत्ययोत्तर-  
पदयो सम्बोधने लक्षणेहेत्वोदय मित्यम् । करिष्यन्त करिष्यमा(ण)  
पदम् ।

○ विदन्, विद्वान्—विद् (जानना) धातु से परे लट के स्थान में जानू होना  
है । जानू के स्थान में विकल्प में समु होकर विद् + वत् → विद्वम् → पुं० प्र०  
एक० में विद्वान् । स्त्री० विदुनी । पल में विद् + लप् (जानू) विदन्—  
विदन् ।

२७३. लीं लटिनि—वे जानू और जानप् सम्मिश्रक होते हैं ।

२७७. लृट इति—लृट के स्थान में लप् लक्षक (जानू जानप्) प्रत्यय होते  
हैं विवक्ष्य से ।

व्यवस्थितेति—यह व्यवस्थित विभाषा है अर्थात् लप् लक्षक प्रत्ययों का  
विकल्प व्यवस्थित रूप में होना है, जहाँ ये मिले हो आते हैं जहाँ नहीं होते  
इतिनिष्ठे अत्रप्रथमा-सामानाधिकरन्ध्रे में, प्रत्यय तथा उत्तर पद परे होने का  
सम्बोधन में तथा लक्षण और हेतु अर्थ में निम्न (लृट की) लप् लक्षक  
है ।

इसमें से यही (लप् कीमुनी में) अत्रप्रथमा सामानाधिकरन्ध्रे में जानू आती  
। उदाहरण पढ़ने दिया गया है अर्थों (अर्थय आदि) में नहीं । इसी से  
इदमा सामानाधिकरन्ध्रे का उदाहरण नीचे देने हैं ।

करिष्यन्तं करिष्यमा(ण) कश्च (अविद्य में कार्य करने वाले को देना) —  
जानु से परे लृट के स्थान में जानू और जानप् होते हैं । लृट के स्थान में  
ने के कारण इनके परे होने पर 'यय' आ जाता है । कृ + लप् + लप् तथा  
+ लप् + जान — कृ होकर तथा कृ को गुण चर होकर कर् + इ + लप् +  
। तथा कर् + इ + लप् + जान — ल को वृ तथा नू को म् करिष्यन् करिष्य-  
मा(ण) पुं० द्वितीया एवचन में करिष्यन् करिष्यमा(ण) ।

२७८ । आग्नेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु ३।२।१३४।

विषयमभिव्याप्य चक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः ।

२७९ । तृन् ३।२।१३५। कर्ता कटान् ।

२८० । जल्पमिक्षकुट्टलुष्टवृद्धः पाकन् ३।२।१३५।

२८१ । पः प्रत्ययस्य १।३।९। प्रत्ययस्यादि. पः इत्सहाः स्यात् ।

जल्पाकः । भिक्षाकः । कुट्टाकः । लुष्टाकः । बराकः, बराकी ।

२७८ आग्नेरिति—आग्ने कहे जाने वाले शिव् पर्यन्त प्रत्यय तच्छील, तद्धर्म तथा तत्साधुकारो कर्ता के अर्थ में होते हैं, यह जानना चाहिये ।

“आज” “आमर्षनिष्पत्तिविपुलावस्तुः शिव् ३।२।१७७ अन्येभ्योऽपि—दृश्यते ३।२।१७८ में विहित शिव् प्रत्यय पर्यन्त यहाँ से आग्ने कहे गये प्रत्यय इन तीन अर्थों में होते हैं :—१- उस क्षील (भावर) वाला, २- उसे धर्म अर्थात् कर्तव्य मान कर करने वाला, ३, उसे भली प्रकार करने वाला ।

२७९, तृन् इति—आतृ से तृन् प्रत्यय होना है तच्छील आदि कर्ता के अर्थ में ।

कर्ता कटान् (चटाई बनाने की भावत वाला, धर्म मानकर चटाई बनाने वाला या तच्छील प्रकार चटाई बनाने वाला)—कु (करना) आतृ से कर्तृशील-भाव (करना जिनका स्वभाव है) इस अर्थ में तृन् प्रत्यय होकर कृ+तृ→कृ को गुण कर्+तृ=कर्तृ—तृ० एक में कर्ता ।

यहाँ ‘कटान्’ में कर्म में द्वितीया होती है । ‘कर्तृकर्मणोः कृति’ से जो चट्टी प्राप्त होती है उसका ‘न लोके’ विधेय हो जाता है ।

२८०. अत्येति—अल्प, भिक्ष कुट्ट, लुष्ट और वृद्ध आतृओं में तच्छील आदि कर्ता के अर्थ में पाकन् प्रत्यय होना है ।

२८१. प इति—प्रत्यय के आदि प की इत् संज्ञा होती है । इत्संज्ञक प का लोप हो जाता है तथा पाकन् में धाक बचता है ।

अल्पाकः—अल्पान् घोसप्रत्यय (घोसना है स्वभाव बिलका)—अल्प

२८२ । सनाशंसमिक्ष उः ३।२।१६८ चिकीर्षुः । धाशंसुः भिक्षुः ।

२८३ । भ्राजभासघुविद्युतोर्जिपृजुग्रावस्तुवः विवप् । ३।२।१७

धातु से पाकन् प्रत्यय होकर जल् + धाक — जल्पाकः ।

इसी प्रकार भिक्षु + पाकन् → भिक्षाकः ( माँगने के स्वभाव वाला ) ।  
कुट्ट + पाकन् → कुट्टाकः ( कुट्टने के स्वभाव वाला ) ।  
मुण्ट + पाकन् → मुण्टाकः ( लूटने के स्वभाव वाला ) ।  
कु ( बाहना ) + पाकन् → वद + धाक → वराकः ( बाह के स्वभाव वाला, बेचारा ) ।

वराही — पाकन् प्रत्यय के पित होने के कारण इससे बने हुए शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय हो जाता है — वराक + ई ( ङीष् ) → वराकी ।

२८२. सनेति — सन् प्रत्ययान्त धातु से तथा घञ् पूर्वक सत् और भिक्षु धातु से उ प्रत्यय होता है, तच्छीम आदि कर्ता के धर्म में ।

चिकीर्षुः — ( करने की इच्छा वाला ) — क धातु से कर्तुमिच्छति ( करना चाहता है ) इस धर्म में 'सन्' प्रत्यय होकर 'चिकीर्षु' सम्पन्न धातु बनती है ।  
चिकीर्षु धातु से उ प्रत्यय होकर चिकीर्षु + उ → ए से बने वाले घ. वा. 'भोष' चिकीर्षु + उ → चिकीर्षुः ।

धाशंसुः ( धारा करने वाला ) — घाञ् ( उगतम् ) सहित सन् धातु से उ प्रत्यय होकर घाशन् + उ → घाशंसुः ।

भिक्षुः ( भिक्षा करने वाला ) — भिक्षु धातु से उ प्रत्यय होकर भिक्षु + उ → भिक्षुः ।

२८३. भ्रात्रेति — भाष्, धाम्, बुवि, घृन्, ऊन्, घृ, कु तथा घार पूर्वक सन् धातु से लिप् प्रत्यय होता है तच्छीम आदि कर्ता के धर्म में ।

१. विद्वत्पदस्य ३।१।४१ ।

२. कर्त्ता भोषः ६।४।४८

विभ्राट् । भाः ।

०८४ । रात्तोपः १।५।२१। रेफाच्चोत्तोपः स्यात् । वरी  
मन्नादौ विवति । पूः । विवृत् । ऊर्कः । पूः ।

विभ्राट् (विशेष दीप्ति वाचा) — वि पुर्वहृत् भात् ( वयवका ) धातु से  
विद् प्रत्यय होता है । विद् का (नर्वाहृत्) ओर होकर विभ्रात् सम्यक् बनता  
है । प्र० ए० में 'गु' धात्वर बनता ओर हो जाता है । अ को ए० ओर ए  
को व तथा इ को ट ( व र् ) होकर विभ्राट् ।

भा (दीप्ति, वयव) — भात् + विद् → विवृत् का ओर भात् । प्रत्यय  
ए० 'गु' का ओर होकर भात् के व् को विवर्त होकर भाः ।

०८५. रात्तोप इति - रेफ, र) ये परे वृत् ओर व् का ओर होता है,  
विद् ओर मन्नादि (मिथके धादि में वरी के अनुबन्ध, तुनीठ, द्वितीय, प्रथम  
प्रकार तथा वा ए० म् इ० म् हो) विद् विद् प्रत्यय परे होने पर ।

गु (गुरी) पुर्व (दिनाबन्ध) धातु से विद् प्रत्यय होकर विद् का ओर  
हो जाता है । 'रात्तोप' से व् का ओर होकर पुर्व वृत्त्य सम्यक् बनता है ।  
इसके प्रथम ए० वयव में गु प्र० उ०, उ० का लोप, उ को दीर्घ (वोस्वभावाः)  
तथा ए० की विवर्त होकर वृ. । गुदी०

विवृत् (विशारी) — वि प्रथम नटि० ए० (वयवका) धातु से विद्  
प्रत्यय होकर वतका ओर हो जाता है । विवृत् वृत्त्य सम्यक् में प्रथम ए०  
वयव में 'गु' ओर होकर विवृत् ।

ऊर्क (वयवका) — ऊर्क धातु से विद् प्रत्यय होकर विद् का ओर  
हो जाता है । ऊर्क वृत्त्य सम्यक् में व० ए० में व् को वृत् तथा व होकर  
'ऊर्क' ।

पू (पुर्व वका) — पू (वयव, पुर्व वका) धातु से विद्, विद् का  
ओर । पू के व् को उ० → पुर्व वृत्त्य सम्यक् में व० ए० में पू ( वृ. के  
वकाव) ।

१. वयवका० ५।१।१६,

२. ओः पुः ५।१।१०

३. यतोऽप्युत्तोपः ५।१।१०। के ए० को (र वर) व होता है ।

इतिप्रहण्यपापकषांजयतेदीर्घः जू । मानस्तुम् । इति(वा) विवृण्विप्रवृ-  
ण्वानामुष्टप्रवृणीणां शीर्षांताप्रकारस्य च ॥ यत्तीति बाक् ।

२८५ । ऋध्वोः सूडनुनासिके च ६।४।१६। सतुक्कारय छत्य  
वाय च क्रमान् स उठ इत्यादेशौ ततोऽनुनासिके वयौ मत्तादौ ॥

वृत्तीति—अध्वोर्ध्वोर्ध्व इत्यने ६।२।१७८। मूत्र से 'दृशने' का प्रत्यय  
होने से (धोर उभवा धर्चं अण्य कार्य भी देने जाते हैं यह मानने पर) विवृ-  
प्रत्यय परे होने पर जु धातु को दीर्घ हो जाता है ।

द्विपत्नी—यही धारयं का धर्च है धाये के मूत्र से पहले मूत्र में द्विती  
छन्द का लीपना । (विद्योय देगिरे विषय-प्रवेश) ।

जूः (धेय बालः)—जू (गति) धातु से विवृ, विवृ-सोर, उ को दीर्घ  
ऊ । जू कृदन्त छन्द से प्र० एक० में जूः ।

प्रावस्तुत् (पौन या पापाण के गुण गाने बालः)—प्रावन् उपसर्ग पूर्वक  
स्तु (स्तुति करना, गुण बचाना) धातु से विवृ प्रत्यय होकर उसका लोप  
हो जाता है । धातु से धाये तुक् (तु) का आगम होकर 'प्रावस्तुत्' कृदन्त  
छन्द बनता है । प्र० एक० में प्रावस्तुत् ।

विवृविति (वा)—वक्, प्रवृ, आयत पूर्वक स्तु, कट पूर्वक प्रु, जु,  
धोर धि धातु से विवृ प्रत्यय होता है, इन्हे दीर्घ होता है धोर सम्प्रसारण  
नहीं होता ।

बाक्—वक्ति, (इति जो बोलती है, बाणी)—वक् (बोली) धातु से विवृ  
प्रत्यय, उसका लोप धोर 'अ' को दीर्घ होकर 'बाक्' कृदन्त छन्द बनता है ।  
प्र० एक० में बाक्—(यह स्त्रीलिङ्ग है) ।

२८५. ऋध्वोरिति—तुक् सहित छ् (चछ) को तथा व् को क्रमशः ए  
धोर ऊङ् (ऊ) आदेश होते हैं अनुनासिक, विवृ धोर मत्तादि कित् डित् परे  
होने पर ।

१. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१।

विधति । वृच्छतीति प्राट् । आयातं स्तौतीति आयातस्तुः । कटं प्रवते कटप्रः । जूरुक्तः । अयति हरि श्री ।

२८६ । दाम्नीशसयुजस्तुदसिचमिहपतदशनहः करणे ३।२।१८२। दाबादेः एट् न स्यात्करणेऽर्थे ।

प्राट्—वृच्छति, इति (वृच्छने वाला)—प्रच्छ् धातु से विवप् प्रत्यय, उसका लोप, दीर्घ तथा सम्प्रसारण का प्रभाव होने पर प्राप्—ऊपर के मूत्र से ण् को श् भावेश होकर प्राप् वृद्धत् से प्र० एक० में एट् को ए, इ तथा द् होकर प्राट् (विभाट् के समान) ।

आयातस्तुः—आयातं स्तौति, इति (विस्तार से गुण गाने वाला)—आयात पूर्वक स्तु धातु से विवप्, उसका लोप, दीर्घ होकर आयातस्तु बनता है । प्र० एक० में आयातस्तुः ।

कटप्रः—कटं प्रवते (चटाई बनाने वाला) कट पूर्वक प्र धातु से विवप् तथा दीर्घ होकर 'कटप्रः' । प्र० एक० कटप्रः ।

जूरुक्त इति—'जूरु' ऊपर कहा जा चुका है ।

श्रीः—(लक्ष्मी, सम्पत्ति)—'अयति हरिम् (हरि का आश्रय लेने वाली) यह एक अर्थ दिखाना गया है यद्यपि में तो "अयति, इति श्रीः" यही व्युत्पत्ति है । मि (सेवा करना) धातु से विवप् तथा दीर्घ होकर श्री । यह स्त्रीनिष्ठा है । यह 'डी' प्रत्ययान्त नहीं अतः नु का लोप नहीं होता यत्ति नु को विसर्ग होकर 'श्रीः' ।

२८६. दाम्नीति—दाप् (काटना), नी (ले जाना), दाप् (हिता करना); यु (मिलाना), युज् (युक्त करना), स्तु (स्तुति करना), द् (भोग देना), सि (बाँटना), सिप् (सीचना), मिह् (सीचना, मूत्र त्याग करना), पद् (गिरना), दन् (काटना), नह् (बाँटना), इन धातुओं से एट् प्रत्यय होता है करण अर्थ में ।

एट् में से ए और न् चला जाता है । न् के चने जाने पर द् अपने रूप में आ जाता है और प्रत्यय का 'अ' रूप रहता है ।



२८८ । अतितुल्यसूखनसहचर इवः १।२।१८४ अरित्रम्  
सवित्रम् । धुवित्रम् । सवित्रम् । सहित्रम् । चरित्रम् ।

मेढम् (मूनेन्द्रिय) — मिह् वातु से ष्टृन् प्रत्यय गुण मेह् + न इस दशा में ह् को ड', त् को घ् तथा द् और पहले ह् का लोप होकर ये + इ — मेढम् ।

पत्रम् (सवारी, पत्ता, पंख आदि) — पत् + न — होकर पत्रम् ।

दंष्ट्रा (दाढ़) — दंष्ट् + न — द् को घ् होकर दंष्ट् + न — त् को द् (ष्टृत्) दंष्ट्र स्त्री बोधक टाप् प्रत्यय होकर दंष्ट्रा ।

नक्षत्री (हल आदि में बाँधने की रस्सी, नाही) — नह् वातु से ष्टृन् प्रत्यय होकर ह् को घ् (नहो घः) तथा त् को च होकर नष्ट् + भ्र — पहले घ् को द् — नक्षत्र — पितृ होने से छीप् प्रत्यय होकर नक्षत्री ।

२८८. अतीति — ऋ (जाना), खू (काटना), धू (काँपना), सू (ब्रेरणा देना), सन् (लोदना), सह् (सहन करना), चर् (जाना खाना) इन वातुओं से इन प्रत्यय होता है ।

अरित्रम् (नाक बसाने का डंडा) — ऋ वातु से इन प्रत्यय होकर ऋ + इव — ऋ को गुण (धर्) होकर धर् + इव — अरित्र, नपुं० प्रथमा एक० में अरित्रम् ।

शिष्यणी — इन प्रत्ययान्त शब्द प्रायेण नपुंसकलिङ्ग में होते हैं ।

सवित्रम् (चाकू, छुरा) — सू वातु से इन प्रत्यय होकर सू + इव — ऊ को गुण धो तथा धो को भव् सवित्रम् ।

धुवित्रम् (पंखा) — धू वातु से इन प्रत्यय होकर धू + इव इस

१. हो डः ८।२।३१। २. अपस्तपोर्धोऽयः ८।२।४०। ३. ष्टृना ष्टृः ८।४।४१। से ष्टृत् । ४. हो डे लोपः ८।३।१३। ५. अत्राद्यष्टाप् ४।१।४ प्रत्यय के विद् होने पर की धकादि गुण मे होने के कारण टाप् होता है । ६. 'धुवित्रं व्यजनं तद् यद्विहं युगवर्षला' समरकोष ।



२८६ । पुवः संज्ञायाम् ३२/१८२। पवित्रम् ।

इति पूर्वकुदन्तम् ॥३॥

अथोणादयः ॥३॥

कृषापाजिमिस्वदिसाध्यशृभ्य उण् ॥१॥

दशा में घृ घातु के कृटादि में होने के कारण 'इत्र' को डिट् के समान मान लिया जाता है तथा गुण नहीं होता । उ को उव् (उवङ्) होकर घृ + उव् + इत्र = घृवित्रम् ।

सवित्रम् (मेरणा का साधन) — घृ घातु से इत्र प्रत्यय, उ को गुण भी तथा भी की भव् होकर सवित्रम् ।

इसी प्रकार लन् + इत्र → सनित्रम् (कुदाल) — लह् + इत्र → सहित्रम् (सहन करने का साधन), चर् + इत्र → चरित्रम् ।

२८६. पुव इति — पू घातु से संज्ञा में इत्र प्रत्यय होना है ।

पवित्रम् (पवित्र करने का साधन) — पू + इत्र → ऊ को गुण भी तथा भव् भावेण होकर पवित्रम् । यह उस वर्ण की संज्ञा है जो यज्ञादि के ध्वस्त पर प्रनामिका अंगुलि में भगूठी के समान धारण किया जाता है । 'मन्त्री कुशं कुषो वर्मः पवित्रम्' अमरकोष ॥ इति पूर्वकुदन्तम् ॥२॥

अथोणादयः — जिन प्रत्ययों के भादि में उण् प्रत्यय है वे उणादि प्रत्यय कहलाते हैं । ये प्रत्यय कृत् प्रत्यय के अन्तर्गत हैं, किन्तु भ्रष्टाचार्यापी से पृथक् ५ पाद जिनमें ७५६ सूत्र हैं उणादि कोष या 'उणादि प्रकरण' नाम से प्रसिद्ध हैं ।

कृतेति — कृ (करना), वा (पति, गन्ध), पा (पीना, रक्षा करना), मि (जीतना), मि (फेंकना), स्वद् (पसना), साध् (सिद्ध करना), भश् (भ्याज होना) इन घातुओं से उण् प्रत्यय होता है ।

कांश्चः (शिल्पी) — करोति इति इस वर्ण में कृ घातु से उण् प्रत्यय

२. भाङ् कृटादिभ्योऽञ्जिण्डित् १/२/११ १. निङिति च १/१/१२

करोतीति कारुः । बातीति बायुः । पायुर्गुदम् । जायुरौषधम् । मायुः पित्तम् । स्वादुः । साध्नोति परकार्यमिति साधुः । आशु शीघ्रम् ।

२६० । उणादयो बहुलम् ३।१।११ प्ते वर्तमाने सहायां च बहुलं स्युः । केचिद्विहिता अप्यूह्याः ।

होकर कृ + उ → कृ को वृद्धि कार् + उ → कार; प्र एक० में कारः ।

बायु — बाति इति (जो बहती है, निरन्तर चलती है) — इस अर्थ में बा + उण् → युक् (य) का भाग्य होकर बा + य् + उ → बायु । इसी प्रकार पा + य् (युक्) + उण् पायुः (गुदा) ।

जायुः—(औषध) जयति रोगान् इति (रोगों को जीतने वाली) जि + उण् → णिच् होने से 'इ' को वृद्धि 'ऐ' तथा ऐ को भाय् होकर बाय् + उ → जायुः, इसी प्रकार मि + उण् → मायुः (पित्त) ।

स्वादुः (स्वादिविष्ट)-- स्वद् घातु से उण् प्रत्यय, अ को वृद्धि स्वाद् + उ → स्वादुः) ।

साधुः (धेष्ठ, उत्तम) साध्नोति परकार्यमिति (दूसरों के कार्य सिद्ध करने वाला) इस श्रुति में साय् घातु से उण् प्रत्यय होकर साधुः ।

आशु (शीघ्र)—अश्रुते इति (जो व्यापक सा हो जाता है) —अश् + उण् → अ को वृद्धि (आ) भाय् + उ → आशु ।

मायु शब्द शीघ्रता अर्थ में अश्वय है । शीघ्रता युक्त द्रव्य के अर्थ में तीनों सिद्धों में, विशेषण रूप में, इसका प्रयोग होता है ।

२६०. उणादय इति—उण् घादि प्रत्यय वर्तमानकाल में तथा संज्ञा में बहुत करके होते हैं ।

केचिद्विहिता—मुख्य व्यवहिति (किसी सूत्र द्वारा निरन्तर विधान नहीं किया गया) भी कल्पित कर सेने चाहिये । उणादि प्रत्ययों की किस आधार पर

१. मातो युक् चिण् वृत्तोः ७।१।११.

२. धनोन्मिति ७।१।११.

२. धन उपधायाः ७।१।११.

“सक्षासु घातुरुपासि प्रत्यशश्च ततः परे ।

कार्याद्विद्याद्वनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु” इत्युणादयः ॥१॥

अथोत्तरकृदन्तप्रकरणम् ॥४॥

२६१ । तुमुन्पुलो क्रियायां क्रियार्थायाम् ॥१॥१०॥

क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यत्यर्थे घातोरेतौ स्तः साभ्यतवाङ्मय

कल्पना की जाती है यह अग्रिम श्लोक में बताया है :—

संज्ञास्विनि—संज्ञा शब्दों में (पहले) धातु के रूप की कल्पना करके तब उसके परे प्रत्ययों की कल्पना करनी चाहिये । प्रत्ययों में कार्य (गुण, बुद्धि तथा इनका अभाव आदि) के अनुसार अनुबन्ध (कित्, क्तिप् या क्, क्त् आदि) समझने चाहिये । उणादि में यही शास्त्र है । जैसे—

“गङ्गुल” यह प्रयोग देखा जाता है । इसकी शब्द धातु और उत्तच् प्रत्यय मानकर भ्युत्पत्ति की जाती है । उत्तच् में च् अनुबन्ध स्वरान्ति की दृष्टि से जोड़ा गया है ।

टिप्पणी—गुणकार के बहुत बहण से तथा इस भाष्यस्थ श्लोक के आधार (प्रयुक्त) संज्ञा-शब्दों में धातु तथा प्रत्ययों की अपासम्बन्ध कहना करने वाली भ्युत्पत्ति की जाती है । ‘कृतास्विनि’ इत्यादि शाब्दिकान् प्रणीत उणादि न इसी का प्रयोज्य मान है अर्थात् इनकी विस्तृत व्याख्या है । इत्युणादयः ॥१॥

अथोत्तरकृदन्तम् ॥२६१॥ तुमुन् इति—एक क्रिया के निधे की जाने वाली ऐसी क्रिया समीप रहने पर (उत्तर) धातु में भविष्यन् अर्थ में तुमुन् और न् से दोनों प्रत्यय होते हैं ।

‘तुमुन्’ में से ‘तुम्’ योग रहता है और भुत्त में से ‘तु’ । न् को मट्ट ही जा है ।

टिप्पणी—(१) जिस क्रिया के निधे दूसरी क्रिया की जाती है उसने न और भुन् प्रत्यय होते हैं । तुमुन् प्रत्ययान्त संज्ञेयों के Gerundial



२६२ । कालसमयवेलासु तुमुन् ३।३।१६७। कालार्थेपूषण  
तुमुन् स्यात् । कालः समयो वेला वा भोक्तुम् ।

२६३ । भावे ३।३।१८। सिद्धावस्थापन्ने घात्वर्थे वाक्ये घात  
र्थस्य स्यात् । वाकः ।

ए' यथा त् को ट् (पुट्) होकर इप् + टुम् → इष्टुम् ।

यहाँ 'कृष्णम्' में 'न लोकाभ्यस०' से षष्ठी का निषेध होकर कर्म  
द्वितीया विभक्ति होती है ।

कृष्णं वर्णंको घाति (कृष्ण को देखने वाला आता है) — यहाँ भी कृष्ण  
क्रिया 'घाति' उपपद है इसलिये दृश् वातु से श्चुल् प्रत्यय होकर दृश् → दृ →  
को एक आदेश दृश् + एक → दृ को गुण भर → दृ + श् + एक = दर्शक, पुं  
प्र० एक० में दर्शकः ।

श्चुल् प्रत्ययान्त शब्द तीनों लिङ्गों में होते हैं । यह प्रत्यय कर्ता में होता  
है । 'कृष्णम्' में कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है । यहाँ कृदन्त के योग में षष्ठी  
नहीं होती क्योंकि 'अकेनोर्भविष्यदाद्यभ्यस्योः' से षष्ठी का निषेध हो जाता है ।

२६२. कालेति — कालार्थक शब्द उपपद होने पर वातु से तुमुन् प्रत्यय  
होता है ।

कालः समयो वेला वा भोक्तुम् (खाने का समय है) — कालवाची शब्द  
उपपद होने पर भुञ् वातु से तुमुन् प्रत्यय हुआ है । भुञ् + तुम् → उ को पुं  
और तथा ज् को ग् एवं क् होकर 'भोक्तुम्' ।

२६३. भावे — सिद्ध अवस्था को प्राप्त घातु के अर्थ को कहने में वातु से  
घञ् प्रत्यय होता है । घञ् में 'घ' सौच रहता है ।

२८४ । अकस्मिन् च कारके संज्ञायाम् । ३।१।१६। अहंभिनी  
कारके षष् स्यात् ।

२८५ । पत्रि च भावकरणयोः । ३।१।२७। रुज्जेर्नलोपः स्यात् ।  
रागः ।

‘भाव’ का अभिप्राय है—बागु का अर्थ । यह दो प्रकार का होता है—  
१. साध्यावरणायम्, २. निष्ठावरणायम् । आरम्भ की साध्या निष्ठा प्राप्य से  
प्रवृत्ति की जाती है, जैसे—‘पत्रि’ (पत्रागता है) निष्ठा निष्ठा नहीं हुई, साध्य  
है । आरम्भ की निष्ठा हृदय से प्रवृत्ति होती है, जैसे पत्र । यहाँ हृदय के  
द्वारा बागु का अर्थ भाव हृदय के रूप से प्रवृत्ति होता है और इसके साथ निष्ठा  
वचन आदि का सम्बन्ध होता है ।

वाकः (पत्रि का वाक्य)—पत्र बागु से भाव से वचन प्रत्यय होता है ।  
पत्र+वाक्य→पत्र+वा+प्रत्यय के द्वि होने से वा (अरथा) की वृद्धि या  
होकर पत्र+वा→वा की वृद्धि होकर वाक्य+वा+वाक, पु० प्रथमा एक० में  
पत्रा ।

विचली—अत्र कुम्भिक में होते हैं ।

२८४. अकस्मिन्—अर्थात् ते विभिन्न कारण से, मन्त्र के विषय में बागु से  
अन्वय प्राप्त होता है ।

२८५. पत्रिणि—भाव और वचन से जो पत्र, उनके बारे होने पर पत्र  
बागु के लकार का लोप हो जाता है ।

रागः—रञ्जकम् रञ्जनेऽर्थे वा ( रंजना का प्रिये रत्न कागता है  
अर्थात् १०) —रञ्ज (रंजना) बागु से भाव से (रञ्जकम्) का वचन से रञ्जने-  
अर्थे वचन प्रत्यय होकर ऊपर के लूकानुसार दोनों पत्रों से बागु के १ (य)

१. ‘हृदिचित्तो भावो हृदयकृद्वाक्ये’ (साध्य) ।

२. अत्र अकारणः ३।१।१६।

३. पत्रिः कृत् विचलीः ३।१।२७। विच् लोपः कृत् प्रत्यय वरे होने पर  
बागु के वृ, वृ को वृ होते हैं ।

२६६ । डिवत्तः क्त्रः ३।३।८८।

३०० । क्त्रेमेम् नित्यम् ४।४।२०। क्त्रप्रत्ययान्ताद् मप् निवृत्तं ३।३।८८। पाकेन निवृत्तं पक्त्रिमम् । लुचप्-उक्त्रिमम् ।

।नेन का नाम] प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन् जनाः इति प्रत्ययः [पर्वत शिखर]—प्र पूर्व या घातु से अधिकरण के क प्रत्यय होकर प्र+स्था→प्र प्रत्यय के वि। ने से आकार का लोप प्र+स्थ+प्र→प्रस्थः ।

विघ्नः (विघ्न, घन्तराय)—‘विघ्नन्ति मनासि घस्मिन्’ (जिसमें मन म। गते है)।—इस विग्रह में विपूर्वक हन् घातु से क प्रत्यय होता है। वि+न्→प्र (क) इस दशा में हन् के घ (उपधा) का लोप होकर ह् को म् (कुट्) होकर विष्+न्+प्र+विघ्नः ।

२६६, डिवत्त इति—जिस घातु का ड् इत्संज्ञक होता है (डिवत्) उगरे रे वित्र प्रत्यय होता है । (क्त्र में त्र लोप रहता है) ।

३००, क्त्रेरिति—क्त्र प्रत्ययान्त से नित्य मप् प्रत्यय होता है निवृत्त नप्यन्त या सिद्ध होना) अर्थ में ।

टिप्पणी—सूत्र में ‘नित्यम्’ कहने से यह क्त्र प्रत्यय मप् के विषय में निवृत्त अर्थ में) ही होता है ।

पक्त्रिमम्—पाकेन निवृत्तम् (पाक से निवृत्त, पका हुआ)।—लुचप् पाके यह घातुपाठ से वटित घातु का रूप है । यही ‘ड्’ इत्संज्ञक है (तथा प। १) अतः पष् घातु डिवत् है । इससे क्त्र प्रत्यय होकर पष्+त्र→ष् को ५ पक्त्र→ऊपर के सूत्र से मप् प्रत्यय होकर पक्त्र+म→पक्त्रिमम् ।

१. आतो लोप इति च ६।४।८४।

२. ममहन्त्रनस्यसा लोपः विट्त्वनडि ६।४।८८।

३. हो हन्तेऽस्मिन्नेषु ७।३।१४।

४. Ripened, Matured काले से ०-७७७ ।

५. घोः कुः पा२।३० ।

३०१ । द्वितोऽप्युच् ३।३।६। टुवेष्ट कम्पने । वेपथुः ।

३०२ । यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् ३।३।६०। यक्षः ।

याक्या । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः ।

उत्क्रिमम्—वापेन निवृत्तम् (बोने से निष्पन्न) —टुवष्ट् बोजतन्ताने (बीज बीना) घातु से त्रिप्रत्यय तथा भृ प्रत्यय होकर वप + त्रि + म यहाँ प्रत्यय के कित् होने से व् को उ (भस्प्रसारण<sup>१</sup>) हो जाता है । उप = त्रि + म → उत्क्रिमम् ।

द्विपली—इसी प्रकार 'कृत्रिम' शब्द भी बनता है—(बुष्ट् + त्रि + मप) । पक्रिम आदि शब्दों के विशेष्य के अनुसार लिङ्ग बचन होते हैं ।

३०१. द्वित इति—त्रिप्र घातु का 'टु' इत्सङ्गक होता है उससे घघृष्ट् प्रत्यय होता है (भाव मे) । (घघृष्ट् में घघृष्ट् रोप रहता है) ।

वेपथु (कम्पन)—टुवेष्ट कम्पने (कापना) घातु से घघृष्ट् प्रत्यय होकर वेप् + घघृष्ट् → वेपथु → पुं० प्रथमा एकवचन मे वेपथुः । (घघृष्ट् प्रत्ययात् पुं० मे होने हैं) ।

३०२. यजेति—यज्, याच्, यत्, विच्छ, प्रच्छ धोर रक्ष घातु से नङ् प्रत्यय होता है, भाव मे । नङ् मे न रोप रहता है ।

यक्षः (यत्, हवन)—यज् [दिवपूजा आदि] घातु से नङ् प्रत्यय होकर यज् + न → न् को य् [रपृत्व<sup>२</sup>] यज् + म → य् + य = यक्ष, पुं० प्र० एक० यक्षः ।

द्विपली :- नङ् प्रत्ययात् यद्यपि पुंस्त्रिङ्ग में होते हैं वे वत याक्या याक्य स्त्रीलिङ्ग है ।

याक्या (याचना)—याच् (याचना) घातु से नङ् प्रत्यय होकर याच् + न न् को य् याक्य स्त्रीबोधक प्रत्यय टाप्<sup>३</sup> होकर याक्य + या—याक्या ।

१. बदिसरवियमादीनां निति १।१।१३। वृत् घातु यकादि मे है ।

२. नटीः वपुता वपुः वा।४।४०

३. यनाद्यट्पाट् ४।१।४



३०३ । स्वपो नन् २।३।६१। स्वप्नः ।

३०४ । उपसर्गे धोः किः ३।३।६२। प्रधिः । उपधिः ।

यत्नः [प्रयत्न]—यत् [प्रयत्न करना] धातु से नङ् प्रत्यय होकर यत्  
+ न—यत्नः ।

विश्रुतः [गति, काम्ति]—विष् (जाना) धातु से नङ् प्रत्यय होकर  
विष् + न इस दशा में ञ् को झ् होकर विश्रु + न—विश्रुतः ।

प्रश्नः—प्रश् (पूछना) धातु से नङ् प्रत्यय तथा ञ् को झ् ।

रक्षणः—[रक्षा] रक्ष् धातु से नङ् प्रत्यय तथा न् को ण् होकर रक्ष्णः ।

३०३. स्वप्नः इति—स्वप् धातु से नन् प्रत्यय होता है, भाव में । नन् में  
न शेष रहता है ।

स्वप्नः [सोना, स्वप्न]—स्वप् [सोना] धातु से नन् प्रत्यय होकर स्वप्  
+ न → स्वप्नः ।

३०४. उपसर्ग इति—उपसर्ग पूर्वक च संज्ञक धातुओं से कि प्रत्यय होता  
है, भाव में तथा कर्तृ भिन्न कारक में ।

दुदाञ् (देना), दाञ् (देना), दो (तोड़ना), देङ् (रक्षा करना)—इन  
धा-रूप को प्राप्त होने वाली तथा दुधाञ् (धारण करना) धेद् (पीना) धा-  
रूप को प्राप्त होने वाली धातुओं की घृ संज्ञा होती है ।

कि प्रत्यय में न शेष रहता है कि प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं ।

प्रधिः (चक्र की परिधि, पहिये का घेरा)—प्रपूर्वक धा धातु से कि  
प्रत्यय होकर प्रधा + इ—इस दशा में धाकार का लोप प्रध् + इ—प्रधि  
पुं० प्रथमा एकवचन में प्रधिः ।

उपधिः (कपट, दम्भ)—उपपूर्वक धा धातु से कि प्रत्यय होकर  
उपधा + इ → धाकार का लोप उपधिः ।

१. ऋद्वोः घृहनुनासिके च ६।४।४. १६ २. रषाम्यां नोऽणः समानादे। ८।४।१।

दापाप्यदाप् १।१।२०।

४. धातो लोप इति च ६।१।६४।

३०५ । स्त्रियां क्तिन् ३।३।६४। स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिन् स्यात् ।  
 घञोऽपवादः । कृतिः । स्तुतिः कृ (वा) ऋत्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठाव-  
 द्वाच्यः ॥ तेन मत्वम् । कीर्णः । लुनि । धूनिः । पूनिः ।

टिप्पणी—(१) अधिकरण अर्थ में भी कि प्रत्यय होता है, जैसे—  
 जमानि घीयश्चेऽस्मिन्निति जलधिः, नीरधि, उदधि आदि ।

(२) उपाधि, व्याधि, माधि, सम्धि, अग्निसन्धि (अभिप्राय) निधि  
 (कोष) विधि (ग्रहण, विधान) तथा समाधि आदि शब्द भी कि प्रत्ययान्त हैं ।

(३) 'कि' प्रत्ययान्त शब्द संस्कृत में पुल्लिङ्ग होते ।

३०५. स्त्रियाविति—स्त्रीलिङ्ग में भाव में क्तिन् प्रत्यय होता है ।  
 (क्तिन् में ति शेष रहता है) । यह णञ् प्रत्यय का वाचक है अर्थात् स्त्रीलिङ्ग  
 में भाव में क्तिन् होता है यम् ॥३॥

कृतिः (कार्य)—कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर कृ+ति→स्त्रीलिङ्ग  
 प्रथमा एक० में कृतिः । इसी प्रकार स्तु+क्तिन्→स्तुतिः ।

ऋत्वादिभ्य इति (वा)—ऋकारान्त और सू आदि धातुओं से परे क्तिन्  
 प्रत्यय निष्ठा (कृत्, ऋत्वा) के समान होता है, यह कहना चाहिये ।

तेनेति—निष्ठा के समान होने से क्तिन् के त को भी न हो  
 जाता है ।

कीर्णः (विशेष, विवेचना)—कृ (विवेचना) धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर  
 कृ+ति→ऋकार को इट् कीर्+ति→इ को दीर्घ कीर्+ति→निष्ठा के  
 समान होने से ट् से परे त् को न् तथा न् को ण् होकर कीर्ण→कीर्णः ।  
 इसी प्रकार लृ+क्तिन्=लीर्णः ।

लूनिः (काटना)—लू (काटना) धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर ति को

१. अन्त इवावोः ७।१।१००।

२. इति च ८।२।७७।

३. रदाम्पो निष्ठातो नः पूर्वस्य च इः ८।२।४२।

ॐ (वा) सम्पदादिभ्यः क्विप् ॥ सम्पत् । विपत् । आपत् । ॐ (क्विप्) क्विप्पीड्यते ॥ सम्पत्तिः । विपत्तिः । आपत्तिः ।

३०६ । कृतिभूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च निपात्यन्ते । ३।३।६७।

निष्ठावत् हो जाने से ए का न् होता है इसी प्रकार घू + क्तिन् → घूक्तिन् (कम्पन) घू + क्तिन् → घूक्तिः (पवित्रता) ।

सम्पत्ति—(वा) सम् आदि उपसर्ग पूर्वक पद घातु से क्विप् प्रत्यय होता है, भाव में (स्त्रीलिङ्ग में) ।

सम्पत् (सम्पत्ति) 'सम्' पूर्वक पद घातु से क्विप् प्रत्यय, क्विप् का सन् (सर्वानुहार) सम्पद्, स्त्री० प्र० एक० में सम्पत् । इसी प्रकार वि + पद् + क्विप् → विपत् । घा + पद् + क्विप् → घापत् ।

कृतिप्रति—सम् आदि उपसर्ग पूर्वक पद घातु से भाव में (स्त्रीलिङ्ग में) क्विप् भी दृष्ट है ।

सम्पत्तिः—सम् + पद् + क्तिन् → सम्पद् + ति → दकार की उकार' (बल) होकर सम्पत्तिः । इसी प्रकार विपत्तिः, आपत्तिः ।

३०६ कृतीनि—कृति, भूति, जूति, साति, हेति और कीति इन कृति प्रत्ययान्त शब्दों का निपातन किया गया है ।

इनमें जो कार्य किसी नियम (सूत्र) से प्राप्त नहीं, वे सब निपातन से सिद्ध हो जाते हैं ।

ऊति (रक्षा)—अव् (रक्षा करना) घातु से क्तिन् प्रत्यय होकर अव् + ति → दकार तथा वकार के स्थान में (ज्वर० अक्षय सूत्र से) ऊ (ऊट) होकर ऊ + ति → ऊतिः । उदात्त स्वर के लिये सूत्र में निपातन किया गया है ।

३०७ । ज्वरस्वरस्त्रिव्यविमवामुपधायाश्च ६।४।२० एपा-  
मुपधावकारयोर्लुठ स्यादनुनासिके ष्वौ झलादौ विडति । अतः  
विचप् । जू । तू । खू । ऊ । मू ।

जुतिः—यु (मिश्रण करना) धातु से क्तिन् होकर निपातन से दीर्घ  
होता है । इसी प्रकार जु + क्तिन् → जुतिः (वेग) में भी निपातन से दीर्घ  
होता है ।

सातिः (घमना, अवसान)—सो ( घन्तकर्म ) धातु से क्तिन् होकर  
सो + ति इस अवस्था में सो को इ शब्द<sup>१</sup> या निपातन से उसका अभाव हो  
जाता है तथा सो को धा होकर<sup>२</sup> सातिः ।

हेतिः—(हृषियार)—हृन् धातु से क्तिन् होकर निपातन में न् को इ →  
होकर ह + इ + ति → गुण (घ + इ = ए) हेतिः ।

कीतिः (क्याति)—स्वास् एजन्त (भुरादि) कृत् (संशब्दने<sup>३</sup>) धातु  
से युच्<sup>४</sup> प्रत्यय प्राप्त या किन्तु गही निपातन से स्तिन् होता है । कृत् + ति →  
कृ को इर्<sup>५</sup> किर + ति → इ को दीर्घ<sup>६</sup> ई कीतिः ।

३०८. वचरेति—ज्वर, स्वर, सित्, धन्, मन्—इन धातुओं के उपधा  
(अन्य वर्ण से पूर्व वर्ण) तथा व् को ऊट् होता है अनुनासिक, विच तथा  
झलादि कित् कित् प्रत्यय पर रहने पर ।

अतः विचप् इति—इसलिये (इन धातुओं से) विचप् भी होता है अर्थात्  
इस सूत्र से विचप् प्रत्यय पर होने पर ज्वर आदि को ऊट् विधान किया गया  
है अतः इनसे विचप् होता है ।

१. जवन जुतिः (घमरकोष) ।
२. सातिस्त्ववसाने स्यात् (घमरकोष) ।
३. अतिस्मृतिमास्थामिति किति ७।४।४०।
४. आदेच उपदेयेप्रति ६।१।४३।
५. To name, to glorify—काले ।
६. व्यासत्रयो युच् ३।३।१०७।
७. उपधायाश्च ७।१।१०१।
८. उपधायां च ८।२।७८।

३०८ । इच्छा ३।३।१०१। इपेर्निपातोऽयम् ।

३०९ । म प्रत्ययात् ३।३।१०३। प्रत्ययान्तेभ्यो घातुभ्यः नित्रया-

जू (रोग) - ऊवर् (रोगे) घातु से क्विप् प्रत्यय. उसका लोप, वकार तथा झकार (सगमा) को ऊ (ऊठ) होकर जूट् शब्द बनता है । जूट् से प्रथमा में जूः, जूरो, जूरः । इसी प्रकार रवर् → क्विप् → तूर → तूः (शीघ्रकारी) ।

लूः— (शोषक या जाने वाला),—लिव् (गति तथा शोषण)—घातु से क्विप् प्रत्यय, उसका लोप, इकार और वकार को ऊठ् होकर 'लू' ङकारान्त शब्द बनता है । उसमें लूः, लूवी, लुः आदि ।

ऊः (शक) — अव् (रक्षा करना) + क्विप् → घाकार तथा वकार को ऊठ् होकर 'ऊ' शब्द बनता है । जगमे ऊः, उवी, उवः आदि ।

मू (बाँधने वाला) — मव् (बाँधना) + क्विप् → घाकार और वकार को ऊठ् होकर 'मू' उससे मूः, मुवी, मुवः आदि ।

टिप्पणी—ऊवर् आदि गून् के प्रसङ्ग से यहाँ क्विप् प्रत्यय के 'जूः' प्रादि रूप दे दिये गये हैं, इन शब्दों में क्विप् प्रत्यय कर्ता में होता है, भाव में नहीं तथा इस क्विप् का स्त्रीलिङ्ग से भी सम्बन्ध नहीं ।

३०८. इच्छेति — इच् (इच्छा करना) घातु से इच्छा शब्द का निगठन किया गया है ।

इच्छा—इप् घातु के निपातन द्वारा भाव में वा (अ) प्रत्यय होता है तत्पय के शित् होने से सार्वधातुक हो जाने के कारण यक् प्राप्त व निपातन द्वारा उसका समाव हो जाता है । इस प्रकार इप् + घ → ए व होकर इच्छ् + घ → छ् से पूर्व त् (गुक्), त् को च् होकर इच्छ् + स्त्रीत्वबोधक टाप् प्रत्यय होकर इच्छा । अन्ताभ्यामिन्द्रित्वात् ।

३०९. म प्रत्ययादिति—प्रत्ययान्त घातु से स्त्रीलिङ्ग में 'म' प्रत्यय होता है, भाव में तथा कर्ता भिन्न कारक में ।

सार्वधातुके यक् ३।१।६७।

२. इपुयमियमांश्च ७।३।७० ।

६।१।७३।

मकारः प्रत्ययः स्यात् । चिकीर्षा । पुत्रकाम्या ।

३१० । गुरोश्च हलः २।१।१०३। गुरुमतो हलन्तातिप्रयामः  
प्रत्ययः स्यात् । ईहा ।

३११ । ण्यासश्चन्यो युच् ३।३।१०७। अकारस्यापवादः ।  
(या । हारणा ।

प्रत्ययान्त चातुर्ध्वे कहलातो हैं जो चातु या चुबन्त से कोई प्रत्यय लगाने  
नहीं है, जैसे—कृ + सन् → चिकीर्षं (चिकीर्षति, पुत्र + काम्य → पुत्रकाम्य  
(काम्यति) आदि ।

चिकीर्षा — (करने की इच्छा) — कृ चातु से इच्छार्थक सन् (त) प्रत्यय  
कर 'चिकीर्षं' चातु बनती है । चिकीर्षं से भाववाचक 'अ' प्रत्यय होकर  
चिकीर्ष + अ → अ का लोप 'चिकीर्ष' + अ चिकीर्ष → स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय  
कर चिकीर्षं + या → चिकीर्षा ।

पुत्रकाम्या (पुत्र की इच्छा) — 'पुत्रभाष्येन इच्छति, (यपना पुत्र चाहता  
है अर्थ में पुत्र से काम्यच् प्रत्यय होकर 'पुत्रकाम्य' चातु बनती है ।  
से स्त्रीलिङ्ग भाव में अ प्रत्यय होकर पुत्रकाम्या ।

१०३. गुरोरधेति — जिस व्यञ्जनात् (हलन्त) चातु ॥ कोई गुरु धरत  
(गुरु व्यञ्जन तथा दीर्घ स्वर) हो उससे स्त्रीलिङ्ग में (याव में) अ प्रत्यय  
ता है ।

ईहा (पेटा) — ईह (पेटा करना) चातु व्यञ्जनात् ॥ धीर इतका ई  
ह है धतः इससे अ प्रत्यय होता है । ईह + अ → स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय  
कर ईह + या → ईहा ।

३११. ण्यतेति — एतु प्रत्ययान्त, धातु तथा धन् चातु हैं युच् प्रत्यय  
ता है, स्त्रीलिङ्ग भाव में ।

अकारस्येति — युच् प्रत्यय 'अ' प्रत्यय का वाचक है । यहाँ व्यन्त से  
प्रत्ययान्त चातु होने के कारण 'अ प्रत्ययात्-३०६' तथा धान् धीर धन् से

१. अठो लोपः १।४।४८।

३१२ । नपुंसके भावे सः ३।१।१।१४

३१३ । स्फुटं च ३।१।१।१५ हसितम् । हसनम् ।

३१४ । पुंनि मन्त्राणां चः प्रायेण ३।१।१।१६

३१५ । धादेर्धेऽप्युपगमस्य ८-५-३६ । द्विःपुन्युपगमंहीनस्य

द्विःपुन्युपगमं धातु होने के कारण गुरोत्तम हन. ३१०' में च प्रत्यय प्राप्त था ।

कारणः (वाक्या) - क धातु में लिप् (प्रेरणाबंध) प्रत्यय होकर कारि ध्यात धातु बनती है । 'कारि' से (३१०) भाव में पुष् प्रत्यय होकर कारि + पु → पु को घन कारि + घन → लि (६) का मोर काट + घन → न को ल तथा स्त्रीत्वबोधक टाप् प्रत्यय होकर कारणः । इसी प्रकार गत्य ह (हारि) + पुष् → हारणा । धाम् + पुष् → धामना (धामन, स्थिति) । धाम् + पुष् → धामना ।

३१२. नपुंसक इति—नपुंसकनिष्ठा भाव में धातु से क प्रत्यय होता है ।

३१३. स्फुटिति—नपुंसकनिष्ठा भाव में धातु से स्फुट प्रत्यय भी होता है ।

हसितम् हसनम् (हसना) - हम् (हसना) धातु से नपुंसकनिष्ठा भाव में क तथा स्फुट प्रत्यय होते हैं । हस् + त → हट्ट का धावण होकर हस् + ट + त → हसितम् । हस् + पु → पु को घन धादेय होकर हस् + घन → हसनम् ।

३१४. पुंसीति—करण तथा घविकरण अर्थ में पुंस्त्विज्ज्ञ में प्रायः च प्रत्यय होता है, सज्ञा धातु बताने के लिये ।

३१५. धादेर्धेऽपि—दो वा दो से अधिक (दो धावि) उपसर्ग रहित धावि धातु धावि को ह्रस्व हो जाता है, च प्रत्यय पर होने पर ।

१. कारणः तु यातना तीव्रवेदना (ममर कोष) ।

२. पुंसीति ३।१।१।

३. धादेर्धेऽपि ३।१।१।

छादेद्देवः स्यात् ये परे । वृत्तादछाद्यन्तेऽनेनेति वृत्तच्छदः । आकुर्व-  
मयमिग्निस्वाकरः ।

३१६ । धवे तृस्त्रोर्धम् ३।२।१२०। अचत्तार कृपादेः । अच-  
त्तारो जवनिका ।

३१७ । हल्लव ३।२।१२१। हल्लग्न्याद्धव स्यात् । आपवावः ।

वृत्तच्छदः (घोष्ठ) — वृत्तावच्छाद्यन्ते अनेन (दाँत डके जाते हैं जिससे) :—  
यहाँ व्यन्त छादि वातु से करण अर्थ में च प्रत्यय होता है । वृत्त + छादि +  
घ → णि का लोप तथा धा को ह्रस्व (घ) होकर वृत्त + छद् + घ →  
वृत्तच्छदः ।

आकरः (आन, लानि) — आकुर्वन्ति अस्मिन् (चारों ओर से आकर काम  
करते हैं जिसमें) — यहाँ अधिकरण अर्थ में आह् पूर्वक कृ वातु से च प्रत्यय  
होता है । आह् + घ (घ) + ऋ को वृत्त अद् आकरः ।

३१९ अच इति — अच स्वसर्व पूर्वक तु धीर स्तु वातु से संज्ञा मे अच्,  
प्रत्यय होता है करण तथा अधिकरण में ।

अचत्तारः (कृप छादि का लोपान, वाट) — अचत्तरन्ति अच (जिसमें  
उतरते हैं) यहाँ अच पूर्वक तु (तैरना) वातु से अच् प्रत्यय होकर अच + तृ +  
घ → त्रिन् प्रत्यय चरे होने पर ऋ को वृद्धि आह् अच + तार् + घ  
अचत्तारः ।

दिप्पली — भाव प्रत्ययान्तों में ल, ल्युद् प्रत्ययान्त अणु'नक लिङ्ग में, तिन्  
छादि प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग में तथा षेच अच्, अच्, अच् छादि प्रत्यय आंति  
अण्व पु'स्तिङ्ग में होते हैं ।

अवत्तारः (जवनिका वहाँ) — अवत्तृणाति अनेन (जिससे इकर जाता  
है) — यहाँ स्तु (आच्छादन करना) वातु से अच् प्रत्यय होकर अच + तृ +  
घ → ऋ को वृद्धि आह् होकर अवत्तारः रूप होता है ।

हल्लवेति — हल्लव (जिनके अन्त में हल् अर्थात् अच्जन होता है)



रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः । अपमृज्यतेऽनेन व्याभ्यादिरित्यपामार्गः ।

३१८ । ईषद्दुस्सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ३।३।१२३।  
करणाधिकरणयोरिति निवृत्तम् । एषु दुःखसुखायेंपूपदैषु खल् ।  
तयोरेवेति भावे कर्मणि च । कृच्छ्र—दुष्करः कटो भवता ।

धातु से घञ् प्रत्यय होता है ।

धापकाव इति—यह घञ् प्रत्यय घ का वाचक है । 'पु'ति संज्ञापान् ३१४, से घ प्राप्त था ।'

राम.—रमन्ते योगिनोऽस्मिन् (जिसमें योगी रमते हैं)—यहाँ अधिकरण धर्म में रम् धातु से घञ् प्रत्यय होता है । रम् + घ (घञ्) → घ (उपधा) को वृद्धि<sup>१</sup> (भा) होकर राम् + घ → रामः ।

अपामार्गः—अपमृज्यतेऽनेन व्याभ्यादिः (जिससे रोग आदि का शोधन होता है, एक औषधि जिसे हिन्दी में 'निरविटा' कहते हैं)—यहाँ अप पूर्वक मृज् (घुट करना) धातु से घञ् प्रत्यय होता है । अप + मृज् + घञ् → ऋ की वृद्धि<sup>२</sup> भार् तथा ऋ की म्<sup>३</sup> होकर अप + भार् + घ → घञ् प्रत्ययात् परे होने पर उपसर्ग 'अप' के अन्त की दीर्घ होकर अपामार्गः ।

३१८, ईषदिति कठिनता (दुःख) और सरलता (सुख) बोधक ईषद्, दुस् और उपसर्ग उपगम होने पर धातुओं से खल् प्रत्यय होता है । खल् में 'म' ऐव रहता है, ख् और ल् की इत् नञा होती है ।

करणेति—'करण और अधिकरण धर्म में' इसकी निवृत्ति हो गई अर्थात् खल् प्रत्यय इन अर्थों में नहीं होता । फिर किस अर्थ में होता है ? तयोरेव मूल के अनुसार खल् प्रत्यय भाव और कर्म में होता है ।

यहाँ कृच्छ्रार्थ (कठिनता) दुम् का विशेषण है और कृच्छ्रार्थ ईषद् तथा

१. घत उग्रायाः ७।२।११६।

२. मृजेवृद्धिः ७।२।१४१।

३. चर्माः कृ-विण्यतोः ७।३।२२।

४. उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् ६।३।१२२ ।

अकृच्छ्रे—ईषत्करः । सुकरः ।

३१६ । आतो युच् ३।३।१२८। खलोऽपवादः । ईषत्पानः सोमो भवता । दुष्पानः । सुपानः ।

सु का क्योंकि ऐसा ही सम्भव है ।

दुष्करः कठो भवता—(घावको चटाई बनाता कठिन है)—दु मेन कतुं योग्यः, इस प्रथे में दुस् ध्रुवक कृषातु से कर्म में खल् प्रत्यय होता है ।  
 दुस् + कृ + भ (सल्) → ऋ को गुल घट् → दुस् + कट् + घ → सकट-को बाध-  
 विषयो तथा ग्-दुष्करः । **उपपत्त्ययोः से पूर्व से उ होने से**

ईषत्करः (सहज में ही करने योग्य)—ईषद् + कृ + सल् → ईषत् + कट् + घ → ईषत्करः ।  
**निर्दिष्ट**

सुकरः (सुल से करने योग्य)—सु + कृ + सल् → सु + कट् + घ → सुकरः ।

३१६ घात इति—कठिनता और सरलताबोधक ईषद्, दुस् तथा सु उपपद होने पर आकाशान्त धातु से युच् प्रत्यय होता है ।

सल इति—यह युच् प्रायय सल् प्रत्यय का बाधक है । युच मे सु दोष रहता है । सु को 'भन' हो जाता है ।

ईषत्पानः सोमो भवता (घावको सोम पीना मरल है)—यहाँ सरलता-बोधक (अकृच्छ्रार्थक) ईषद् उपपद होने पर आकाशान्त धातु पा (पीना) से (सल् प्रत्यय को बाधकर) युच् होता है । ईषद् + पा + यु → यु को भन → ईषत्पानः । इसी प्रकार दुस् + पा + यु → दुष्पानः (कठिनता से पिवा जाने योग्य) सु + पा + यु → सुपानः (सुल से पिवा जाने योग्य) । **अ-३१६**

टिप्पणी—ईषत्करः, ईषत्पानः इत्यादि में कर्म से सल् प्रत्यय हुआ है, प्रत्यय द्वारा कर्म के उक्त हो जाने के कारण कटः, सोमः आदि में प्रथमा विभक्ति होनी है तथा कर्ता के अनुक्त होने से 'भवता' में तृतीया होती है । यहाँ कर्ता से पठो नहीं होती, क्योंकि अलर्षक प्रत्ययान्तों के योग में

१. कर्तृकर्मणोः कृति २।३।६३। २. न लोकाभ्यनिष्ठासलसंज्ञानाम् २।३।६६।

३२० । अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा शान्तिः ।  
 प्रतिषेधार्थयोरलंखल्वोरुपपदयोः क्त्वा स्यात् । प्राचां ग्रहणं पूजार्थम् ।  
 अमैवाव्ययेनेति नियमान्नोपपदसमासः दो ददधो । अजं ददवा ।

उसका निषेध हो जाता है ।

यहाँ से पाये इस प्रकरण की समाप्ति पर्यन्त क्त्वा तथा शान्तिः प्रत्यय का विधान किया गया है ।

३२०. अलमिति—निषेधार्थक अलं और लुप्त साथ उपपद होने पर घातु से क्त्वा प्रत्यय होना है ।

‘क्त्वा’ में त्वा भेद रहता है । कित करने का प्रयोजन है—

१. गुणवृद्धिनिषेध, २. सम्प्रसारण आदि ।

प्राचामिति—‘प्राचाम्’ यह कहना आदर प्रकट करने के लिये है । अभिप्राय यह है कि कुछ मूर्खों में प्राचार्य—विशेष (शास्त्रार्थ आदि) का नाम या ‘प्राचाम्’ (प्राचीनों के मत में) इत्यादि ग्रहण करने से कार्य (विधि) का विकल्प अभीष्ट होता है किन्तु यहाँ तो ‘वासक्य’ परिभाषा के अनुसार ही पक्ष में लुपट् आदि प्रत्यय हो जाते हैं । अतः विकल्प के लिये ‘प्राचाम्’ ग्रहण की आवश्यकता नहीं, केवल आदर-प्रदर्शन के लिये इसका ग्रहण किया गया है ।

अमैवेति—‘अव्यय’ से साथ यदि उपपद का समास होता है तो अन्त में साथ ही’ इस नियम से क्त्वा प्रत्ययान्त के साथ उपपद समास नहीं होता ।

अलं क्त्वा (मत दो)—प्रतिषेधार्थक ‘अलम्’ शब्द उपपद होने पर वा (देना) घातु से क्त्वा प्रत्यय होता है । दा + त्वा → दा को ददा (दद) आदेश होकर तथा त् (पर्य) होकर दत् + त्वा → ददवा ।

टिप्पणी—क्त्वा प्रत्ययान्त शब्द अव्यय होते हैं इनके रूप नहीं चलते ।

धुमास्थेतीत्वम् । पीत्वा खलु । अलखस्वोः किम् ? मा कार्यात् ।  
प्रतिषेधयोः किम् ? अलङ्कारः ।

३२१ । समानकर्तृकयोः पूर्वकाले ३।४।२१। समानकर्तृक-  
योर्चात्स्न्ययोः पूर्वकाले विद्यमानाद्धातोः क्त्वा स्यात् । भुक्त्वा प्रजति ।  
द्वित्वमतग्रम् । भुक्त्वा पीत्वा प्रजति ।

पीत्वा खलु (मत पीत्रिये) — प्रतिषेधार्थक 'खलु' शब्द उत्पन्न होने पर  
या (पीता) धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर या + क्त्वा → कित् प्रत्यय (क्त्वा) पड़े  
होने से 'या' के घा को 'ई' होकर पीत्वा ।

अलखस्वोः किमिति — अल और खलु के पूर्व होने पर, ऐसा क्यों कहा ?  
इसलिए कि 'मा कार्यात्' (मत कीजिय) यहाँ प्रतिषेधार्थक 'मा' (माङ्)  
उत्पन्न होने पर धातु से 'क्त्वा' नहीं होता ।

प्रतिषेधयोः किमिति — यदि प्रतिषेधार्थक अल खलु हों, ऐसा क्यों कहा ?  
इसलिए कि 'अलङ्कारः' आदि से क्त्वा नहीं होता । यहाँ अलम्' प्रतिषेध  
अर्थ में नहीं अतः 'भूषण' अर्थ में है ।

३२२. समानेति — यहाँ दो (या अधिक) धारक्यों का एक (समान) कर्ता  
हो यहाँ पूर्वकाल में वर्तमान धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है ।

पूर्वकाल में वर्तमान धातु से क्त्वा होने के कारण क्त्वा प्रत्ययान्त को  
पूर्वकालिक क्रिया कहा जाता है । हिन्दी में 'कर' या 'करके' लगाकर इसका  
अर्थ प्रकट किया जाता है ।

भुक्त्वा प्रजति (लाकर जाता है) — यहाँ दो क्रियायें हैं खाना (भुक्)  
और जाना (प्रज्) इन दोनों का कर्ता एक है । इनमें 'जाना' क्रिया पूर्वकाल  
में होनी है, अतएव 'जाना' अर्थ वाली भुक् धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर  
भुक् + क्त्वा → ज् की व् तथा क् होकर भुक् + क्त्वा → भुक्त्वा ।

शिवमिति — मूल में 'समानकर्तृकयोः' धर ३ द्विचन अविवक्षित है  
(लाभिया नहीं) अर्थात् यहाँ दो क्रियायें हों उनमें से पहली से क्त्वा होता है,

१. भुक्त्वायायाजहातिषी हति ६।४।६६।

३२२ । न क्त्वा सेट् १।२।१८। सेट् क्त्वा क्तिन्न स्यात्

३२३ । रलो व्युपधादलादेः संश्च १।२।२६। इवर्णोपलोप-  
धादलादेः रलन्तात्परौ क्त्वासनौ सेटौ वा कितौ स्तः । छत्तिस्त्वा

यह अभिप्राय नहीं था कि यदि दो से अधिक क्रियाएँ हों तो उनमें से-को प्र-  
क्रियाएँ होती हैं, उन सबसे कदा हो जाता है, जैसे भुक्त्वा पीत्वा ज्ञात्वा  
यहाँ तीन क्रियाएँ हैं, इनमें पूर्वकाल में वर्तमान भुक् भोर वा दोनों धातुओं  
से कदा हो जाता है ।

३२२. न क्त्वेति—सेट् (इट् सहित) कदा कित् नहीं होता ।

टिप्पणी—कुछ धातुओं से परे कदा प्रत्यय की इट् का प्रागम्य हो जाता  
है, यहाँ कदा सेट् धातु इट् सहित है । कदा में क् इट् है अतः यह कित्  
है किन्तु ऊपर के सूत्र के अनुसार 'सेट् कदा' कित् नहीं धातु उनके परे  
होने पर गुणवृद्धि निषेध धादि (कित् के) कार्य नहीं होते ।

सविता (तोक्) —सी (सीता) धातु से कदा प्रागम्य होकर सी+  
त्वा→त्वा को इट् (इ) का प्रागम्य होकर सी+इ+त्वा→सेट् कदा के  
कित् न रहने से गुण का निषेध नहीं होता तथा ई को गुण (ए) होकर  
सी+इ+त्वा→ए को 'अप्' आदेश अप्+इ+त्वा=सविता ।

सेट् क्तिन्निति—सूत्र में सेट् क्यों कहा ? इसलिये कि धनिद् 'कदा'  
किन् होता है, जैसे—'कदा' यहाँ इट् नहीं होता अतः कदा सेट् नहीं  
तथा यह किन् ही है इसलिये यहाँ अट् को गुण नहीं होता ।

३२३ रल इति—त्रिय धातु की उत्पत्ति में ३ धातुओं की उ वर्णों हैं  
तथा धादि में हप् (अपञ्जन) हो धोर धान्य में रप् (कोई स्पर्श अपञ्जन,  
र, य, म, य, ह) हो उससे परे सेट् कदा धोर सन् विहृत्य में किन् होते हैं ।

टिप्पणी—सूत्र में 'अपञ्जन' शब्द का अर्थ है उत्पत्ति इत्यर्थ को मैं ठावे  
धर=उ वर्णों धोर ३ धातु हैं उत्पत्ति में त्रियकी ऐसी धातु ।

छत्तिस्त्वा, छोत्तिस्त्वा (अपञ्जन कर) —यहाँ छत् (छीन् करना) धातु में

१. छिन्ति च १।१।४।

द्योतित्वा । लिखित्वा, लेखित्वा । द्युपधात्किम् ? वर्तित्वा । रत्नः  
किम् ? सेवित्वा । हलादेः किम् ? ण्वित्वा । सेट् किम् ? भुक्त्वा ।

३२४ । उदितो वा ७।२।३९।

उदितः परस्मै क्तव इद् वा स्यात् । शमित्वा, शान्त्वा ।

कृत्वा प्रत्यय होता है तथा रत्ना को इद् । द्युत् भातु की उपधा (अप्य वणं से पहला वणं) में उपर्युक्त है आदि में हल् (इ) है और अन्त में रल् (त्) है । अतः ऊपर के धूनानुसार कृत्वा प्रत्यय विकल्प से हिल् होता है । जब किल् होता है तो गुण नहीं होता 'द्युनित्वा' । किल् न होने पर गुण होकर द्योतित्वा । इसी प्रकार लिखित्वा लेखित्वा (लिखकर) ।

द्युपधात् किमिति—यदि उपधा में इ. उ हों, ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि 'व्योतित्वा' में कृत्वा किल् नहीं होता । यही 'वृत्' भातु है उसकी उपधा में 'भट्' है ।

रत्नः किमिति—सूत्र में रत्नत्वा भातु हो ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि 'सेवित्वा' में कृत्वा किल् नहीं होता, अतः गुण हो जाता है । 'पिक्' भातु के अन्त में 'क्' है जो 'रल्' में नहीं आता ।

हलादेः किमिति—हलादि भातु हो, यह क्यों कहा ? इसलिये कि 'एवित्वा' में कृत्वा किल् नहीं होता तथा गुण होता है । इद् भातु के आदि में अथ (स्वर) है, हल् नहीं ।

सेट् किमिति—इस सूत्र के अर्थ में सेट् क्यों कहा ? इसलिये कि 'भुक्त्वा' आदि में 'कृत्वा' किल् ही होता है तथा वही गुण-निषेध हो जाता है । यही कर्त्ता कर्त्तव्य है ।

३२४, उदितो वेति—विन धातुओं में उकार इत्यन्तक है, उनसे परे कर्त्ता को इद् विकल्प से होता है ।

शमित्वा, शान्त्वा (शान्ति होकर)—यही धातु उपपत्ते (दिवादि) भातु है । यह उदित है अतः कृत्वा परे होने पर विकल्प से इद् होता है । धातु-+इ +रत्वा→शमित्वा । जब इद् नहीं होता तो धातु-+रत्वा→श को दीर्घ

१. धनुनाशितस्य विवर्तनोः सिद्धि १।४।१३।

देवित्वा, घृत्वा । दघातेर्हिः—हित्वा ।

३२५ । जहातिश्च क्त्वि ७।४।४३। हित्वा, हाडतु हित्वा

३२६ । समासेऽनन्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ७।१।३७। अङ्ययपूर्वपदे  
ऽनन्समासे क्त्वो ल्यबादेशः स्यात् । तुक् । प्रकृत्य । अनन् किम् ।  
अकृत्वा ।

गाम् + त्वा → म को अनुस्वार तथा परसवर्णं होकर घान्वा ।

देवित्वा, घृत्वा (सेलकर)—यहाँ दिव् (बीडा आदि) उदित् घातु से  
क्त्वा प्रत्यय होकर विकल्प से इट् होता है । दिव् + इ + त्वा + इ को गुण  
(ए) देवित्वा । इट् के अभाव में दिव् + त्वा → व् को ऊट्<sup>२</sup> (ऊ) दि + ऊ +  
त्वा → इ को य् (यण्) घृत्वा ।

हित्वा (धारण करके)—घा + क्त्वा → प्रत्यय के क्त्वा होने से घा को  
'हि' आदेश होकर हि + त्वा → हित्वा ।

३२५. जहातिश्चेति—घोहाक् स्याते (जहाति) घातु को भी 'हि' आदेश  
होता है, क्त्वा परे होने पर ।

हित्वा (त्यागकर)—हा (घोहाक्) घातु से क्त्वा प्रत्यय → क्त्वा परे हानि  
पर ऊपर के सूत्र से 'हा' को हि' आदेश होकर हि + त्वा → हित्वा ।

हाड् इति—(घोहाड् गतो, हाड्) का 'हात्वा' रूप होता है ।

हात्वा (आकर)—घोहाड् (जाना) घातु से क्त्वा प्रत्यय होकर हा + त्वा  
→ हात्वा । यहाँ घातु को 'हि' आदेश नहीं होता । इनीतिये सूत्र में 'जहाति'  
बहा है जो 'घोहाक् स्याते' का रूप है । घोहाड् गतो' का 'जिहीने' रूप  
होता है ।

३२६. समास इति—जिस समास में अङ्यय पूर्वपद हो उसमें क्त्वा को  
न्यप् आदेश हो जाता है, किन्तु नञ् समास में नहीं । ल्यप् में य शेष  
रहता है ।

प्रकृत्य (प्रकरण बनाकर)—प्र + कृत्वा यहाँ प्र का कृत्वा ने समास

१. ऋषीः घृडनुनासिके च ७।४।१६। २. दघातेर्हिः ७।४।४२ (२९८).

३२७ । आभीक्ष्येणमुल् च ३३४२३। आभीक्ष्येणोत्वे

विषयेणमुल् स्यात् क्त्वा च ।

३२८ । नित्यबोष्मयोः ३३४२४। आभीक्ष्येणोष्मायां चोत्वे  
स्य क्त्वं स्यात् । आभीक्ष्येणं तिङन्तेष्वभ्ययसंज्ञकेषु कुदन्तेषु च ।

१ है (कुगति प्रादयः) । समाप्त होने से ऊपर के सूत्र के अनुसार क्त्वा के  
न ये रूप धादेश हो जाता है । प्रकृ+य इस दशा में निप् कृत् (स्वप्)  
होने से तुक् का भाग्य होता है, प्रकृ+य+य→प्रकृत्य ।

अनमिति—सूत्र में अनञ् कहने का क्या प्रयोजन है ? यह कि नञ्  
स में क्त्वा को रूप नहीं होता, जैसे—प्रकृत्वा (न करके) । यहाँ नञ्  
रत्वा के साथ नञ् समाप्त होता है ।

३२७. आभीक्ष्येण इति—यदि बार बार करना या लगातार करना  
रीक्ष्य=पीनः पुण्य=पुनः पुनः होना) बतलाना हो तो क्त्वा प्रत्यय के  
१ में शमुल् प्रत्यय होता है और क्त्वा भी ।

३२८. निषेति—यदि बार बार होना (नित्य) और प्रत्येक वस्तु में  
(बोष्मा) प्रकट करना हो तो यद को द्वित्व (दो बार प्रयोग) ही  
है ।

आभीक्ष्येणमिति—तिङन्तों (त्रिधाप्र्यो) में तथा अभ्ययसंज्ञक कुदन्तों में  
का बार बार होना या लगातार होना (आभीक्ष्येण) प्रकट होता है ।

उपपत्ति—यहाँ 'नित्य' और 'आभीक्ष्येण' समानार्थक हैं । जिस त्रिधा को  
बार बार या लगातार करता है वह नित्य कहलाती है (आसिक्ता) ।  
तथा की नित्यता तिङन्तों और अभ्ययसंज्ञक कुदन्त क्त्वात्त आदि से  
की जाती है; जैसे—भुक्त्वा भुक्त्वा वज्रति । 'बोष्मा' का अर्थ है—धनेक  
'का एक साथ त्रिधा और गुण के साथ सम्बन्ध दिखलाने की इच्छा,  
आभीक्ष्येणोत्वे ३३४२३ ।

१. ह्रस्वस्य पिठि कृति तुक् ३३४७१।



स्मारं स्मारं नमति शिवम् । स्मृत्वा स्मृत्वा । पायं पायम् ।  
भोजम् । श्राव श्रावम् ।

३२६ । अन्यथैवंकथमित्यंशु सिद्धाप्रयोगश्चेत् ॥४॥  
एषु कृष्णो लामुल स्यात् । निद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवंभूतश्चेत् कृष्ण ।

स्मारं स्मारं नमति शिवम् (घाट कर करके शिवजी को नमस्कार  
है) — यहाँ स्मरण किया का बार बार होना (घाभीक्ष्ण्य) प्रकट करने  
लिए स्मृ + (स्मरण करना) धातु से लामुल् प्रत्यय होता है । स्मृ + लामुल्  
स्मृ + घम् → ऋ को वृद्धि<sup>१</sup> घाट् स्माट् + घम् → स्मारम् → नित्य घ  
द्वित्व (नित्यबीप्सयोः) होकर स्मारं स्मारम् । पक्ष में षत्वा प्रत्यय स्मृ +  
→ स्मृत्वा स्मृत्वा ।

पायं पायम् (बार बार पीकर या रक्षा करके) — यहाँ पा पा  
घाभीक्ष्ण्य अर्थ में लामुल् प्रत्यय होकर पा + घम् → णिात् कृत् परे होने  
पुक् का घागम्<sup>२</sup> पा + म् + घम् → पायम् → विप्रयोग<sup>३</sup> (द्वित्व) होकर  
पायम् । पक्ष में पीत्वा पीत्वा ।

भोजं भोजम् (बार बार खाकर) — किया के बार बार होने को  
करने के लिये भुज् धातु से लामुल् प्रत्यय होकर भुज् + घम् → उ को  
घो → भोजम् → द्वित्व होकर भोज भोजम् । पक्ष में — भूत्वा भूत्वा ।

श्रावं श्रावम् (बार बार सुनकर) — घाभीक्ष्ण्य अर्थ में श्रु धातु से ल  
प्रत्यय होकर श्रु + लामुल् → श्रु + घम् → उ को वृद्धि<sup>१</sup> श्रो तथा  
आदेश होकर श्राव् + घम् + श्रावम् → द्वित्व होकर श्रावं श्रावम् । पक्ष  
श्रुत्वा श्रुत्वा ।

३२६. अन्यथेति — अन्यथा, एवम्, कथम्, घोर-इत्यम् — इ  
उपपद होने पर कृज् धातु से लामुल् प्रत्यय होता है यदि कृज् का घ

१. भवोऽञ्जिति ७।२।११५।

२. धातो युक् चिण्कृतोः ७।३।३३।

३. भवोऽञ्जिति ७।२।११५।

त्वाप्रयोगानर्ह इत्यर्थः । अन्यथाकारम्, एवमेकोरम्, कयङ्कारम्, इत्यङ्कारं भुङ्क्षते । सिद्धेति किम् ? शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्षते ।

इत्युत्तरकृदन्तप्रकरणम् ॥४॥

(प्रयोग न करना) सिद्ध हो ।

अपेक्षाविति—सिद्धाप्रयोग का अर्थ है—‘अर्थ होने के कारण कृञ् वातु का प्रयोग आवश्यक न हो’ अर्थात् कृञ् वातु का प्रयोग तो होता है, किन्तु उसका कोई अर्थ नहीं प्रकट होता ।

अन्यथाकारं भुङ्क्षते—(अन्य प्रकार से खाता है)—यहाँ ‘अन्यथा भुङ्क्षते’ का जो अर्थ होता वही ‘अन्यथाकारं भुङ्क्षते’ का अर्थ है, इसलिये हं वातु का प्रयोग अपेक्षित है, उसका अप्रयोग सिद्ध है । ऐसी ‘अन्यथा’ पूर्वक हं वातु से एमुन् प्रत्यय होता है । अन्यथा + कृ + एमुन् → अङ् को बुद्धि ‘हं अन्यथा + कार् + ण् → अन्यथाकारम् । इसी प्रकार एव + कृ + वमुन् → वङ्कारम् (इस प्रकार से), कयङ्कारम्, इत्यङ्कारम् ।

सिद्धेति किम् इति—सूत्र में सिद्धाप्रयोग (हं वा प्रयोग अपेक्षित हो) चरद में सिद्धा ? इसलिये कि जहाँ ‘कृ’ का प्रयोग आवश्यक होता है, वहाँ अन्यथा यदि पूर्वक ‘हं’ वातु से एमुन् प्रत्यय नहीं होता, जैसे—‘शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्षते ।’ (शिर को अन्यथा करके खाता है), यहाँ कृ वातु के प्रयोग के बिना चरद ही सिद्धा है । अन्यथाकारम् इति ॥

# अथ तद्धितप्रकरणम्

अथ साधारणप्रत्ययाः ॥१॥

३३० । समर्थानां प्रथमाद्वा ४।१।२२ इदं पदत्रयमधिक्रियते प्राग्दिश इति यावत् ।

३३१ । अश्वपत्यादिभ्यश्च ४।१।२४ एभ्योऽण् श्याम् प्राग्दी-  
व्यतीयेष्वर्थेषु । अश्वपतेरपत्यादि-आऽश्वपतम् । गणपतम् ।

अथ तद्धितेति—‘तद्धित’ शब्द अन्वयं संज्ञा है, ‘तेभ्यः (प्रयोगेभ्यः) हिताः तद्धिताः’ जो उन उन प्रयोगों के लिये हितकर हैं, इसलिये प्रयोग के अनुसार ही तद्धित प्रत्ययों का व्यवहार होना चाहिये । (वि० तत्त्वबोधिनी) ।

३३०. समर्थानामिति—समर्थानाम्, प्रथमात्, वा इन तीन पदों का प्राग्दिशो विभक्तिः (५।३।१) तक अधिकार है ।

प्राग्दिशो विभक्तिः सूत्र से आगे स्वाधिक प्रत्यय चलते हैं, उनमें का अधिकार का प्रयोजन नहीं ।

अभिप्राय यह है—तद्धित विधायक सूत्रों में पहले उच्चारित पद द्वारा जितका बोध हो, सामर्थ्य (अर्थ कथन योग्यता) होने पर उससे (विकल्प से) प्रत्यय होता है । जैसे—‘तस्यापत्यम्’ इस तद्धित विधायक सूत्र में ‘तस्य’ और ‘अपत्यम्’ दो शब्द हैं । इनमें प्रथम उच्चारित ‘तस्य’ है, इससे (वच्छेदित) ‘उपगु’ इत्यादि का बोध होता है । अतः ‘उपगोः अपत्यम्’ इस अर्थ में ‘उपगु’ शब्द से विकल्प से प्रत्यय होता है ।

३३१. अश्वेति—अश्वपति आदि शब्दों से अण् प्रत्यय होता है । प्राग्दीव्यतीय (अपत्य आदि) अर्थों में । यहाँ प्राग्दीव्यतोऽण् ४।१।२३ से अण् की अनुवृत्ति आती है ।

टिप्पणी—तेन दीव्यति ४।४।२ सूत्र कहा गया है, यहाँ तक प्राग्दीव्यतीय अर्थ हैं । प्राग्दीव्यतीय अर्थों में—अपत्यार्थ, रक्षाधर्म, अनुराध, शेष तथा विकाराय सम्मिलित हैं ।

३३२

दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः ४।१।८५।  
दिभ्यःपत्युत्तरपदाच्च प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ब्यः स्यात् । अगोऽप  
दितेरपत्यं दैत्यः । अदितेरादित्यस्य वा—

आश्वपत्यम्—आश्वपतेः अपत्यादि (आश्वपति की अपत्य इत्यादि)  
विषय में तद्धित विधायक सूत्र में प्रथम उल्कारित समर्थ पद आश्वपति  
प्रत्यय होता है । 'आश्वपति ऊत् + अण्' इसकी 'कृतद्धितसमासाश्च' से  
परिक सजा होकर ऊत् का लोप हो जाता है । 'आश्वपति + अ' इस  
आदि के 'अ' को वृद्धि (आ) होकर तथा अन्त के 'इ' का लोप  
आश्वपत् + अ → आश्वपत अन्त बनता है । फिर अर्थ के अनुसार नपुंसक  
प्रथमा के एक वचन में 'आश्वपत्यम्' रूप बनता है ।

टिप्पणी (i) जिन तद्धित प्रत्ययों में अ, ए, इत्संज्ञक होता है  
सिद्ध कहलाते हैं । उनके परे होने पर शब्द के प्रथम स्वर को वृद्धि हो  
है (तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७) इसी प्रकार कित् प्रत्यय परे होने  
[किति च ७।२।११८) ।

(ii) यकारादि तथा अकारादि प्रत्यय परे होने पर पूर्व की भ संज्ञा  
ओर भ संज्ञक के इवलों तथा अण्वों का ईकार तथा तद्धित परे होने पर  
हो जाता है (यस्येति च) ।

गणपत्यम्—गणपतेरपत्यम् (गणपति की सम्मान आदि)—गणप  
अश्वपति आदि (गण) में पदा है इससे अण् प्रत्यय होकर 'आश्वपत  
समान रूप होता है ।

३३२. दित्येति—दिति, अदिति, आदित्य तथा जिसमें पति  
उत्तरपद हो—ऐसे शब्दों से प्राग्दीव्यतीय भषों में ब्य प्रत्यय होता है ।  
लोप रहता है । यह अण् का वाचक है ।

वैयर्थ्य—दितेरपत्यम् (दिति की सम्मान)—दिति शब्द से अपत्य

१. गुपी धातुप्रातिपदिकयोः २।४।८१।

२. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।

३. यस्येति च ६।४।१४८।

३३३ । हसो यमां यमि सोः ॥ १५६४ ॥ हलः परस्य यमो  
लोपः स्याद्वा यमि । इति यन्तोपः । आदित्यः । प्राजापरयः । ॐ (वा)  
देवाद्यभ्यो ॥ देव्यम्, देवम् ।

उपसृक्तः सूत्र से 'य' प्रत्यय होता है । इति + य इस दशा में 'आदि' 'इ' की  
वृद्धि (ऐ) तथा परस्य 'इ' का लोप होकर दंत + य → दे।य. रूप बनता है ।

आदितेरिति—आदिति तथा आदित्य दोनों से य प्रत्यय होकर आदित्य  
रूप होता है ।

३३३. हल इति—व्यञ्जन (हन्) से परे यम् (य, र, ल, व तथा षों) के  
पञ्चम अक्षर, का लोप हो जाना है, यम् परे होने पर ।

आदित्यः—आदिते अपत्यम् (आदित की सन्तान) — इस विग्रह में आदिति  
शब्द से य प्रत्यय होकर आदि य की वृद्धि (आ) तथा 'इ' लोप हो जाता है  
और आदित्य रूप बनता है ।

आदित्यस्य अपत्यम् (आदित्य की सन्तान) — इस विग्रह में य प्रत्यय  
होकर 'आदित्य + य' इस दशा में य् से आगे वाले ङ का लोप होकर  
आदित्य + य इस दशा में ऊपर के सूत्र से 'य्' (यम् लोप हो जाता है तथा  
आदित्य रूप बनता है ।

प्राजापरय — प्राजापतेः अपत्यम् पुमान् (प्राजापति की पुरुष सन्तान) —

इस विग्रह में पति उत्तरपद होने से प्राजापति शब्द से य प्रत्यय होता  
है । प्राजापति + य → आदि वृद्धि, 'इ' का लोप प्राजापत् + य प्राजापत्यः ।

देवाद इति (वा) देव शब्द से अपत्यादि षों से यञ् और मञ् प्रत्यय  
होते हैं । यञ् में (य) और यञ् में य लोप रहता है ।

देव्यम्, देवम् — देवस्य अपत्यम् (देव की सन्तान) — इस विग्रह में 'देव'  
से यञ् तथा मञ् प्रत्यय होते हैं । देव + य तथा देव + य इस दशा में 'आदि  
ए की वृद्धि' (ऐ) तथा य् से आगे वाले (म) का लोप होकर देव्यम् तथा  
देवम् रूप होते हैं ।

ॐ (वा) बहिपटिजोषो यकच ॥ बाहः । ॐ वा) ईकक् च ।

२३४ । किति ॥ ७।२।११८॥ किति तद्धिते चाचामादेरपो वृद्धि  
स्यात् । बाहोः । (वा) गोरजादिप्रसङ्गे घञ् ॥ गोरपत्यादि गङ्गम् ।

२३५ । उत्सादिभ्योऽम् ॥ ४।१.८६। औत्सः ।

इति साधारणप्रत्ययाः ॥१॥

बहिव इति (वा) — बहिम् छन्द से अपर्यादि अर्थों में यम् प्रत्यय होना है । गोर टिमजक अर्थात् 'इम्' का लोप होता है ।

बाहः - बहिर्ध्वः (बाहर होने वाला) — इस विग्रह में बहिम् छन्द से यम् प्रत्यय होकर 'इम्' (टिमजक) का लोप हो जाता है । बाह्य वृद्धि अ को रा होकर बाह् + य → बाह्यः बनता है ।

ईकक् वेति — बहिम् छन्द से इन अर्थों में ईकक् प्रत्यय होना है और टिमजक का लोप भी ।

२३४. किति — किन्तु तद्धित परे होने पर स्वरों में आदि स्वर को वृद्धि होती है । [बिच् का अर्थ है जिसमें क् की हलान्ता होकर उसका भोग हो गया हो । ईकक् प्रत्यय में 'क्' की हलान्ता होकर लोप हो जाना है अतः यह बिच् है ।]

बाहोः — बहिर्ध्वः (बाहर होने वाला) — इस विग्रह में बहिम् छन्द से ईकक् प्रत्यय होकर बहिम् + ईक हल अन्ता में इम् (टि) वा लोप तथा 'बिचि च' से आदि स्वर अ को वृद्धि (वा) होकर बाहोः बनता है ।

गोरजादीनि (वा) — स्वर है आदि में जिसके (अर्थात्) अर्थात् अण् हाहादि प्रत्यय प्राप्त होने पर वो छन्द से यम् प्रत्यय होता है ।

अथयम् — यो, अर्थात् (यो को लगाना आदि) — इस विग्रह में यो छन्द से यम् प्रत्यय होता है । यो + य इस अन्ता में यो को यम् (बाह्यो वि मान्ये) होकर यम् + य → यय बनता है ।

२३२. उत्सादिभ्य इति — उत्स हाहादि अर्थों से अण्हादि अर्थों में

अथ अपत्याधिकारः ॥२॥

१६। स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्त्वौ भवनात् ५।१।५६  
 धान्यातो भवन इत्यतः प्रागर्थेपु स्त्रीपुंसाभ्यां क्रमात्प्रत्ययौ ततः  
 स्त्रीणः । पौनः ।

अञ् प्रत्यय होता है ।

धौतः—उत्तस्य अपत्यम् पुमान् (उत्प की पुरुष सत्ता) —  
 इस विग्रह में उत्त शब्द से उपयुक्त सूत्र के अनुसार अञ् प्रत्यय होता है ।  
 उत्त + अ इस अवस्था में आदि स्वर उ की वृद्धि<sup>१</sup> (धौ) तथा अत्य प्रकार  
 का लोप<sup>२</sup> होकर धौत + अ → धौतः रूप बनता है ।

इति साधारणप्रत्ययाः ॥१॥

अथ अपत्यप्रत्ययाः । स्त्रीपुंसाभ्यामिति—‘धान्यातो भवने’  
 ५।१।१। इस सूत्र से पूर्व के अर्थों में स्त्री और पुंस्-वाच्य से क्रम से नञ् और  
 स्तञ् प्रत्यय होते हैं । नञ् में न तथा स्तञ् में स्त छेप रहता है ।

स्त्रीणः—स्त्रियाः अपत्यम्, स्त्रीषु भवः, स्त्रीणां समूहः आदि (स्त्री की  
 सत्ता, स्त्रियों में होने वाला, स्त्रियों का समुदाय आदि)—इन विग्रहों में स्त्री  
 शब्द से (अपत्यादि अर्थों में) उपयुक्त सूत्र से नञ् प्रत्यय होता है । स्त्री + न  
 इस अवस्था में आदि वृद्धि (ई को ऐ) तथा न को ण होकर स्त्रीणः रूप  
 बनता है ।

पौनः—पुंसः अपत्यादि (पुरुष का अपत्यादि)—पुंस् शब्द से स्तञ्  
 प्रत्यय होकर पुंस् + स्त इस दशा में पुंस् के सकार का लोप<sup>३</sup> हो जाता है ।  
 आदि उ की वृद्धि (धौ) पौनः ।

१. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।१७।

२. यत्येति च ६।४।१४८।

३. संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३।

३३७ । तस्यापत्यम् ४ १।६२। पठ्यन्तात्कृतसन्धे समर्थाद-  
पत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमाणान्ध प्रत्यया वा श्रुः ।

३३८ । ओर्गुणः १६।४।१४६। सवर्णान्तस्य भस्य शुणः स्यात्  
तद्धिते । उपगोरपत्यमौपगवः । आदवपतः । देत्यः । औत्सः । त्रैणः ।  
पौंसः ।

३३९ । अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् १४।१।१९८। अपत्यत्वेन  
विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसङ्ग स्यात् ।

३४० । एको गोत्रे १४।१।२३। गोत्रे एक एवापत्यप्रत्यय स्यात् ।  
उपगोर्गोत्रापत्यमौपगवः ।

३३७. तस्मैति—पठ्यन्त कृतसन्धि समर्थ पद से अपत्य अर्थ में पड़ते  
कहे हुए तथा प्रागे कहे जाने वाले प्रत्यय विकल्प से होते हैं ।

३३८. ओरिति—त्रिक के अन्त में 'उ' वर्ण है ऐसे भसजक की गुण होता  
है, तद्धित प्रत्यय परे होने पर ।

औपगवः—उपगोः अपत्यं पुमान् (उपगु की पुंस्य सन्तान)—यहाँ 'उपगु'  
पठ्य से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । उपगु + अ इस दशा में आदि  
स्वर की वृद्धि (उ की ओ) तथा अन्तिम 'उ' की ऊपर के सूत्रानुसार गुण  
(उ की ओ) होकर औपगो + अ इस दशा में ओ की चट् हो जाता है तथा  
औपगवः रूप बनता है ।

'आदवपतः' इत्यादि शब्द ऊपर आ चुके हैं ।

३३९. अपत्यमिति—अपत्य रूप में विवक्षित पौत्र आदि की गोत्र संज्ञा  
होती है ।

३४०. एक इति—गोत्र अर्थ में एक ही (अपत्यवाचक) प्रत्यय होता ॥ ।

औपगवः—उपगोः गोत्रापत्यम् (उपगु की गोत्रापत्य)—यहाँ उपगु पठ्य  
से अण् प्रत्यय होकर पूर्ववत् औपगवः रूप होता है । 'एकोगोत्रे' नियम



३४१ । गर्गादिभ्यो यञ् । ४।१।१०३। गोत्रापत्ये । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । वात्स्यः ।

३४२ । यञ्जोश्च । २।४।६४। गोत्रे यद्यधन्तमधन्तं च तद्वच्च यद्योरेतयोर्लुक् स्यात्तद्धृते बहुव्यये न तु सित्रयाम् । गर्गाः । वरसाः ।

३४३ । जीवति तु वंद्ये युवा ४।१।१६३। वंद्ये पित्रादौ जीवति पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्यादि तद्यु वसतमेव स्यान् ।

के कारण उपगु की पंचमी, दसमी या सोबीं आदि गोत्रापत्य को कहने के लिये भी 'गोपगव' शब्द ही पर्याप्त होगा अन्य कोई प्रत्यय करने की आवश्यकता न होगी ।

३४१. गर्गादिभ्य इति—गर्ग आदि शब्दों से गोत्रापत्य धर्म में यञ् प्रत्यय होता है ।

गार्ग्यः—गर्गस्य गोत्रापत्यम् (गर्ग के गोत्र आदि)—इस धर्म में गर्ग शब्द से यञ् प्रत्यय होता है । 'गर्ग+य' इस वधा में आदि भ को वृद्धि (घा) तथा अन्त्य अकार का लोप होकर 'गार्ग्यः', रूप बनता है । इसी प्रकार वरसस्य गोत्रापत्यम् वात्स्यः ।

यञ्जोरिति—गोत्र धर्म में जो यञ् प्रत्ययान्त धीर भञ् प्रत्ययान्त शब्द हों उनके अन्त्यव यञ् भञ् का लोप हो जाता है उन धर्मों के बहुवच में, किन्तु स्त्रीलिङ्ग में लोप नहीं होता ।

○ गर्गाः—गार्ग्य शब्द के बहुवचन में गर्गाः होता है । यहाँ उपपुंक्त सूत्रानुसार गर्ग+यञ् (गार्ग्य) में यञ् का लोप होता है । इस प्रकार गार्ग्यः, गार्ग्यी, गर्गाः रूप होंगे । इसी प्रकार वरसाः ।

।टप्पणी—द्वितीय,दि विभक्तियों के बहुवचन में भी गोत्र प्रत्यय यञ् धीर भञ् का लोप हो जाता है तथा गर्गान् इत्यादि रूप बनते हैं ।

३४३. जीवतीति—वंश्य अर्थात् पिता इत्यादि के जीवित रहते गोत्र की जो अपत्य (प्रपौत्र) उसकी युवासंज्ञा ही होती है ।

३४४ । गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् । ४।१।१४। यून्यपत्ये गोत्रप्रत्यया-  
न्तादेव प्रत्ययः स्यात् । स्त्रियां तु न युवसङ्गा ।

३४५ । यन्निञ्जोश्च । ४।१।१०। गोत्रे यौ यन्निञ्जौ तदन्तात्फक्  
स्यात् ।

३४६ । धायनेयीनीयियः फट्सछधां प्रत्ययादीनाम्  
। ३।१।२। प्रत्ययादेः फस्य आगन्, ढस्य एय, स्तस्य ईन् ह्रास्य ईय्,  
घस्य इय् स्युः । गर्गस्य युवापस्य गार्ग्यायणः । दास्यायणः ।

टिप्पणी—बह्व्य का अर्थ है बँध में हुआ, पूर्वज, पिता पितामह आदि ।  
यदि इनमें से कोई जीवित हो तो पौत्र (प्रथम युवापत्य) की सन्तान को  
युवापत्य कहा जाता है ।

३४४. गोत्रादिति—युवापत्य अर्थ में गोत्रप्रत्ययान्त से ही प्रत्यय होता है,  
स्त्रीसिद्ध में तो युवा संज्ञा होती नहीं ।

३४५. यन्निञ्जोश्च—गोत्र अर्थ में जो यम् और इम् प्रत्यय होते हैं, तदन्त  
से (युवापत्य अर्थ में) फक् प्रत्यय होता है । फक् में 'क्' का लोप होकर  
फ शेष रहता है ।

३४६. धायनिजिति—प्रत्यय के धावि फकार को धायन्, ढकार को एय्  
रुकार को ईन्, ह्रकार को ईय् चकार को इय् हो जाता है ।

गार्ग्यायणः—गर्गस्य युवापत्यम् (गर्ग की युवापत्य)—इन अर्थ में ऊपर के  
नियम के अनुसार गोत्रप्रत्ययान्त 'गार्ग्य' लब्ध से (यन्निञ्जोश्च) फक् प्रत्यय  
होता है । गार्ग्य + छ, इस दशा में फकार को धायन् होकर तथा गार्ग्य के  
अन्त्य ध का लोप होकर गार्ग्य् + धायन् + ध → (न् को ल्) गार्ग्यायणः ।

टिप्पणी—यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि अपत्य या सन्तति तीन प्रकार  
की है - १-अनन्तरापत्य (पुत्र), २-गोत्रापत्य (गोत्रादि), ३-युवापत्य  
(बह्व प्रपौत्र आदि जिसके पिता, पितामह आदि में से कोई जीवित हो) ।  
इनमें से अनन्तरापत्य में—गर्गस्य अनन्तरापत्य गार्गिः (अन् इम्), गोत्रापत्य में—

३४७ । अत इज् ॥४॥१६५॥ अदन्तं यत्प्रातिपदिकं तस्मादिङ्  
स्यात् अपत्येऽर्थे दाक्षिः ।

३४८ । बाह्यादिभ्यश्च ॥४॥१६५॥ बाह्विः । औडुलोमिः ।

गार्गस्य गोत्रापरत्यं गार्ग्यः (गर्गादिभ्यो घञ्) तथा युवापरत्यं में-गार्गस्य युवापरत्यम्  
गार्ग्यविष्णुः (यजिष्णेऽचेति फङ्) ।

दासायणः—दक्षस्य युवापरत्यम् (दक्ष की युवापरत्य) यहाँ दक्ष से गोत्र  
प्रत्यय इज् होकर 'दाक्षि' बनता है। दाक्षि से युवापरत्य अर्थ में 'यजिष्णोरथ'  
सूत्र से फङ् प्रत्यय होता है। दाक्षि + फ → दाक्षि + आयन् + प्र = अन्त्य  
इकार का लोप, न को ण → दासायणः ।

३४७. अत इति—अदन्त शब्द से अपत्य अर्थ में इज् प्रत्यय होता है।

दाक्षि—दक्षस्यापरत्यम् (दक्ष की संज्ञान) —इस अर्थ में 'दक्ष' घञ् से  
इज् प्रत्यय हुआ, दक्ष + इ → धादि वृद्धि (प्र को धा), अन्त्य घकार का  
लोप → दाक्षिः ।

३४८. बाह्वादिभ्य इति—बाहु आदि शब्दों से अपत्य अर्थ में इज्  
प्रत्यय होता है ।

बाह्विः—बाहोरपरत्यम् (बाहु की संज्ञान) —इस अर्थ में बाहु घञ् से  
उपयुक्त सूत्र के अनुसार इज् प्रत्यय होता है। बाहु + इ इस वशा में उ को  
गुण<sup>१</sup>। प्री) तथा घक् होकर 'बाहु + प्रक् + इ → बाह्विः' रूप होता है ।

औडुलोमिः—उडूनि (=नक्षत्राणि) इव लोमानि यस्य स उडूलोमा  
(तारों के समान लोम वाला एक ऋषि) तस्य अपत्यम् (उडूलोम की  
संज्ञान) —इस अर्थ में 'बाहु' आदि गण में होने के कारण 'उडूलोमन्' शब्द  
से 'इज्' प्रत्यय होता है। उडूलोमन् + इ इस अवस्था में धादि वृद्धि उ को  
प्री तथा यन् (टि) का लोप होकर "औडुलोमि" शब्द बनता है ।

ॐ (वा) सोमोऽपश्येषु बहुवचनं चतुर्थ्यः । बहुवचनम् । आहूति-  
रागोऽम् ।

३४६ । अनुप्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽम् । ३४६ । एभ्यो-  
ऽम् । ये तत्रानुप्यस्तेभ्योऽपश्येऽन्यत्र तु गोत्रे । विदस्य गोत्रं येदः ।  
येदो । विदाः । पुत्रस्यापत्यपौत्र, पौत्रोः, पौत्राः । एव दोहित्रादयः ।

सोम इति (वा) — अस्यापत्यं बहुवचनं से सोमम् एव च प्रत्यय  
कहना चाहिए ।

बहुवचनम् — बहुवचनः अस्यापत्यं (बहुवचन की संज्ञा) — इस अर्थ  
में उपर्युक्त अतिशय के अनुसार बहुवचनम् से 'अ' प्रत्यय होना है । बहुवचनम्  
+ अ इस अक्षरवा से अम् मोड़ होकर प्रत्यय के बहुवचन से बहुवचनः बन  
जाता है ।

आहूतिराग इति — यह (बाहु आदि) आहूतिराग है । जिन रागों में  
इह, (तडिग) प्रत्यय मिलना है वेना है किन्तु इह, प्रत्यय करने काया कोई भूष  
(नियम) नहीं मिलता, उन्हें बाहु आदि राग में सम्मिलित आहूति ।

३४६, अनुप्येति — विद आदि रागों से मोड़ अर्थ से अम्, प्रत्यय  
होना है किन्तु इनमें जो अति नहीं है उनमें (अन्यत्र) अत्य अर्थ से  
होना है ।

येदः — विदस्य मोचनार्थम् (विद अति की मोचनार्थ) — विद राग न  
मोचनार्थ अर्थ से अम्, अत्य होकर विद + अ इस अक्षरवा से अति इ की  
बुद्धि से तथा अत्य अ वा मोड़ होना है और येद अर्थ बनता है ।

विदा — मोचनार्थार्थक 'अत्र' अर्थ का बहुवचन से मोड़ हो  
जाता है ।

पौत्रः — पुत्रस्य अपत्यम् (पुत्र की संज्ञा) — पुत्र राग अति नहीं ।  
अत्रः इससे अपत्य अर्थ से अम्, प्रत्यय होता है । पुत्र + अ — पौत्र, अर्थ  
बनता है ।

३५० । शिवादिभ्योऽण् ४।१।११२। अपत्ये । शिवः । गाङ्गः ।

३५१ । ऋष्यन्धकवृष्णिङ्कुरुभ्यश्च ४।१।११४। ऋषिभ्यः—  
वासिष्ठः । वैश्व मित्रः । अश्वकेभ्यः—इवाकः । वृष्णिभ्यः—  
वामुदेवः । कुरुभ्यः—नाकुलः । साहदेवः ।

टीका:—यहाँ शिवापरत्य अर्थ में अण् प्रत्यय नहीं मत्तएव बहुवचन में अण् का लोप नहीं होता ।

एवमिति—इसी प्रकार दुहितुः अत्यम् (पुत्री की सम्मान) —दुहितुं + ए → ऋ को २ (यण्) होकर दीहित् + २ + अ → दीहितः इत्यादि ।

शिवादीति—शिव आदि (गण) से अत्यय अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

३२० शेष —शिवापरत्यम् (शिव की सम्मान) —इस अर्थ में 'शिब' से अण् प्रत्यय होकर 'शिव + अ' इस वशा में आदिबुद्धि २ को ऐ तथा अत्यय 'अ' का लोप हो जाना है ।

गाङ्ग —गङ्गायाः अत्ययम् (गङ्गा की सम्मान) —इस अर्थ में गङ्गा लब्ध से 'अण्' प्रत्यय अत्यय आकार का लोप (यस्येति च) होकर गाङ्गः ।

३५१, ऋष्यन्धकेति ऋषि = प्रसिद्ध ऋषिष्ठ आदि । अश्वक, वृष्णि और कुरु ये वृक्षों के नाम हैं—इनमें अत्यय अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

ऋषिभ्य इति—ऋषि के नामों से, जैसे—

वासिष्ठ —वासिष्ठस्य अत्ययम् (वासिष्ठ की सम्मान) —अविवाचक वासिष्ठ लब्ध से अण् प्रत्यय होकर आदिबुद्धि (अ को वा) तथा अत्यय (अ वा) लोप हुआ है । इसी प्रकार विश्वामित्रस्यापरत्यम्—विश्वामित्रः ।

अश्वकेभ्य इति—अश्वक वृक्ष नामों से, जैसे—

इवाकः—इवाकस्य अत्ययम्, इवाकस्य अश्वक वृक्ष का है, अण् प्रत्यय अत्यय होकर 'इवाकः' बनता है ।

वृष्णिभ्य इति—वृष्णि वृक्ष नामों से, जैसे—

वामुदेव—'वामुदेवस्यापरत्यम्'—वामुदेवः

३५२ मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्वायाः ४।१।१११। सहस्रयादि-  
पूर्वस्य मातृशब्दस्वा उदादेः। स्वादण् प्रत्ययश्च। द्वैमातुरः। पायमा-  
तुरः। सांमातुरः। भाद्रमातुरः।

३५३। स्त्रीभ्यो ङक् ४।१।१२०। स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ङक्  
क्यात्। चैततेयः।

इससे भण् प्रत्यय होता है।

कुचम्प इति—कुच वंशियो से, जैते—

नकुलः—नकुलस्यापत्यम्, कुलवश से होने से नकुल से भण् प्रत्यय  
होता है। इसी प्रकार साहदेवः।

३५२. मातुरिति—(अपत्य भय मे)-संख्या, सम् और भद्र पूर्वक मातृ  
शब्द को उत् मादेश होता है और भण् प्रत्यय।

टिप्पणी—मातृ शब्द के अन्तर्गत् स्वर अर्थात् ऋ को 'उ' (उत्) होता  
है। और वह 'र' सहित होकर 'उर्' होता है।

१. द्वैमातुरः—द्वयोर्मातोरपत्यं पुमान् (दो माताओं की पुत्रप सन्तान)-  
स अर्थ में द्विपूर्वक मातृ शब्द से भण् प्रत्यय तथा ऋ को उर् हो जाता है।  
[+मात्+उर्+स इस दशा में आदि इ को वृद्धि (ऐ) होकर द्वैमातुरः  
रूप बनता है। इसी प्रकार 'पञ्चा मातृणां अपत्यं पुमान्' पायमातुरः।  
'सामातुरपत्यं पुमान्' सांमातुरः। 'भाद्रमातुरपत्यं पुमान् (पञ्चमी माता की  
रूप सन्तान) भाद्रमातुरः।

३५३. स्त्रीभ्य इति—स्त्री प्रत्ययान्त शब्दों से अपत्य अर्थ में ङक्  
प्रत्यय होता है।

ङक् में क् का (इत्तमा) लोप हो जाता है तथा ङ को एय् हो  
जाता है।

१. मनोज्ञस्य १।१।३२।

२. उरण् रपरः १।१।३१।

३. गणेशः।

४. कातिकेयः।

५. धामनेयीनीयः ऋचवृद्धौ प्रत्ययादीनाम् ७।१।२० (३५६)

३५४ । कन्यायाः कनीन च ४।१।११६। चादण् । कनीनो  
व्यासः कर्णश्च ।

३५५ । राजस्वशुराद्यत् ४।१।१३७। ङी (वा) राज्ञो जातावे-  
वेति बाह्वयम् ।

३५६ । ये चाभावकर्मणोः ६।४।१६८। यादौ तद्धिते परेऽन्  
प्रकृत्या स्थान्तु भावकर्मणोः । राजन्यः ।

बैनतेयः—विनतायाः अपत्यं पुमान् (विनता की पुत्र्य सन्तान)—  
इस प्रथं में स्त्रीप्रत्ययान्त (विनता + टाप्) विनता शब्द से टक् प्रत्यय होता  
है। ट् को एय् तथा घादि इ को वृद्धि (ऐ) औ प्रत्यय या का लोप  
होकर बैनतेयः रूप होता है।

३५४. कन्याया इति—कन्या शब्द से अपत्य प्रथं में घण् प्रत्यय  
होता है और कन्या को कनीन आदेश हो जाता है।

कनीनः—कन्यायाः अपत्यं पुमान् (कन्या की पुत्र्य सन्तान)—इस  
प्रथं में कन्या शब्द से घण् प्रत्यय तथा कनीन आदेश होकर कन्या + घ →  
कनीन + घ (भादि वृद्धि) कनीनः रूप होता है।

३५५. राजेति—राजन् और स्वशुर शब्द से यत् प्रत्यय होता है,  
अपत्य प्रथं में।

राज्ञ इति (वा)।—राजन् शब्द से जाति में ङी (यत्) होता है, यह  
कहना चाहिये। अर्थात् यत् प्रत्यय से बने हुए शब्द की बाध्य 'जाति'  
होती है।

३५६. ये चेति —यकारादि तद्धित परे होने पर 'घन्' ज्यों का त्यों  
(प्रकृत्या) रहता है किन्तु भाव और कर्म में नहीं।

राजन्यः—राज्ञोऽपत्यं जातिः (राज्ञा की सन्तान क्षत्रिय जाति)—इस  
प्रथं में राजन् शब्द से यत् प्रत्यय होता है। राजन् + य → राजन्यः = क्षत्रिय।

जातावेवेति किम् ?

३५७ । अन् १।४।१६७। अन् प्रकृत्या स्यादसि परे । राजनः ।  
वशुर्यः ।

३५८ । अत्राद् घः ४।१।१३८। च्छित्रयः । जातावित्येव ।  
। त्रिप्रत्ययः ।

टिप्पणी—राजन् + य इस दशा में 'नस्तद्धिते' सूत्र से अन् (टि) का लोप  
प्राप्त हुआ "ये चाभासकर्मणोः" से निषेध हुआ और अन् ज्यों का त्यों (प्रकृत्या)  
रह गया ।

जाताविति—जाति में ही हो ऐसा क्यों कहा गया ? इसलिये कि जाति-  
प्रत्यय में यत् प्रत्यय नहीं होता । जैसे—राजनः ।

३५७. अन् इति—अण् प्रत्यय परे होने पर अन् ज्यों का त्यों रहता है ।

राजनः—राजोऽन्यस्य (राजा की सन्तान)—इस अर्थ में राजन् सञ्ज्ञ से  
अण् प्रत्यय होता है । राजन् + य इस दशा में 'नस्तद्धिते' से अन् (टि)  
लोप प्राप्त होता है, किन्तु, 'अन् ३५७' के अनुसार अन् का अट्ठि भाव  
होकर राजन् + य → राजनः रूप होता है ।

वशुर्यः—वशुरस्यापाय पुमान् (वशुर की पुरष सन्तान)—इस अर्थ में  
वशुर सञ्ज्ञ से यत् प्रत्यय होता है । वशुर + य → वश्य वशुर का लोप वशुर  
+ य → वशुर्यः ।

३५८. अत्राद् इति—अत्र सञ्ज्ञ से य प्रत्यय होता है । (जाति अर्थ  
ही) ।

अत्राद् इति—अत्राद्यापाय जातिः (अत्र की सन्तान, जाति)—इस अर्थ में अत्र  
सञ्ज्ञ से य प्रत्यय होकर य जो यत् हो जाता है → वश्य य का  
लोप → अत्र + य → अत्रियः ।

जाताविति—अत्र

होता है अत्रिय

के अनुसार अन्  
लोप अत्र + य





३५६ । रेवत्यादिभ्यष्ठक् ४।१।१४६।

३६० । ठस्येकः ७।३।१०। अङ्गात्परस्य ठस्येकादेशः स्याद्वैतिकः ।

३६१ । जनपदशब्दात् क्षत्रिययादञ् ४।१।१६८। जनपदक्षत्रियवाचकाञ्छब्दादञ् स्याद्वैतिके । पाञ्चालः । ७(वा) क्षत्रियसमानः ।

३५६. रेवत्यादिभ्यः इति—रेवती आदि शब्दों ॥ अपत्य धर्म में ठ प्रत्यय होता है ।

३६०. ठस्येति—अङ्ग संज्ञक से परे ट् को इक् भादेश होता है ।

वैतिकः—रेवत्याः अपत्यम् पुमान् (रेवती की पुरुष सन्तान)—इस धर्म में 'रेवती' शब्द से ठक् प्रत्यय होता है । ट् को इक् होकर रेवनी + इक् इस दशा में आदि ए को वृद्धि ऐ तथा अन्त्य ई का लोप होकर रेवत् + इक् → वैतिकः रूप बनता है ।

३६१. जनपदेति—जो जनपदवाचक शब्द क्षत्रिय का भी वाचक हो उससे अञ् प्रत्यय होता है, अपत्य धर्म में ।

पाञ्चालः—पाञ्चालानामपत्यं पुमान् (पाञ्चालों की पुरुष सन्तान)—इस धर्म में जनपदवाचक तथा क्षत्रियवाचक पाञ्चाल शब्द से अञ् प्रत्यय होता है । पाञ्चाल + अ इस दशा में आदिवृद्धि (अ को आ) तथा अन्त्य अ का लोप होकर पाञ्चालः रूप होता है ।

टिप्पणी—जनपद प्रदेश को कहते हैं । पाञ्चाल शब्द एक जनपद का नाम है और उसकी निवासी एक क्षत्रिय जाति का भी ।

क्षत्रिय इति (वा)—जो जनपदवाचक शब्द समान रूप से क्षत्रिय-वाचक भी है उनसे तस्य राजा (उसका राजा) इस धर्म में अपत्य धर्म के समान प्रत्यय होते ॥ ।

पाञ्चालः—पाञ्चालानां राजा (पाञ्चालों का राजा)—इस धर्म में भी..

१. किति च ७।२।११८।

२. यस्येति च ६।४।१४८।

शब्दाञ्जनपदात्तस्य राजन्यप्रत्ययवत् ॥ पञ्चालानां राजा पाञ्चालः  
 \* (वा) पूरोरण् क्तव्यः ॥ पौरवः । \* (वा) पाण्डोड्यंण् ॥  
 पाण्ड्यः ।

३६२ । कुरुनादिभ्यो ण्यः । ३१११७२। कौरव्यः । नैपथ्यः ।

अपत्य अर्थ के समान भञ्ज प्रत्यय होकर पाञ्चालः रूप बनता है ।

पूरोरिति (वा)—पूरु शब्द से राजा अर्थ में अण् प्रत्यय होता है यह कहना चाहिये ।

पौरवः—पूरुका राजा (पूरु नामक जनपद का राजा)—इस अर्थ में 'पूरु' शब्द से अण् प्रत्यय होता है । पूरु + अ → आदिबुद्धि ऊ को घी तथा अन्त के उ को गुण' (उ को घी) होकर पौरो + अ → पौरव् + अ → पौरवः रूप होता है ।

पाण्डोरिति (वा)—समान रूप से जनपद तथा सन्निधायक पाण्डु शब्द से राजा अर्थ में ङप्रत्यय होता है । 'ङप्रत्यय' में ह् घोर ण् का लोप हो जाता है । य लोप रहता है । हित् होने के कारण इस प्रत्यय के परे होने पर टि का लोप होता है ।

पाण्ड्यः—पाण्डुना राजा (पाण्डु जनपद का राजा)—इस अर्थ में पाण्डु शब्द से ङप्रत्यय होता है । पाण्डु + य → उ (टि) का लोप' होकर पाण्ड् + य → पाण्ड्यः रूप बनता है ।

३६२. कुरुनादिभ्य इति—समान रूप से जनपद तथा सन्निधायक कुरु शब्द घोर मकारादि वाशों से ण्य प्रत्यय होता है ।

कौरव्यः—कुरुणाम् अपत्यं पुमान् अथवा कुरुणां राजा (कुरुओं की पुरुष सन्तान या कुरुओं का राजा)—इस अर्थ में कुरु शब्द से ण्य प्रत्यय होता है । कुरु + य → आदिबुद्धि' उ को घी तथा अन्तिम उ को गुण' (घी) कोरो + य → कौरव् + य → कौरव्यः ।

१. भोगुंणः ६४११४६।

२. टि: ६४११४३।

३. सिद्धिप्रत्यासारे: ७२११७।

४. भोगुंणः ६४११४६।

३६३ । ते तद्राजाः । १४।१।१०४। अथादयस्तद्राजसंज्ञाः स्युः ।

३६४ । तत्राजस्य बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम् । १२।४।१२। बहुष्वे  
तद्राजस्य लुक् स्यात् तदर्गकृते बहुष्वे न तु स्त्रियाम् । इत्वाकवः  
पञ्चालाः । इत्यादि ।

३६५ । कम्बोजास्तुक् । १४।१।१०५। अस्मात्तद्राजस्य लुक्

नैवम्यः—नियमानाम् अर्थात् पुमान् धनवा नियमानां राजा (नियम का  
धराय या नियम का राजा)—नकारादि नियम वाक्य जगत् शान्ति का भा  
है । इससे का प्रत्यय होकर नियम + य → धादिबुद्धि नैवम्य + य धराय प्रकार का  
सोर नैवम्यः बन होता है ।

३६६. ते इति—अय् धादि प्रत्ययों की तद्राज संज्ञा होती है ।

३६७. तत्राजायेति—बहुवचन में तद्राज प्रत्यय का लोप हो जाता है यदि  
तद्राज प्रत्यय के धर्म का बहुत्व हो, किन्तु स्त्रीलङ्ग में नहीं ।

इत्वाकवः—इत्वाकृणो राजानः (इत्वाकृणों के राजा)—'एत्वाकवः'  
(इत्वाकृणो राजा) वाक्य के बहुवचन में 'इत्वाकवः' होता है—इत्वाकृ + अय्.  
(एत्वाकव) में बहुवचन की विवक्षा में अय् का लोप हो जाता है ।

पञ्चालाः—पञ्चालानां राजानः (पञ्चालों के राजा)—पाञ्चाल (पञ्चा-  
लानां राजा) वाक्य के बहुवचन में तद्राजप्रत्यय (अय्) का लुक् हो जाता है ।

कम्बोजादिनि—कम्बोज वाक्य के तद्राजप्रत्यय का लोप (लुक्) हो जाता  
है ।

दिक्पाली—एकवचन और द्विवचन में तद्राज प्रत्यय का लुक् करने के बिना  
बदलता है । यैवा कि अस्मिन् उदाहरणों से स्पष्ट होता है ।

३६८. कम्बोज—कम्बोजानां राजा (कम्बोजों का राजा)—इस धर्म में  
'अनन्तरस्यात् ३६६' से अय् प्रत्यय होगा है । इस मूल से 'अय्' का लुक् हो  
जाता है । अय् प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी उसके धर्म (राजा) का लोप  
नहीं होता । इसी प्रकार कम्बोजी इत्यादि ।

स्यात् । कम्बोजः । कम्बोजौ । ० (वा) कम्बोजादिभ्य इति घञ्प्रथमम् ।  
 चोलः । शकः । केरलः । यवनः । इत्यपत्याधिकारः ॥२॥

अथ रक्ताद्यर्षकाः ॥३॥

३६६ । तेन रक्तं रागात् ॥१॥२॥ अणु स्यात् । रज्यतेऽने-  
 नेति रागः । कषायेण रक्तं यत्र कषायम् ।

कम्बोजादिभ्य इति (वा — मूत्र मे कम्बोज के स्थान पर) कम्बोजादि के  
 उदाहरणम् वा लुक् होना है यह कहना चाहिये ।

चोलः—चोलानां राजा (चोलों का राजा)—इस अर्थ में चोल राज से  
 राजा अर्थ में मूत्रम् (शे शहर वाला) होने से कारण मलु प्रत्यय हुआ । उसका  
 ऊपर के धातुक से लोप हो गया । इसी प्रकार यवनानां राजा शकः ।

केरलः—'केरलानां राजा'—इस अर्थ में अणु प्रत्यय हुआ । उसका  
 उपर्युक्त धातुक से लोप हो गया । इसी प्रकार यवनानां राजा यवनः  
 इत्यपत्याधिकारः ॥२॥

अथ रक्ताद्यर्षकाः—तेन रक्तम् आदि अर्थ के प्रत्यय यहाँ से प्रारम्भ होते  
 हैं ।

३६६, तेनेति—रज्यतेवशात् राज से (रागात्) 'उमसे रंगा हुआ' इस  
 अर्थ में मलु प्रत्यय होता है ।

रज्यते इति—इससे रंगा जाना है, अतएव रंग को रंग कहा गया है ।  
 अर्थात् मूत्र मे रंग का अर्थ है, रज्ये की वस्तु, नीला बीजा आदि रंग ।

कषायम्—कषायेण रक्तं कषयम् (वेदया रव से रंगा हुआ मूत्र)—इस  
 अर्थ में कषाय राज से उपर्युक्त मूत्र से अणु प्रत्यय होता है । कषाय + घ इत्त  
 रपा में धातुवृद्धि (घ को घा) तथा अन्त्य घ पर लोप होकर कषाय + घ  
 —कषायम् ।

१. इत्यपत्याधिकारः ॥२॥१॥३॥

२. अनपत्याधिकारः ॥३॥१॥३॥

३. तडितेभ्यश्चायादेः ॥३॥१॥३॥

४. वर्येति च ॥३॥१॥३॥

३६७ । नक्षत्रेण युक्तः कालः । १४।२।३। अण् स्यात्  
 • (वा) तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम् ॥ पुष्येण  
 पौषमहः ।

३६८ । लुबविशेषे । १४।२।४। पूर्वेण विहितस्य लुप् स्यात् यदि  
 दृष्टात्मकस्य कालस्याद्यान्तरविशेषश्चेन्न गम्यते । अथ पुष्यः ।

३६९ । दृष्टं साम । १४।२।७। तेनेत्येव । वसिष्ठेन दृष्टं वासि  
 साम ।

३६७. नक्षत्रेणेति— नक्षत्र-विशेषवाचक शब्द से 'नक्षत्र से सम्बद्ध काल' इस अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

तिष्येति (वा)—नक्षत्र-सम्बन्धी अण् प्रत्यय परे होने पर (नक्षत्र + अण्) तिष्य और पुष्य के य का लोप हो जाता है, यह कहना चाहिये ।

पौषम् (अहः)—पुष्येण युक्तम् (पुष्यनक्षत्र सम्बन्धी दिन अर्थात् पुष्यनक्षत्र में स्थित चन्द्रमा से युक्त)—इस विग्रह में उपर्युक्त सूत्र से पुष्य शब्द से अण् प्रत्यय होता है । पुष्य + अ इस दशा में आदि वृद्धि (उ को ओ) तथा अत्य मकार का लोप होकर 'पौष्य + अ' इस अवस्था में ऊपर के वार्तिक से य का लोप होकर 'पौष' + पौषम् रूप बनता है ।

३६८. लुबिति—पूर्व सूत्र से कहे हुए (अण् प्रत्यय) का लोप हो जाता है यदि साथ दण्ड रूप काल के अद्यान्तर भेद (रात या दिन) का ज्ञान न हो ।

अथ पुष्यः—अथ पुष्येण युक्तः कालः (पुष्य पुष्यनक्षत्र से सम्बद्ध चन्द्रमा युक्त काल है)—यहाँ पुष्य शब्द से पूर्व सूत्र से अण् हुआ । इस सूत्र से अण् का लोप हो जाता है क्योंकि यहाँ रात या दिन आदि विशेष काल का पता नहीं चलता ।

३६९. दृष्टमिति—'उसके द्वारा (तेन) देखा गया (दृष्ट) साम' इस अर्थ में दृष्टीयान्त समर्थ ॥ अण् प्रत्यय होता है ।

३७० : वामदेवाङ्ङ्यङ्ङ्यो ४।२।६। वामदेवेन दृष्टं साम  
वामदेव्यम् ।

३७१ । परिवृतो रथः ४।२।१०। अस्मिन्नर्थेऽङ् प्रत्ययो भवति ।  
यत्रेण परिवृतो वास्रो रथः ।

वातिष्ठं साम—वातिष्ठेन दृष्टं साम (वातिष्ठ द्वारा दृष्टं साम)—इस  
विग्रह में वातिष्ठ शब्द से ङङ् प्रत्यय होता है । वातिष्ठ + ङ इस दशा में घादि  
बुद्धि भ को घा तथा घनव भ का लोप होकर वातिष्ठ् + ङ → वातिष्ठ →  
वातिष्ठम् ।

३७०. वामदेवादिति—‘उससे देखा गया साम’ अर्थ में वामदेव उभय से  
उभयत् तथा उभय प्रत्यय होते हैं ।

उभयत् और उभय दोनों में ‘य’ टोप रहता है । तकार (ठित्) स्वर के लिये  
लगाया गया है ।

वामदेव्यम्—वामदेवेन दृष्टं साम (वामदेव द्वारा देखा गया साम)—इस  
विग्रह में वामदेव शब्द से उभयत् और उभय प्रत्यय होकर वामदेव + म इस दशा  
में म (टि) का लोप हो जाता है तथा वामदेव्य रूप बनता है ।

टिप्पणी—साम मन्त्र विशेष है, जिन ऋषियों ने मन्त्र दर्शन किया अर्थात्  
जिन्हें मन्त्रों का ज्ञान हुआ, ने मन्त्र उसके द्वारा देखे गये (दृष्ट) कहलाते हैं ।

३७१. परिवृत इति—‘उससे डका हुआ रथ’ इस अर्थ में तृतीयान्व से अण्  
प्रत्यय होता है ।

वास्रो रथः—यत्रेण परिवृतः रथः (वस्त्र से डका हुआ रथ)—इस

१. तित्स्वरितम् १।१।१८२। इससे उभयत् का ‘भ’ स्वरित होता है, किन्तु  
उभय का म आद्युदात्तश्च १।१।३। से उदात्त होता है ।

२. टे: ६।४।१४३।

३७२ तत्रोद्घृतममत्रेभ्यः ४।२।१४। शरावे उद्घृतः शारा  
ओदनः ।

३७३ । संस्कृतं भदाः ४।२।१५। सप्तम्यन्ताद्भा स्यात्संस्कृतः  
यत्संस्कृतं भदाश्चेत्ते स्युः । भ्राष्ट्रेषु संस्कृता भ्राष्ट्राः यदाः ।

३७४ । साऽस्य देवता ४।२।२४। इन्द्रो देवता आयेति ऐन्द्र

विग्रह में वस्त्र शब्द से भण् प्रत्यय होता है । वस्त्र + भ → वास्त्र् + भ → वास्त्र  
रथः ।

३७२. तत्रेति—धमत्र का धर्त्त है पात्र । 'उसमें उठाकर रखता हुआ' इस  
धर्त्त में पात्रवाचक शब्द से भण् प्रत्यय होता है ।

शाराव ओदनः—शारावे उद्घृतः (शराई में उठाया हुआ)—इस धर्त्त में  
शाराव (शराई) शब्द से उपसृक्त सूत्र से भण् प्रत्यय होता है । शाराव + भ →  
शारावः ।

३७३. संस्कृतमिति—'उसमें संस्कृत' इस धर्त्त में सप्तम्यन्त से भण् प्रत्यय  
होता है, यदि वह संस्कृत पदार्थ भक्ष्य (खाने की वस्तु) हो ।

भ्राष्ट्राः यदाः—भ्राष्ट्रेषु संस्कृताः । (भाङ्ग में संस्कार किये हुए या मुने  
हुए)—इस धर्त्त में भ्राष्ट्र शब्द से उपसृक्त सूत्र से भण् प्रत्यय होता है । भ्राष्ट्र  
+ भ इस दशा में भ्रादि वृद्धि भा को या आत्य भ का लोप होकर 'भ्राष्ट्र'  
शब्द बनता है ।

३७४. साऽयेति—'वह इसका देवता है ।' इस धर्त्त में प्रथमान्त देवतावाची  
शब्द से भण् प्रत्यय होता है ।

१. यद्यपि भ्राष्ट्र के भादि में भा है, यहाँ वृद्धि की आवश्यकता नहीं तथापि  
'पर्जन्यपत्न्यसप्तप्रवृत्तिः' अर्थात् मेघ के समान सप्तप्रवृत्त होते हैं, इस न्याय  
से वृद्धि होती है । भाव यह है कि जैसे मेघ कृषि-योग्य भूमि पर बरसता है,  
वही आवश्यकता न होते हुए भी तरङ्गित सागर पर, इसी प्रकार नियम  
) भी लक्ष्यानुसार आवश्यकता न होने पर भी लगते हैं ।

हविः । पाशुपतम् बार्हस्पत्यम् ।

३७५ । शुक्राद् घन् ४।२।२६। शुक्रियम् ।

३७६ । सोमाट्ठ्यण् ४।२।३०। सौम्यम् ।

३७७ । वाय्वृतुपित्रुपसो यत् ४।२।३१।

ऐग्रं हविः—ऐग्रो देवताश्रय (ऐग्र है देवता इसका वह हविः)—इस अर्थ में ऐग्र शब्द में उपयुक्त सूत्रानुसार ण् प्रत्यय होता है । ऐग्र + घ इस वशा में आदिबुद्धि ह को ऐ तथा घन्त्य 'घ' का लोप होकर ऐग्रं शब्द बनता है । हविः का विशेषण होने से नपुं० प्रथमैकवचन में 'ऐग्रम्' ।

हिरण्यो—देवता अर्थ में सभी प्रयोगों को हविस (नपुं०) का विशेषण करके नपुं० में दिया गया है ।

पाशुपतम्—पशुपति, देवताश्रय (पशुपति है देवता इसका)—इस अर्थ में (अवपस्थादिभ्यश्च ४।१।८४) ण् प्रत्यय, आदि बुद्धि, घन्त्य (घ) का लोप होकर रूप बनता है । इसी प्रकार 'बृहस्पतिः देवताश्रय' बार्हस्पत्यम् । (दित्यदित्यादित्यपरायुत्तरपदान्यः ४।१।१८५)

३७५. शुक्रादिति—शुक्र शब्द से वह इसका देवता है' इस अर्थ में घन् प्रत्यय होता है ।

शुक्रियम्—शुक्रो देवताश्रय (शुक्र है देवता इसका)—इस अर्थ में उपयुक्त सूत्र से शुक्र से घन् प्रत्यय होता है । शुक्र + घ यहाँ घ् को इप्' होकर शुक्र + इप् + घ (क के अ का लोप) → शुक्रिय → शुक्रियम् ।

३७६. सोमादिति—सोम शब्द से 'साश्रय देवता' अर्थ में ट्यण् प्रत्यय होता है । ट्यण् में य के च रहता है ।

सौम्यम्—सोमो देवताश्रय (सोम है देवता इसका)—इस अर्थ में सोम शब्द से ट्यण् प्रत्यय होता है । सोम + घ → आदि बुद्धि, घन्त्य लोप—सौम्यम् ।

३७७. वारिविति—वायु, ऋतु, पितृ, उपर्यु शब्दों से, 'साश्रय देवता', अर्थ में, यत् प्रत्यय होता है ।



अतव्यम् ।

३७८। रीङ् अतः ७।४।२७। अकृद्यकारे असावधातुके यकारे  
स्वौ च परे अदन्ताङ्गस्य रीडादेशः स्यात् । 'यस्येति च' । विभ्यम्  
उपस्यम् ।

३७८ (क) । पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ४।२।१६।  
एते निपात्यन्ते । पितृधर्ता पितृव्यः । मातृधर्ता मातुलः ।

वायव्यम्—वायुदेवताऽय (वायु है देवता इसका)—इस धर्म में 'वायु'  
शब्द से यत् प्रत्यय होता है । 'वायु+य' यहाँ उ को गुण' (घो) तथा घो  
को ङ् घादेश' होकर वायव्+य→वायव्यम् रूप होता है ।

१) अतव्यम्—अतुदेवताऽय (अतु है देवता इसका)—इस धर्म में अण्  
प्रत्यय होकर वायव्य के समान रूप होता है ।

३७८. रीङ् इति—इद् तथा सार्वधातुक से भिन्न यकार और विभ्य प्रत्यय  
परे रहने पर अदन्त मङ्ग को रीङ् घादेश होता है । (अ को रीङ्) ।

विभ्यम्—पितरो देवताऽय (पितर है देवता जिसके बहु हविः)—इस  
धर्म में पितृ शब्द से 'वायव्यु० ३७७' मूल से यन् प्रत्यय होता है । पितृ+य  
इस रूपा में "रीङ् अतः" से अ को री होकर पितृ री+य तथा 'यस्येति च'  
से ई का लोप होकर पितृ+र+य→पितृव्य→पितृव्यम् रूप बनता है ।

उपस्यम्—उपाः देवताऽय हविषः (उपा है देवता इस हवि की)—इस  
धर्म में यन् प्रत्यय होकर उपव्+य→उपस्य→उपस्यम् रूप होता है ।

पितृधर्ता—पितृव्य, मातुल, मातामह पितामह—इन चारों का निपात्यन  
विना जाता है ।

टिप्पणी—'निपात्यन' वालिनीय व्याकरण का पारिभाषिक शब्द है ।  
वहाँ चारों के निष्ठ रूप मूल में पड़ दिये जाते हैं उनमें धातुवर्णागुणाद  
प्रत्यय तथा घादेश आदि जाने जाते हैं वहाँ 'निपात्यन' (निपात्यते) कहा  
जाता है ।

मातुः पिता मातामहः । पितुः पिता पितामहः ।

३७६ । तस्य समूहः ४।२।३७। काकानां समूहः काकम् ।

३८० । मित्रादिभ्योऽण् ४।२।३८०। मित्राणां समूहो मैत्रम् ।

गर्भिणीनां समूहो गर्भिणम् । इह ०।३।) भत्यादे तद्धिते इति पुंचदभावे कृते—

पितृभ्यः—पितृभ्राता (पिता का भाई, चाचा ताऊ)—इस अर्थ में पितृ शब्द से अण् प्रत्यय का निपातन किया गया है । पितृ+अण्→पितृभ्यः ।

मातुल—मातृभ्राता (माता का भाई, मामा)—इस अर्थ में मातृ शब्द से निपातन द्वारा कुलच् प्रत्यय होता है । कुलच् में से उल खेप रहता है—  
मातृ+उल इस वशा में ऋ (टि) का लोप→मातृ+उल→मातुलः ।

मातामहः—मातुः पिता (माता का पिता, नाना)—इस अर्थ में मातृ शब्द से डामहच् प्रत्यय का निपातन किया गया है । मातृ+डामह→ऋ (टि) लोप→मातृ+डामह→मातामहः । इसी प्रकार पितुः पिता (पिता का पिता, चाचा) पितृ+डामह→पितामहः ।

३७६, तस्येति—वृत्त्यन्त पद से (तत्तका) समूह अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

काकम्—काकानां समूहः (कौशों का समूह)—इस अर्थ में काक शब्द से अण् प्रत्यय होता है काक+अण्→कादि वृद्धि या को या तथा धन्य ध का नि काक्प्र→काक→काकम् ।

३८०, मित्रादिभ्य इति—मित्रा आदि शब्दों से, समूह अर्थ में, अण् प्रत्यय होता है ।

दिप्पली—मित्रा आदि शब्दों से, समूह अर्थ में, धवित्तद्विस्तरेणोऽण् २।४७ आदि सूत्रों से ठक् आदि प्रत्यय प्राप्त हुए, उन्हें बाधने के विषे

३८१ । इनप्यनपत्ये ६।४।१६४। अनपत्यार्थेऽणि परे इन्द्रप्रकृत  
स्यात् । तेन 'नस्तद्धिते' इति टिलोपो न । युवतीनां समूहो यौवनम्

प्रकृत सूत्र द्वारा 'अण्' का विधान किया गया है ।

भैक्षम्—भिक्षाणां समूहः (भिक्षा का समूह) —इस अर्थ में भिक्षा शब्द उपयुक्त सूत्र द्वारा अण् प्रत्यय होता है । भिक्षा + अ → भादि वृद्धि इ' का तथा अन्त्य 'भा' का लोप होकर "भैक्षम्" रूप बनता है ।

गामिणम्—गमिणीनां समूहः (गमिणियों का समूह) —इस अर्थ में गमिणी शब्द से (भिक्षादिगण में होने के कारण) अण् प्रत्यय होता है । गमिणी + अ इस दशा में गमिणी को पुंस्त्व के समान रूप (पुंस्त्वभाव) होकर तथा भादि वृद्धि होकर गामिन् + अ → गामिणम् रूप होता है ।

इह..... टिलोपो नेति—यहाँ गमिणी + अण् इस अवस्था में 'मत्वादे सद्धिते' (वा) (इ भिन्न सद्धित परे होने पर भसन्न को पुंस्त्वभाव होता है) इस वार्तिक से पुंस्त्वभाव होकर 'गामिन् + अ' इस दशा में नस्तद्धिते से 'टि' का लोप प्राप्त हुआ किन्तु—

३८१. इन् इति—अपत्य अर्थ से भिन्न अण् परे होने पर 'इन्' प्रकृतिभाव से रहता है ।

इस कारण नस्तद्धिते से टि का लाप नहीं होता । (क्योंकि यहाँ अपत्यार्थ से भिन्न अर्थात् समूह अर्थ में अण है) ।

• यौवनम्—युवतीनां समूहः (युवतियों का समूह) इस अर्थ में युवति शब्द से (भिक्षादिगोऽण्) अण् प्रत्यय होने पर युवति + अण् पुंस्त्वभाव युवन् + अ → भादि वृद्धि उ को भी तथा अन् को प्रकृतिभाव → यौवन → यौवनम् रूप होता है ।

टिप्पणी—युवति = युवन् + ति (यूनस्तिः ४।१।७७) अतः पुंस्त्वभाव से युवति को युवन् हो जाता है । भाषा में 'यौवनम्' शब्द का भी प्रयोग मिलता है वह घट्ट प्रत्ययान्त युवत् शब्द से छीप् (स्त्री प्रत्यय) होकर बने हुए युवती शब्द से (अनुदात्तादेर्य् ४।२।४४) अण् प्रत्यय होकर पुंस्त्वभाव

३८२ । ग्रामजनबन्धुम्यस्तत् ४।१।४१। तलन्त नित्रियाम् ।  
 ग्रामता । जनता । बन्धुता । ॐ (वा) गजसहायाम्यां चेति वक्तव्यम् ।  
 गजता । सहायता । ॐ (वा) अह्नः स्व. कती ॥ अहीनः ।  
 होकर बनता है (मि० को० सूत्र २४१) ।

३८२. वामेति—ग्राम, जन और बन्धु शब्द से समूह धर्म में तत् प्रत्यय होता है ।

तलन्तमिति (मि०) तत् प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में होता है । (इससे स्त्रीप्रत्यय टाप् जोड़ा जाता है) ।

ग्रामता—ग्रामालो समूहः (ग्रामों का समूह)—इस धर्म में ग्राम शब्द से तत् प्रत्यय होता है । ग्राम+त स्त्रीलिङ्ग होने के कारण टाप् प्रत्यय होकर ग्राम+त+घा→ग्रामता शब्द बनता है । इसी प्रकार जनानां समूहः (जनों का समुदाय) जनता, बन्धूनां समूहः (बन्धुओं का समूह) बन्धुता ।

यथेति (वा)—यज और सहाय शब्दों से भी समूह धर्म में तत् प्रत्यय करना चाहिए ।

गजानां समूहः (हाथियों का समूह)—यजता, सहायानां समूहः (सहायकों का समूह) सहायता ।

अह्न इति—अहन् शब्द से समूह धर्म में अ प्रत्यय होता है यदि अन् (यञ) बाध्य हो ।

अहीनः—अह्नां समूहेन ताव्यः कतुः (हिनों के समूह में किया जाने वाला यज्ञ—इस धर्म में अहन् शब्द से अ प्रत्यय होता है । अहन्+त इम रगा में स को ईन' प्रादेश होकर अहन्+ईन→अन् (टि) का लोप' अह्+ईन→अहीन→अहीनः ।

१. ग्रामनेयीनीमियः पञ्चसदृषा प्रत्यनादीनाम् ७।१।२। (२४१)

२. तलन्तमे १।४।१४४ (२४०)

३८३ । अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् ४।२।४७।

३८४ । इसुमुक्तान्ताकः ७।३।३१। इस् वस् उक्तान्तात्परस्य  
ठस्य कः स्यान् । सावतुकम् । हास्तिकम् । धेनुकम् ।

• ३८५ । तदधीते तद्वेद ४।२।३२।

३८३. अचित्तेति—अचेनवाची से तथा हस्ति घोर धेनु एव से समूह अर्थ में टक् प्रत्यय होता है ।

३८४. हस्ति—जिन पक्षों के अन्त में इन्, उन्, उक् या तकार हो उनसे परे ठ को क हो जाता है ।

टिप्पणी—यहाँ उक् प्रत्यहार है. जिससे उ, ऊ, नु का ग्रहण होता है ।

सावतुकम्+सक्तानां समूहः (सक्तार्थों का समूह)—इस अर्थ में अचित्त-वाची सक्त एव से समूह अर्थ में टक् प्रत्यय होता है । सक्त एव के अन्त में उक् (उ) है अतः ठ को क हो जाता है । सक्त+क→सादि वृद्धि अ को घा→सावतुक→सावतुकम् ।

हास्तिकम्—हस्तिना समूहः (हस्तिवर्गों का समूह)—इस अर्थ में हस्तिन् एव से टक् प्रत्यय होता है । हस्तिन्+उक् यहाँ टस्येकः ७।३।३० से ठ को 'ट' हो जाता है । हस्तिन्+इक→इन् (टि) मोर तथा सादि वृद्धि अ को घा→हास्त→इक→हास्तिक→हास्तिकम् ।

टिप्पणी—हस्तिनीना समूहः इन अर्थ में भी अस्वादि तद्धिते से पुं बहुवच होकर 'हास्तिकम्' बन जाता है ।

धेनुकम्—धेनूना समूहः (धेनूवर्गों का समूह)—इस विषय में धेनु एव से उरुत्प्लु मन् से टक् प्रत्यय होता है । धेनु+उक्→उक् अन्त में होने से ठ को क धेनु+क→सादि वृद्धि अ को ऐ-धेनु+क→धेनुकम् ।

३८५. तदधीते हस्ति—इतिगान्ते से 'उने पढ़ता है' या 'उने जानता

३८६ । न ख्याभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्  
७।१।१। पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्य न वृद्धिः किं तु ताभ्यां  
पूर्वौ क्रमाद्वैष्वावागमौ स्त । व्याकरणमधीते वेद वा वैयाकरणः ।

३८७ । क्रमादिभ्यो बुन् ४।२।६१। क्रमकः । पदकः । शिक्षकः ।  
मीमांसकः । इति रक्ताक्षर्यकाः ॥३॥

हे' इस अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।

३८६. न ख्याभ्यामिति—पदान्त के यकार तथा वकार हैं। चाये काले (पर)  
स्वर को वृद्धि नहीं होती, किन्तु उनसे पूर्व क्रमशः ऐव का आगम होता है  
अर्थात् ए से पूर्व ऐ तथा ए से पूर्व औ का आगम होता है ।

वैयाकरणः—व्याकरणमधीते वेद वा (व्याकरण को पढ़ता है वा जानता  
है)—इस विग्रह में व्याकरण शब्द से अण् प्रत्यय होता है । व्याकरण + अण्  
यहाँ आदि वृद्धि प्राप्त होती है। उसे आभकर 'न ख्याभ्याम्' इत्यादि सूत्रानुसार  
ए से पूर्व ऐ का आगम हो जाता है । ए + ऐ + या करण + अ अन्त्य अकार  
का लोप—वैयाकरण → वैयाकरणः ।

टिप्पणी—व्याकरण = वि + आकरण, यहाँ वि उपसर्ग (पद) है, इ को  
ए हुआ है, अतः ए पदान्त माना जाता है तथा 'न ख्याभ्याम्' से वृद्धिनिर्देश और  
ऐए का आगम होता है ।

३८७. क्रमादिभ्य इति—जब आदि शब्दों से 'उसे पढ़ता है' वा 'जानता है'  
अर्थ में बुन् प्रत्यय होता है ।

क्रमकः—क्रममधीते वेद वा (क्रम पाठ को पढ़ता है वा जानता है)—इस  
विग्रह में क्रम शब्द से उपयुक्त सूत्रानुसार बुन् प्रत्यय होता है । क्रम + बुन् →  
बु की धक' होकर क्रम + धक → अन्त्य अकार का लोप क्रम + धक क्रमक →  
क्रमकः । इसी प्रकार पदं, पदपाठमधीते वेद वा (पद पाठ को पढ़ता है वा  
जानता है) पदकः ।

शिक्षकः—शिक्षामधीते वेद वा (शिक्षा को पढ़ता है वा जानता है)—इस

अथ चातुरधिकः ॥४॥

३८८ । तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ४.२।१७। उदुम्बर  
मन्त्यमिम्बेरो योदुम्बरो देशः ।

३८९ । तेन निर्वृताम् ४।२।१८। कुशाब्देन निर्वृता नगरी  
कौशाम्बी ।

अर्थ में मित्रा + च्च् - मित्रा + घञ् अन्त्य साधार का भोग' चिन् + घञ् -  
चिन्तकः । इसी प्रकार मीमांसायाचीति बेंद का मीमांसकः ।

इति रत्नाचर्यकाः ॥१॥

अथ चातुरधिकाः—अथ चातुरधिक प्रत्यय प्रारम्भ किये आते हैं । इस  
प्रकरण में चार अर्थों में प्रत्यय कहे गये हैं इसी से इसका नाम चातुरधिक है ।  
ये चार अर्थ हैं—१. वह वस्तु इसमें है, २. उसके द्वारा बनाया गया ३. उसका  
निवास, ४. उससे दूर न होने वाला । प्रत्ययान्त शब्द देश-विशेष अर्थात् किसी  
स्थान का नाम होता है ।

३८८. तदस्मिन्निति—'वह वस्तु इसमें है' इस अर्थ में प्रथमान्त शब्द से  
यथोक्त (कहे हुए तथा आगे कहे जाने वाले) प्रत्यय होने हैं, यदि प्रत्ययान्त शब्द  
देश का नाम हो ।

योदुम्बरो देशः—उदुम्बरः मन्त्यमिन् देशे (गुल्मर हैं इस देश में)—इस  
विग्रह में उदुम्बर शब्द से अणु प्रत्यय होता है । उदुम्बर + अणु आदि बन्दि व  
को भी तथा अन्त्य प्रकार का लोभ-योदुम्बर + घञ् → योदुम्बरः । देशविशेष का  
नाम है ।

३८९. तेनेति—'उसने बनाया (बनाया)' इस अर्थ में तृतीयान्त शब्द से  
यथोक्त प्रत्यय होते हैं ।

कौशाम्बी—कुशाब्देन निर्वृता नगरी (कुशाब्द के द्वारा बसाई हुई

१. यस्येति च ६।४।१४८।

- ३८० । तस्य निवासः ४।२।६६।  
 शिबीनां निवासो देशः शीबः ।  
 ३८१ । अदूरमवदच ४।२।७०।  
 विदिशाया अदूरभवं नगरं वेदिशम् ।  
 ३८२ । जनपदे सुप् ४।२।८१।  
 जनपदे वाक्ये वाचस्पतिव्यास सुप् ग्यान् ।  
 ३८३ । सुवि युक्तमद्वयवचने १।२।५१।  
 सुवि सति बहुविधविलक्षणवचने न्नः । पञ्चाक्षरानां निवासो जन-

३८०) — इस विषय में पुष्पाब्ध वाक्य से अल् प्रत्यय होता है । पुष्पाब्ध + अ → अल् वृद्धि प्रत्यय अकार का लोट (कोष्पाब्ध) तथा स्थीत्य शेषण हीत् (ई) होकर वीष्पाब्धी ।

३८० वाक्येति — 'जनका निवास' इस अर्थ में अल्पलट् अकार से अलोप्य अल् प्रत्यय होते हैं ।

शीबः — शिबीनां निवासो देशः (शिबि लोटों का निवास देश) — इस विषय में अल् प्रत्यय होता है । शिबि + अल् → अल् वृद्धि, अल्प अकार का लोट होकर शीब् + अ → शीबः ।

३८१. अदूरम् — 'जनका अदूरभवं अर्थात् दूर न होने वाला' इस अर्थ में अल्प लट् अकार से अलोप्य अल् प्रत्यय होते हैं ।

वेदिशम् — विदिशायाः अदूरभवं नगरम् (विदिशा नामक नगरी में दूर न वाला नगर) — इस अर्थ में विदिशा लट् से अल् प्रत्यय होता है । विदिशा ल् → अल् वृद्धि इ वी से तथा अल्प अकार का लोट होकर वेदिष् + अ वृद्धिम् ।

३८२. जनपदे इति — जनपद कपी देवविशेष वाक्य होने पर वाचस्पतिव्यास हो जाता है ।

३८३. सुवीति — अल्प का सुप् (लोट) हो जाने पर अर्द्ध (दुप्) के निष्ठा (वृद्धि) तथा वचन होते हैं ।



पञ्चः पञ्चालाः । कुरवः । अङ्गाः । वङ्गाः । कलिङ्गाः ।

३६४ । वरणादिभ्यश्च ४।२।८२।

अजनपदार्थ आरम्भः । वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः ।

टिप्पणी—सूत्र में युक्त शब्द का अर्थ है—प्रकृति (जिससे प्रत्यय आता है) और 'व्यक्ति' का अर्थ है—लिङ्ग (पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग आदि) ।

पञ्चालाः—पञ्चालानां निवासो जनपदः (पञ्चाल लोगों का निजनपद)—इस अर्थ में पञ्चाल शब्द से 'तस्य निवासः' अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । जनका निवास एक जनपद है अतः 'जनपदे लुप्' से लुप् का प्रत्यय हो जाता है । अब 'पञ्चाल' शब्द एक जनपद का नाम है इसलिए उससे बहुवचन प्राप्त होता है । किन्तु 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' के अनुसार प्रकृति लत्रियवाचक पञ्चाल शब्द (जो पुंलिङ्ग तथा बहुवचन है) के लिये पुंलिङ्ग तथा बहुवचन में होता है ।

इसी प्रकार—कुरुणां निवासो जनपदः (कुरु लोगों का निवास जनपद) कुरवः । अङ्गानां निवासो जनपदः अङ्गाः । वङ्गानां निवासो जनपदः वङ्गाः । कलिङ्गानां निवासो जनपदः कलिङ्गाः ।

टिप्पणी—पञ्चाल आदि जनपदों के नाम सदा पुंलिङ्ग और बहुवचन में ही प्रयुक्त होते हैं ।

३६४. वरणादिभ्य इति—वरणा आदि शब्दों से परे चातुरार्षिक प्रत्यय का सोप होता है ।

अजमेति—जनपद से भिन्न अर्थ में सोप करने के लिए यह सूत्र बनाया गया है (जनपद में तो पहले सूत्र से ही सोप हो जाता है) ।

वरणाः—वरणानामदूरभवं नगरम् (वरणा से दूर न होने वाला नगर)—इय विग्रह में 'अदूरभवं' अर्थ में अण् प्रत्यय होता है वरणा+अण् प्रत्यय उपर्युक्त सूत्र से अण् का सोप हो जाता है तथा प्रकृति के समान लिङ्ग होकर वरणाः रूप बनता है ।

३६५ । कुमुदनद्वेतसेभ्यो ङ्मतुप् ४।२।८७।

३६६ । भयः ८।२।१०।

कथन्तान्मतोर्मस्य चः । कुमुदान् । नडवान् ।

३६७ । मादुपधायाम्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ८।२।८।

मवर्णवर्णान्तामवर्णवर्णोपधाञ्च यवादिबर्जितापरस्य मतो-  
रस्य चः ।

३६५. कुमुदेति—कुमुद, नड, वेतस आदि से ङ्मतुप् प्रत्यय होता है, चतुरधिक ।

टिप्पणी—ङ्मतुप् से मत् सोप रहता है, हित होने से इसके परे होने पर टि का सोप हो जाता है ।

३६६. भयः—भयस्त से परे 'यत्' के य को व हो जाता है ।

टिप्पणी—भय प्रत्याहार है, जिसके अन्तर्गत चर्चों के प्रथम-द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वल्लं आते हैं । 'भय' का कोई वर्ण जिसके अन्त में होता है वह चन्द भयस्त कहलाता है; जैसे कुमुद् ।

कुमुदान्—कुमुदाः सन्ति अस्मिन् देशे (कुमुद होते हैं इस देश में)—इस अर्थ में कुमुद चन्द से ङ्मतुप् प्रत्यय होता है । कुमुद+ङ्मतुप् अ (टि) का सोप होकर कुमुद् चन्द भयस्त (द्वारान्त) हो जाता है । तब "भय" से मत् के म् को व होकर 'कुमुदवत्' चन्द बनाता है । इससे प्रथमा, एकवचन में कुमुदवान् ।

नडवान्—नडाः सन्ति अस्मिन् देशे [मत् (नरकुल या नरसल) होते हैं इस देश में]—इस अर्थ में नड+ङ्मतुप्→नड्+यत्→नडवत्→नडवान् (पूर्ववत्) ।

३६७. मादुपधायाम्—जिस चन्द के अन्त में मकार या यकार हो तथा जिसमें अन्तिमवर्ण से पूर्व मकार या यकार हो (मवर्णवर्णोपधात्) उससे परे

१. टि: ६।४।१४३

३. असौम्यान् पूर्व उरथा १।२।९३।

२. मूख के 'मात्' चन्द पर 'मवर्ण' तथा 'अवर्ण' यह अर्थ है । 'मकाररच यकाररच द्वयोः समाहारः सं उरथान् मात्' ।

वेतस्वान् ।

६३८ । नडशादाड्ढ्वलच् ४।२।८८।

नड्वलः । शादलः ।

३८९ । शिखाया वलच् ४।२।८९।

शिखावलः ।

इति चातुरायिकाः ॥४॥

मत्तु के म् की व् हो जाता है ।

वेतस्वान्—वेतसाः सन्ति अस्मिन् देशे (वेत होने हैं इस देश में)—  
विग्रह में वेतस शब्द से इमनुप् प्रत्यय होता है । वेतस+इमनुप्→म  
लोप वेतन्+मत्तु इम अस्मिन् देश में अस्मिन् बल से पूर्व अकार होने के कारण  
(अन्तर्लोप) मत्तु के म् की व् हो जाता है; वेतस्वत्→वेतस्वान् ।

६३८, नडेति—नड शीर शाद शब्द से चातुरायिक इमन् प्रत्यय  
होता है ।

इमन् में वम लोप रहता है । भित् होने से इसके पदे रहने पर टि  
होता है ।

नड्वलः—नडाः सन्ति अस्मिन् देशे—नड+इमन् टि (य) लोप ।  
→नड्वलः ।

शाद्वलः—शादाः सन्ति अस्मिन् देशे (हरी घास है इन देश में)—  
विग्रह में शाद+इमन् टि (य) लोप→शाद्वलः । पूर्ववत् ।

३८९, शिखाया इति—शिखा शब्द से चातुरायिक वलच् प्रत्यय होता है  
शिखावलः—शिखाः सन्ति अस्मिन् देशे (शिखा है इस स्थान में)—  
विग्रह में शिखा शब्द से वलच् प्रत्यय होकर अन्तर्लोप रहता है ।

इति चातुरायिकाः

अथ शेषिकाः ॥५॥

४०० । शेषे ४।२।६२।

अपत्यादिचतुरर्ध्वन्तादन्योऽर्थः शेषस्तप्राणादयः स्युः । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम् भावणः शब्दः । औपनिषदः पुरुषः । दृपदि पिष्टा दापंदाः सक्तवः । चतुर्भिस्सृजते चातुरं शकटम् । चतुर्दंशं दृश्यते चातुर्दंशं रसः । 'तस्य चिकारः' इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः ।

अथ शेषिकाः—यहाँ से शेषिक प्रत्यय प्रारम्भ होते हैं । शेष अर्थों में होने वाले प्रत्यय शेषिक कहलाते हैं ।

४०० शेषे इति—अपत्य अर्थ से लेकर चातुरविक तक के अर्थों से प्रत्यय अर्थ शेष है, उस (शेष अर्थ) में भण् आदि प्रत्यय होते हैं ।

आक्षुषं रूपम्—चक्षुषा गृह्यते (चक्षु से जिसका ग्रहण किया जाता है)—इस विग्रह में चक्षुष् शब्द से भण् प्रत्यय होता है । चक्षुप्+भण् आदि वृद्धि (भ को धा) आक्षुप्+भ→आक्षुषम् ।

भावणः शब्दः—भवणं गृह्यते (भवण (कान) से जिसका ग्रहण किया जाता है)—भवण+भण्→भावण+भ→भावणः ।

औपनिषदः पुरुषः—उपनिषदभिः प्रतिपादितः (उपनिषदों के द्वारा जिसका प्रतिपादन किया गया है)—इस अर्थ में उपनिषद् शब्द से भण् प्रत्यय होता है । उपनिषद्+भण् आदि वृद्धि उ को औ औपनिषदः ।

दापंदाः सक्तवः—दृपदि पिष्टाः (पत्थर पर पिसे हुए सत्तू)—इस अर्थ में दृपद् शब्द से भण् प्रत्यय होता है । दृपद्+भण् आदि वृद्धि क को भार दापद्+भ→दापंदा, प्रथमा बहु० में दापंदाः ।

चातुरं शकटम्—चतुर्भिः उह्यते (चौ चार से ले जाया जाता है)—इस अर्थ में चतुर शब्द से भण् प्रत्यय होकर चतुर+भ आदि वृद्धिः चातुरम् ।

चातुर्दंशं रसः—चतुर्दंशं दृश्यते (चौ चतुर्दंशों में दिखालाई देता है)—इस अर्थ में चतुर्दंशी शब्द से भण् प्रत्यय होकर चतुर्दंशी+भण्→आदि वृद्धि तथा भन्त्य ई का लोप होकर चातुर्दंश+भ→चातुर्दंश । रसः का विशेषण होने से नपुं० एकवचन में चातुर्दंशम् ।

४०१ । राष्ट्रान्वास्वपारादघञौ ४।२।६३।

आभ्यां क्रमाद् घञौ स्तः शेषे । राष्ट्रं जातः राष्ट्रियः, पारोणः । धी(वा) अवास्वपाराद्विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वयम् ॥ अवास्वपारीणः पारीणः । पारावास्वपारीणः । इह प्रकृतिविशेषात् प्राक् पुद्गुलताः प्रत्यया उक्तान्ते, तेषां जातः अयोऽर्धविशेषाः समर्पविभक्त्यन्ते ।

तस्येति—तस्य विकारः' ४।३।१३४। इत मून से पहले शेष अधिकार है ।

४०१. राष्ट्रंति—राष्ट्र और अवास्वपार शब्द से नमः य और प्रत्यय होते हैं ।

राष्ट्रियः—राष्ट्रं जातः, राष्ट्रं भवः आदि (राष्ट्र में पैदा हुआ आदि) जात आदि अर्थों में राष्ट्र शब्द से य प्रत्यय होता है । राष्ट्र + य → राष्ट्रियः । तथा राष्ट्र के अन्तिम 'य' का लोप होकर राष्ट्र → इय → राष्ट्रियः ।

अवास्वपारीणः—अवास्वपारं गतः (वार वार गया हुआ)—इत अर्थ अवास्वपार शब्द से 'स्व' प्रत्यय होता है । अवास्वपार + स्व → स्व को ईन आ तथा अन्त्य अकार का लोप होकर अवास्वपार + ईन → (नू को नू) अवास्वपारीणः ।

अवास्वपारीणः (वा)—अवास्वपार शब्द से, पृथक् किये जाने पर (अवास्वपार) तथा उलट देने पर (पार + अवास्वपार = पारावास्वपार) भी स्व प्रत्यय होता है यह कहना चाहिये ।

अवास्वपारीणः—अवास्वपारं जातः (वार में हुआ)—अवास्वपार शब्द से स्व प्रत्यय होकर अवास्वपार + स्व = अवास्वपार + ईन → अवास्वपारीणः । इसी प्रकार 'पारे जातः'—पारीणः (पार + स्व), पारावास्वपारीणः—पारावास्वपारीणः (पारावास्वपार + स्व) ।

इहेति—यहाँ प्रकृति विशेष (राष्ट्र आदि) से 'य' आदि (राष्ट्रियः, पाराद घञौ) से लेकर अयु, अयु, ल (सायं विर० ४।३।२३) पर्यन्त प्रत्यय आये हैं, उनके जात (तत्र जातः ४।३।२४) इत्यादि अर्थ तथा समर्प विभक्ति

४०२ । ग्रामाद् यस्त्वञी ४।२।६४।

ग्राम्य.ग्रामीणः ।

• ४०३ । नद्यादिभ्यो ढक् ४।२।६७।

नादेयम् । माहेयम् । वाराणसेयम् ।

(सप्तम्यन्त आदि) ग्रामे वही जायेगी । इस प्रकार प्रत्यय-विधायक तथा प्रत्ययविधायक सूत्रों की एकवाक्यता से सूत्रों का प्रर्थ किया जाता है, यह भाव है ।

४०२. ग्रामाद् इति—ग्राम शब्द से संविक प्रर्थों में य, खम् प्रत्यय होते हैं ।

ग्राम्यः—ग्राम जातः ग्रामे भवः आदि (ग्राम में पैदा हुआ इत्यादि)—इन प्रर्थों में ग्राम शब्द से य प्रत्यय होता है । ग्राम+य→यन्त्य प्रकार का सोप-ग्राम्यः ।

ग्रामीणः—ग्रामे जातः आदि प्रर्थ में ग्राम शब्द से खम् । ग्राम+ख→ख को ईत तथा ग्राम के यन्त्य प्रकार का सोप होकर ग्राम+ईत→(ग को ण्) ग्रामीणः ।

४०३. नद्यादिभ्य इति—नदी आदि शब्दों से आतादि प्रर्थों में ढक् प्रत्यय होता है ।

नादेयम्—नद्या जातम् आदि (नदी में हुआ आदि)—इन प्रर्थों में नदी शब्द से उपयुक्त सूत्र से ढक् प्रत्यय होता है । नदी+ढक्→ढ को एय् भादेश होकर नदी+एय् इस व्यवस्था में ढक् प्रत्यय के कित् होने से आदि कृटिः (अ को भा) । तब यन्त्य ई का सोप२ होकर 'नादेयम्' रूप बनता है । इसी प्रकार—मह्यं जातम् आदि (पृथ्वी पर हुआ इत्यादि) माहेयम्, नदी+ढक्→मही+एय्→माहेयम् । वाराणस्या जातम् आदि (वाराणसी में हुआ इत्यादि) वाराणसेयम्, वाराणसी→ढक्→वाराणसी+एय्→वाराणस्+एय्→वाराणसेयम् ।

४०४ । दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् ४।२।८८।

दाक्षिणात्यः । पाश्चात्यः । पौरत्यः ।

• ४०५ । छुप्रागपामुदक्प्रतीचो यत् ४।२।१०१।

दिश्यम् । प्राच्यम् । अपाच्यम् । वदीच्यम् । प्रतीच्यम् ।

४०४. दक्षिणेति—दक्षिणा पश्चात् भीर पुरम् इन धर्मों के प्रत्यय होता है (नैपिक) ।

दाक्षिणात्यः—दक्षिणा जातः आदि (दक्षिण में उत्पन्न हुआ इत्यादि) । इस विग्रह में दक्षिणा शब्द से उपसृक्त मृचानुसार त्यक् प्रत्यय होता है । दक्षिणा + त्यक् → द्वि पने होने के कारण आदि वृद्धि 'म' को मा → दाक्षिणात्यः ।

दिश्यन्ती—यहाँ 'दक्षिणादाय' ३।१।३६ इस सूत्र के अनुसार तत् दक्षिण + मा = दक्षिणा शब्द लिया जाता है, जो चक्ष्य है, (वि० की०, अतएव दक्षिणा जातः, दक्षिणा भवः यह विग्रह होगा । इसी प्रकार पश्चात् भवः (पीछे वा पश्चिम में हुआ) पाश्चात्यः । पुरो भवः पहले वा पूर्व में हुआ) —पुरम् + त्यक् → पौरत्यः ।

४०५. छुप्रागं हनि—दिक्, प्राक्, अपाक्, वदक् भीर प्रतीक् इन धर्मों के आग्रादि धर्मों में यन् प्रत्यय होता है ।

दिश्यम्—दिशि जातम् आदि (स्वर्ग में हुआ आदि)—यहाँ दिक् शब्द से उपसृक्त मृचानुसार यन् प्रत्यय होता है । दिक् + यन् → दिश्यम् ।

इसी प्रकार प्राच्यम्-प्राच्या भवं प्राक् भव वा (पूर्व दिशा में होने वाला) प्राक् + यन् ।

अपाच्यम्—अपाच्या जातं भवं वा (दक्षिण दिशा में हुआ) आक् + यन् → अपाच्यम् ।

४०६ । अथ्ययात्यप् ४।२।१०४। छ (वा) अमेहकवतसिप्रेभ्य एव । अमात्यः । इहत्यः । कवत्यः । ततस्यः । तत्रत्यः । ० (वा) स्वस्नेधु 'व' इति वक्षतव्यम् ॥ नित्यः ।

४०७ । वृद्धियस्याचामादिस्तद्वृद्धम् १।१।७२। यस्य समुदायस्याचो मध्ये आदिर्धृदिस्तद् वृद्धससं स्यात् ।

उदीच्यम्—उदीच्या जात, अब वा (उत्तर दिशा में हुआ), उदीच् + यत् ।

प्रतीच्यम्—प्रतीच्या जात अब वा (पश्चिम दिशा में हुआ)—प्रतीच् + यत् → प्रतीच्यम् ।

४०६. अथ्ययाद् इति—अथ्यय से वीचिक रूप प्रत्यय होता है । रूप्य में एप ऐप रहता है ।

अमेहेति (वा)—अमा (सह, साथ) इह (यहाँ), कव (कहाँ) तत् प्रत्ययान्त (ततः, यतः आदि) और च प्रत्ययान्त (तत्र आदि) अथ्ययो से ही रूप्य प्रत्यय होता है ।

अमात्यः—अमा (सह) अबः (साथ रहने वाला, साथी)—इस विषय में अमा शब्द से रूप्य प्रत्यय होता है । अमा + रूप्य → अमा + रय → अमात्यः ।

इसी प्रकार इह भवः (यहाँ होने वाला)—इहत्यः, कव भवः (कहाँ होने वाला आदि) कवत्यः, तत्र भवः (वहाँ होने वाला) तत्रत्यः और ततः भागतः (यहाँ से भागा हुआ) ततस्यः ।

स्वस्नेरिति (वा)—नि उपसर्ग से ध्रुव अर्थ में रूप्य प्रत्यय होता है यह कहना चाहिये ।

नित्यः (स्थिर)—यहाँ नि उपसर्ग से ध्रुव अर्थ में रूप्य प्रत्यय होकर नि + रूप्य → नि + त्य → नित्यः ।

४०७. वृद्धिरिति—जिस समुदाय के स्वरों (अचो) में आदि स्वर वृद्धि-संज्ञक (वा, ऐ, ओ) होता है उस समुदाय (शब्द) की वृद्धि होती है ।



४०८ । त्वदादीनि च १।१।७४। वृद्धसंज्ञानि स्युः ।

४०९ । वृद्धाच्छ्रः ४।२।११५। शालीयः । मालीयः । तदीयः ।

• (वा) वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या ॥ देवदत्तोः । देवदत्तः

४१० । गृहादिभ्यश्च ४।२।११८। गृहीयः ।

४०८. त्वद् इति—त्वद् भादि को भी वृद्धसंज्ञा होती है ।

४०९. वृद्धाविति—वृद्धसंज्ञक (शब्दों) में छ प्रत्यय होता है, चौपिक अर्थों में ।

शालीयः—शालायां जातः, भवो वा (शाला में हुआ इत्यादि)—यहाँ 'शाला' शब्द वृद्धसंज्ञक है, क्योंकि इसका भादि भव् 'मा' है जिसकी वृद्धि संज्ञा, की गई है ।<sup>१</sup> इसी हेतु शाला शब्द से छ प्रत्यय हो जाता है । शाला + छ → छ् को ईय<sup>२</sup> तथा अन्त्य 'मा' का लोप दास् + ईय → शालीयः ।

इसी प्रकार—मालायां जातः भादि मालीयः ।

तदीयः—तस्य अयम् (उसका यह)—इस अर्थ में तद् शब्द से 'वृद्धाच्छ्रः' से छ प्रत्यय होता है । त्वदादि में होने से तद् शब्द की वृद्ध संज्ञा है) । तद् + छ → तद् + ईय—तदीयः ।

वा नामधेयस्येति (वा)—किसी व्यक्ति के नाम की विकल्प से वृद्धसंज्ञा कहनी चाहिये ।

देवदत्तोः, देवदत्तः—देवदत्तस्य अयम् (देवदत्त का)—यह देवदत्त व्यक्ति का नाम है इसलिये जब इसकी वृद्ध संज्ञा हो जाती है तो छ प्रत्यय होकर देवदत्त + छ—देवदत्त + ईय आकार लोप—देवदत्तोः रूप होता है । जब वृद्धसंज्ञा नहीं होती तो भण् प्रत्यय होकर देवदत्त + भण् → भादि वृद्धि ए को ऐ देवदत्तः ।

४१०. गृहादिभ्य इति—यह भादि शब्दों से भी छ प्रत्यय होता है, चौपिक अर्थों में ।

गृहीयः—गृहः देशविशेष, तत्र जानः भादि (गृह नाम के देश में

४११ । युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खल् च ४।३।१। आच्छः ।

पक्षेऽण् । युवयोर्युष्माकं वाऽयं युष्मदीयः । आत्मदीयः ।

४१२ । तस्मिन्प्रणि च युस्माकास्माकी ४।३।२। युष्मदस्म-  
दोरेतावादेशौ स्तः खणि अणि च । यौष्माकीणः । आत्माकीनः ।  
यौष्माकः । आत्माकः ।

उत्पन्न ह्रस्वा आदि—इति विग्रह से यह छन्द से छ प्रत्यय होता है । गह+  
छ→गह+ईव अकारतोश्च गह्+ईव=गहीयः ।

४११. युष्मद् इति—युष्मद्, अस्मद् छन्द से विकल्प से सञ् प्रत्यय होता  
है, दीपिक प्रयोग में ।

आवृत्ति—य (घोर) कहने से छ प्रत्यय भी होता है । तथा (विकल्प से  
होने के कारण) पर से अण् प्राप्य होता है ।

ह्रस्वली—युष्मद्, अस्मद् छन्द की 'त्यदादीनि च' से बृद्ध संज्ञा होकर  
'य' प्राप्त था, उभयुक्त सूत्र से विकल्पा से सञ् तथा एञ में अण् ह्रस्वा । इस  
प्रकार इनसे छ, अम् तथा अण् ये तीन प्रत्यय (दीपिक प्रयोग में) होते हैं ।

युष्मदीयः—युवयो, युष्माकं वाच्यम् (युव दोनों का या युव सब का यह)  
—इति विग्रह में युष्मद् छन्द से छ प्रत्यय होता है । युष्मद्+छ→युष्मद्  
+ईव→युष्मदीयः । इसी प्रकार—आवयोः अस्माकं वा अयम् (हम दोनों  
का या हम सबका) आत्मदीयः ।

४१२. तस्मिन् इति—युष्मद् घोर अस्मद् को युष्माकं घोर अस्माकं  
आदेश होते हैं उग सञ् प्रत्यय घोर अण् प्रत्यय के बरे रहने पर ।

यौष्माकीण—युवयोः युष्माकं वा अयम्—युष्मद्+सञ्→युष्मद् का  
युष्माक आदेश तथा स को ईन होकर युष्माक+ईन→आदिबृद्धि व को घो,  
अयम् अ वा मोप—यौष्माक+ईन→न् को ण्→यौष्माकीणः ।

इसी प्रकार अस्मद्+सञ्→आत्माकीनः ।

यौष्माकः—युष्मद्+अण्→युष्मद् को युष्माक आदेश होकर युष्माक+  
अण्→आदिबृद्धि अयम् प्रकार मोप यौष्माकः । इसी प्रकार अस्मद्+अण्—  
आत्माकः ।

४१३ । तवकममकावेकवचने ४।३।१। एकार्यवाचिनोर्युष्मद-  
स्मदोस्तवकममकौ स्तः खन्नि अणि च । तावकीनः, तावकः ।  
मामकीनः, मामकः । छे तु—

४१४ । प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ७।२।६८। मपर्यन्तयोरेकार्यवा-  
चिनोस्त्वमौ स्तः प्रत्यये उत्तरपदे च परतः । त्वदीयः । मदीयः ।  
त्वत्पुत्रः । मत्पुत्रः ।

४१३. तवकेति—एकार्यवाचक युष्मद् और अस्मद् को तवक और ममक  
भादेश होते हैं खन् और अण् प्रत्यय परे रहने पर ।

तावकीनः, तावकः—तव अयम् (तेरा)—युष्मद् शब्द ॥ खन् तथा अण् ।  
एकार्यवाचक होने से युष्मद् को 'तवक' भादेश होकर तवक+खन्=आदि-  
बुद्धि भ को भा तथा अण् अ का लोप होकर तावक्+ईन=तावकीनः ।  
तथा तवक+अण्=तावकः । इसी प्रकार मम अयम् (मेरा)=अस्मद्+खन्  
=ममक+ईन=मामकीनः । अस्मद्+अण्=ममक+अण्=मामकः ।

छे तु=छ प्रत्यय परे होने पर तो (एकवचन में, आगे कहे हुए कार्य  
होगे) ।

४१४. प्रत्ययोत्तरपदयोरिति—एकार्यवाचक युष्मद् अस्मद् के म पर्यन्त  
(भाग) को त्व और म भादेश होते हैं, प्रत्यय और उत्तरपद परे रहने  
पर ।

त्वदीयः—तव अयम् (तेरा)—एकवाची युष्मद् शब्द से ॥ प्रत्यय और  
युष्मद्+छ इस दशा में ऊपर के सूत्रानुसार म पर्यन्त भाग (युष्म्) को ॥  
तथा छ को ईय हो जाता है । त्वह्+ईय=त्वदीयः ।

इसी प्रकार मम अयम् (मेरा) अस्मद्+छ=मद्+ईय=मदीयः ।

त्वत्पुत्रः—तव पुत्र. (तेरा पुत्र) इस विग्रह में बन्धी तत्पुरुष समान होता  
हसि+पुत्र सु—यहाँ विभाक्त लोप होकर 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' से  
उभय (उत्तरपद) परे रहते युष्मद् के म पर्यन्त को त्व होकर 'त्वत्पुत्रः'

४१५ । मध्यमान्मः ४।३।१।

अध्यमः ।

४१६ । कालाट्ठम् ४।३।११।

कालावाचिभ्यष्टष्त्वात् । कालिकम् । मासिकम् । सांवत्सरिकम् । ०(वा) चन्वयानां भभात्रे टिलोपः ॥ सायंप्रातिकः । पौन पुनिकः ।

४१७ । प्रावृष एष्यः ४।३।१७।

प्रावृषेभ्यः ।

वनता है । इसी प्रकार मम पुनः इति 'मपुनः' । (ये दोनों समास-विधि उदाहरण हैं क्योंकि उत्तरपद समास में ही सम्भव है) ।

४१५. मध्याविति—मध्य शब्द से सैविक अर्थों में 'म' प्रत्यय होता है

मध्यम—मध्ने भवः (मध्य में होने वाला)—मध्य + म → मध्यमः ।

४१६. कालाविति—कालावाची से सैविक अर्थों में ठञ् प्रत्यय होता है

कालिकम्—काले जातम् आदि (काल में हुआ आदि)—काल शब्द

ठञ् प्रत्यय होकर, ठ को इक् आदेश' हो जाता है । काल + इक् → काला  
वृद्धि, अष्टम्य भ्रकार का लोप होकर कालिकः ।

इसी प्रकार आसे जातं भवं वा मासिकम्, संवत्सरे (वर्ष में) भवम्-सा  
वत्सरिकम् ।

सम्यमानामिति (वा)—म संज्ञा होने पर सर्वत्र, अध्यय की टि (प्र  
त्यय सहित अग्रिम भाग) का लोप होता है ।

सायंप्रातिक.—सायंप्रातः भवः (सायं घोर प्रातः होने वाला)—  
प्रातर् + ठञ् → सायंप्रातर् + इक् → आदिवृद्धिः, ऊपर के वातिक से प्र  
(टि) का लोप सायंप्रातिकः । इसी प्रकार पुनः पुनर्भवः (बार बार होने वा  
पुनः पुनर् + ठञ् → आदिवृद्धि तथा टिलोप होकर पौनः पुनिकः ।

४१७. प्रावृष इति—प्रावृष् शब्द से सैविक अर्थों में एष्य प्र  
होता है ।

४१८ । सायंचिरंप्राह्लेप्रगेऽभ्ययेम्यष्ट्यु ट्यु लौ तुट् च  
 ४।३।२३। सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽभ्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यष्ट्यु  
 ट्यु लौ स्तयोस्तुट् च । सायन्तनम् । चिरन्तनम् । प्राह्लेप्रगेऽनयोरे-  
 षन्तरवं निपात्यते । प्राह्लेतनम् । दोषातनम् ।

प्राह्लेष्य — प्राह्लि भवः (वर्षा ऋतु में होने वाला) — प्राह्लप् + एष्य →  
 प्राह्लेष्यः ।

४१ = सायमिति — सायम् चिरम्, प्राह्ले, प्रगे तथा कालवाची ग्रन्थों से  
 ट्यु घीर ट्युल् प्रत्यय होते हैं घीर उनको तुट् का भागम होता है ।

दिक्पली — ट्यु घीर ट्युल् प्रत्ययों में यु शेष रहता है । इन दोनों के  
 स्वर में भेद है । यु को 'युबोरनाको' से 'घन्' होकर, 'घन् के घादि' ॥ तुट्  
 का भागम होता है । तुट् में त् शेष रहता है घतः प्रत्यय का रूप 'तन' हो  
 जाता है ।

सायन्तनम् — साये भवम् । (सायंकाल को होने वाला) साय शब्द घन्  
 प्रत्ययात् है । उससे ट्यु तथा ट्युल् प्रत्यय होकर तथा प्रत्ययों के साथ उसका  
 निपातनात् मकारान्त रूप होकर सायम् + ट्यु → यु को घन सायम् + घन +  
 तुट् का भागम — सायम् + त् + घन → सायन्तनम् इसी प्रकार 'चिरे भवम्'  
 (दीर में होने वाला) चिरन्तनम् ।

दिक्पली — सायम् घीर चिरम् शब्द ग्रन्थ भी हैं उनसे तो ग्रन्थ होने  
 के कारण ही ट्यु ट्युल् प्रत्यय हो जाते हैं ।

प्राह्लेतनम् — प्राह्ले जातम् भादि । (पूर्वाह्न काल में उत्पन्न हुआ) — प्राह्ल  
 शब्द से ट्यु, ट्युल् प्रत्यय तथा निपातन से एकारान्तता होकर प्राह्ले + ट्यु  
 (ट्युल) → वु को घन तथा तुट् भागम — प्राह्ले + त् + घन → प्राह्लेतनम् ।

प्रगेतनम् — प्रगे जातम् (प्रातःकाल उत्पन्न हुआ) — प्रगे + ट्यु (ट्युल) →  
 प्रगे + त् + घन → प्रगेतनम् ।

दोषातनम् — दोषा भवम् (रात को होने वाला) — कालवाची. ग्रन्थ

४१६ । तत्र जातः । ४३।२५

सप्तमीसमर्थाऽजात इत्यर्थेऽणादयो षादवश्च भ्युः । स्रु ष्ते जातः स्रौप्तिः । स्रसे जात औत्सः । राष्ट्रं जातो राष्ट्रियः । अवार-पारे जातः अवारपारीणः । इत्यादि ।

४२० । प्रावृषष्ठप् ४।३।२६।

एवयापचाद्ः । प्रावृषिकः ।

दोषा (रात्रि) से द्यु, द्युत् प्रत्यय होकर दोषा+यु→यु की भन तथा द्युद् का प्रागम—दोषा+त् भन→दोषात्तनम् ।

४१६. तत्रेति—सन्तुष्टत समर्थ से 'उत्पन्न हुआ' या 'हुआ' इस अर्थ में मण् आदि घोर प आदि प्रत्यय होते हैं ।

विपरी—जैसा कि ऊपर ('राष्ट्रावार०' सूत्र के नीचे) कहा गया है सीविक अर्थों में से एक अर्थ का तथा समर्थ विभक्ति का निर्देशक यह सूत्र है । एक अर्थ निर्देशक सूत्र से दूसरे अर्थ निर्देशक सूत्र तक जो प्रत्यय कहे जायेंगे वे ऊपर वाले विशेष अर्थ में ही होते हैं । जैसे 'तत्र जातः' से प्रागे प्रागमनः ४२१. 'तत्र के प्रत्यय 'तत्र जातः' अर्थ में होते हैं ।

सौप्तः—स्रुप्ते जातः (स्रुप्त् नामक देश में पैदा हुआ) स्रुप्त्+मण्→मादि वृद्धि उ को घी, सम्य घ का लोप स्रौप्त्+म→सौप्तः ।

प्रौत्तः—उत्से जातः (स्रोत में उत्पन्न हुआ, —यहाँ उरवादिभ्योऽन् ४।।८६। से अन् प्रत्यय होता है । उत्त+य→प्रौत्तः, पूर्ववत् ।

राष्ट्रियः, अवारपारीणः की सिद्धि पहले आ चुकी है ।

४२०. प्रावृष इति—प्रावृप् एव से हुआ जात) अर्थ में ठप् प्रत्यय होता है । टप में ठ संघ रहता है ।

यह ठ प्रत्यय ('प्रावृष एवः, से कहे हुए) एव्य प्रत्यय का (जात अर्थ में) वाचक है ।

प्रावृषिकः—प्रावृषि जातः (वर्षा ऋतु में उत्पन्न हुआ) =प्रावृप्+ठप्→प्रावृप्+ठ→ठ की इकड़ होकर प्रावृषिकः ।

४२१ । प्रायभवः ४११।४६

तत्रेत्येव । स्रुद्धे प्रायेण बाहुल्येन भवति सौधः ।

४२२ । सम्भूते ४११।४१।

स्रुद्धे सम्भवति सौधः ।

४२३ । कोशाड्डम् ४११।४२।

कोशेयं वक्ष्ये ।

४२४ । तत्र भवः ४११।४३।

स्रुद्धे भवः सौधः । औरसः । राष्ट्रियः ।

४२१. प्रायभव इति—सप्तम्यन्त समर्थ से प्रायभावः (अधिकतर होने वाला) अर्थ में अण् आदि तथा य आदि प्रत्यय होते हैं ।

सौधः—स्रुद्धे प्रायेण (बाहुल्येन) भवति (स्रुद्ध देश में अधिकता से होता है)—स्रुद्ध + अण् ।

४२२. सम्भूते इति—सप्तम्यन्त समर्थ शब्द से सम्भूत (होना सम्भव है) अर्थ में अण् आदि तथा य आदि प्रत्यय होते हैं ।

सौध—स्रुद्धे सम्भवति (स्रुद्ध देश में जिसकी सम्भावना है)—स्रुद्धे + अण् ।

४२३. कोशाड्ड इति—सम्भूत अर्थ में कोश शब्द से ड्ड् प्रत्यय होता है ।

कोशेय वक्ष्यम्—कोशे सम्भूतम् (कोश में सम्भव अर्थात् कुमिकोश में होने वाला, रेशम या रेशमी) —इस विषय में कोश शब्द से ड्ड् प्रत्यय होकर कोश + ड्ड् → ड को एय तथा अन्त्य अक्षर का लोप होकर आदि बुद्धि कोशेय → कोशेयम् ।

टिप्पणी—वस्तुतः (कोशस्य विकारः इति) विकार में ड्ड् होना उचित है जैसा कि वातिक है—'विकारे कोशाड्डम् सम्भूते ह्यर्थात्पत्तिः ।'

४२४. तत्र भव इति—सप्तम्यन्त से भव (विद्यमान, होने वाला) अर्थ में अण् आदि तथा य आदि प्रत्यय होते हैं । स्रुद्धे भवः = सौधः (स्रुद्ध

४२५ । दिगादिभ्यो यत् ५।३।५५। दिश्यम् । चय्येम् ।

४२६ । शरीरावयवाच्च ५।३।५६। दन्त्यम् । कण्ठ्यम् ।

५। अघ्यात्मादेष्टन्विष्यते ॥ अघ्यात्मां भवमाघ्यात्मिकम् ।

४२७ । अनुशक्तिकादीनां च ७।३।५७। एवामुभयपदवृद्धिः

देश में होने वाला) — लृज्ज + घण् । इसी प्रकार उत्से भवः जीतसः । राष्ट्रं भवः राष्ट्रियः ।

४२५. दिगादिभ्य इति — दिग् आदि शब्दों से 'तत्र भवः' अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ।

दिश्यम् — दिशि भवम् (दिशा में होने वाला) — यत् → दिश्यम् । इसी प्रकार वर्गं भवम् (वर्ग या समूह में होने वाला) चय्येम् (वर्ग शब्द दिगादि गण में है) ।

४२६. शरीरेति — शरीर के अवयववाची शब्दों से भी 'तत्र भवः' इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ।

दन्त्यम् — दन्तेषु भवम् (दांतों में होने वाला) — इस अर्थ में शरीरावयवाची दन्त शब्द से यत् प्रत्यय होकर दन्त + यत् → दन्त्य अकार का लोप-दन्त्यम् । इसी प्रकार 'कण्ठे भवम्' (कण्ठ में होने वाला) कण्ठ + यत् → कण्ठ्यम् ।

अघ्यात्मादेरिति (वा) — अघ्यात्म आदि शब्दों से 'तत्र भवः' अर्थ में ठञ् प्रत्यय दृष्ट है ।

आघ्यात्मिकम् — अघ्यात्मां भवम् (आत्मा में होने वाला) — इस विग्रह में अघ्यात्म शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है । अघ्यात्म + ठञ् → ठकार को + इक्, → आघ्यात्मिकम् ।

४२७. अनुशक्तिकेति — अनुशक्तिक आदि समस्त पदों में पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों (उभयपद) की आदि वृद्धि होती है जित्, एित् और कित्



स्यात् धिति णिति किति च । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । ऐ  
लौकिकम् । पारलौकिकम् । आकृतिगणोऽयम् ।

४२८ । जिह्वामूलाङ्गुलेच्छः ४३१६२१ जिह्वामूलीयम्  
अङ्गुलीयम् ।

तद्विस्त प्रथम परे होने पर ।

आधिदैविकम्—आधिदेवं भवम् (देवों में होने वाला)—आधिदेव+उ  
→ठकार को इक् आधिदेव+इक्→अनुशक्तिक आधि में पाठ होने  
उभयपद वृद्धि (आधि के अ को आ तथा देव के ए को ऐ) आधिदैव+ए  
अत्य अकार का लोप-आधिदैविकम् । इसी प्रकार—

आधिभौतिकम्—आधिभूतं भवम् (पृथिवी आदि भूतों में होने वाला)  
आधिभूत+उञ् ।

टिप्पणी—आत्मनि इति अध्यात्मम्, देवे इति आधिदैवम्, भूते इति  
आधिभूतम्—ये शब्द विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समाप्त होकर बने हैं ।

ऐहलौकिकम्—इह लोके भवम् (इस लोक में होने वाला)—इह  
लोक+ठञ् ।

पारलौकिकम्—परलोके भवम् (परलोक ॥ होने वाला)—परलोक  
+ठञ् ।

आकृतिगण इति—यह अनुशक्तिक आदि गण आकृति गण हैं । भाव यह  
है कि जिन प्रयोगों में उभयपद वृद्धि देखी जाती है किन्तु किसी नियम (सूत्र)  
॥ नहीं की गई, उनको अनुशक्तिकादि गण में समझना चाहिए ।

४२८, जिह्वामूलेति—जिह्वामूल तथा अङ्गुलि शब्द से 'तत्र भवः' अर्थ  
में अ प्रत्यय होता है ।

जिह्वामूलीयम्—जिह्वामूले भवम् (जिह्वामूल ॥ होने वाला)—यहाँ  
जिह्वामूल शब्द से अ प्रत्यय होकर जिह्वामूल+अ→छ् को ईप् जिह्वामूल  
+ईप्→अत्य अ का लोप-जिह्वामूलीयः ।

अङ्गुलीयम्—अङ्गुल्यां भवम् (अङ्गुलि में रहने वाली, मंगूठी)—

४२६ । वर्गान्ताच्च ४।३।६३। कवर्गीयम् ।

४२७ । तत् आगतः ४।३।७४। झृष्णादागतः स्त्रीध्नः ।

४२८ । उगायस्यानेभ्यः ४।३।७५। शृङ्गशालाया आगतः  
शौक्शालिकः ।

४२९ । विद्यायोनिस्सम्बन्धेभ्यो वुम् ४।३।७६। औपाध्यायकः ।  
पैतामहकः ।

अङ्गुलि + छ → अङ्गुलि + ईष → अन्त्य इकार का सोप अङ्गुलीयम् ।

४२६. वर्गान्तादिति—जिस शब्द के अन्त में वर्ग शब्द हो उससे श्री  
'तव भवः' अर्थ में ■ प्रत्यय होता है ।

कवर्गीयम् = कवर्गे भवम् (कवर्ग में होने वाला) — कवर्ग + छ → कवर्ग  
+ ईष → कवर्गीयम् ।

४२७. तत् इति—पञ्चम्यन्त समर्थ से आगतः (घाया हुआ) इस अर्थ  
में अण् आदि तथा य आदि प्रत्यय होते हैं । जैसे—झृष्णाद् आगतः (झृष्ण  
देव से प्राया हुआ) झृष्ण + अण्—स्त्रीध्नः ।

४२८. उगिति—आयस्यानेषां शब्दों से 'तत् आगतः' (वही से प्राया  
हुआ) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

शौक्शालिकः—शृङ्गशालाया आगतः (शृङ्ग शृङ्ग के स्थान से प्राया  
हुआ)—इस विग्रह में शृङ्गशाला शब्द से ठक् प्रत्यय होता है । शृङ्गशाला +  
ठक् → ठकार की इक्, आदिबुद्धि तथा अन्त्य आकार का सोप होकर शौक्-  
शालिकः ।

४२९. विदिति—विद्या तथा रक्त (योनि) के सम्बन्धेषां शब्दों से  
'तत् आगतः' इस अर्थ में वुम् प्रत्यय होता है ।

औपाध्यायकः—उपाध्यायाद् आगतः (उपाध्याय से प्राया हुआ)—  
विद्याकृत सम्बन्धवाचक उपाध्याय शब्द से वुम् प्रत्यय होता है । वु को घर्, आदि (उ) की बुद्धि (घी) तथा अन्त्य आकार का सोप होकर औपाध्यायकः ।

४३३ । हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः ४।३।८१। समा-  
गतं समरूप्यम् पक्षे गहादिभ्यश्चः । समीयम् । विषमीयम् । देवद-  
रूप्यम् । देवदत्तम् ।

४३४ । मयट् च ४।३।८२। सममयम् । देवदत्तमयम् ।

४३५ । प्रभवति ४।३।८३। हिमवतः प्रभवति हिमवती गङ्गा

पैतामहकः—पितामहाद् भागतः (पितामह से आया हुआ) —  
सम्बन्धवाची पितामह शब्द से वृष् प्रत्यय होता है । पितामह + वृष्  
पैतामहकः ।

४३३. हेतुमनुष्येभ्य इति—हेतुर्घों से तथा मनुष्यों (के नामों) से  
भागतः घर्ष में विकल्प से रूप्य प्रत्यय होता है ।

समरूप्यम्—समाद् भागतम् (सम हेतु से आया हुआ) —सम + रूप्य-  
समरूप्यम् । इसी प्रकार विषमरूप्यम् ।

समीयम्—रूप्य प्रत्यय विकल्प से होता है, जहाँ यह नहीं होता वहाँ  
(पक्ष में) 'गहादिभ्यश्च ४।२।१३८। से छ प्रत्यय होता है । सम + छ → सम-  
ईय → समीयम् । इसी प्रकार विषमीयम् ।

देवदत्तरूप्यम्—देवदत्ताद् भागतम् (देवदत्त से आया हुआ) —मनुष्य  
के नामवाची देवदत्त शब्द से रूप्य प्रत्यय होकर बनता है । पक्ष में देवदत्त +  
वृष् → देवदत्तम् ।

४३४. मयट् सेति—हेतु तथा मनुष्यों (के नामों) से तत् भागत घर्ष  
में मयट् प्रत्यय भी होता है । (मयट् में मय शेष रहता है)

सममयम्—सम + मय → सममयम् । इसी प्रकार देवदत्तमयम् ।

४३५. प्रभवति—प्रभवति का घर्ष है प्रकट होता है, निकलता है ।  
'पञ्चम्यान्त से तत् प्रभवति' वही प्रकट होता है घर्ष में घण् आदि घोर  
आदि प्रत्यय होते हैं ।

हिमवती गङ्गा—हिमवतः प्रभवति (हिमालय से निकलती है) —वृष्  
विग्रह में हिमवत् शब्द से वृष् प्रत्यय होता है । हिमवत् + वृष् →

४३६ । तद्गच्छति पथिदूतयोः ४।१।८६। स्रुजं गच्छति  
स्रोतः पथा दूतो वा ।

४३७ । अभिनिष्कामति द्वारम् ४।१।८६। स्रुजमभिगच्छति  
स्रोतः काम्यकुम्भद्वारम् ।

४३८ । अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४।१।८७। शारीरकमधिकृत्य कृते  
ग्रन्थः शारीरकीयः ।

भाट्टिबुद्धि इ को ऐ हैमवत् + म → हैमवत् → स्त्री प्रत्यय डीप् होकर मत्त्य घ  
का लोप हैमवत् + ई → हैमवती ।

४३६. तद् गच्छतीति—'उसको जाता है' (तद् गच्छति)—इस अर्थ में  
द्वितीयांत से भण् भादि प्रत्यय होते हैं, यदि जाने वाला मार्ग या दूत  
होता है ।

स्रोतः—स्रुजं गच्छति, पथाः दूतो वा (स्रुज देश को जाने वाला मार्ग  
या दूत) स्रुज + मन् ।

४३७. अभिनिष्कामतीति—'उसकी ओर निकलता है' (तद् अभिनिष्का-  
मति)—इस अर्थ में द्वितीयांत से भण् भादि प्रत्यय होते हैं, यदि निकलने  
वाला द्वार होता है ।

स्रोतम्—स्रुजम् अभिनिष्कामति, काम्यकुम्भद्वारम् (स्रुज देश की  
ओर निकलने वाला कप्रीज का द्वार-स्रोत कहलाता है) कृतिबुद्धि पहले के  
समान है ।

४३८. अधिकृत्येति—'उस विषय की लेकर ग्रन्थ बनाया' इस अर्थ में  
द्वितीयांत से भण् भादि प्रत्यय होते हैं ।

शारीरकीयः—शारीरकम् अधिकृत्य कृते ग्रन्थः (जीवात्मा को विषय  
करके रचा हुआ ग्रन्थ)—इस विग्रह में शारीरक शब्द से 'बृहदारण्यक' से घ  
प्रत्यय होता है । शारीरक + क् → शारीरक् + ईय → शारीरकीयः ।

टिप्पणी—शारीरमेव शारीरकम् (स्वार्थ मे क), तत्र भवः—शारीरकः  
जीवात्मा । अथवा शारीरस्यायं शारीरः 'तत्त्वेदम्' से भण् प्रत्यय होकर स्वार्थ  
में 'क' होता है ।

४४८ । सोऽस्य निवासः ४.३।८६। स्रुघ्नो निवासोऽस्य सौघः

४४० । तेन प्रोक्तम् ४।३।१०१। पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्

४४१ । तस्येदम् ४।३।१२०। उपगोरिदम् औपगवम् ।

इति शैथिकाः ॥५॥

अथ विकारार्थकाः ॥६॥

४४२ । तस्य विकारः ४।३।१३४। \* (वा) अवमनो विकारः

४३६. सोऽस्येति—“वह इसका निवास स्थान है ।” इस अर्थ में प्रथमा से घञ् प्रादि प्राप्य होते हैं ।

सौघः—स्रुघ्नो निवासोऽस्य (स्रुघ्न देश है निवास इसका)—स्रुघ्न-स्य ।

४४०. तेनेति—“उसके द्वारा प्रोक्त” इस अर्थ में तृतीयात् से घञ् प्रादि प्राप्य होते हैं ।

पाणिनीयम्—पाणिनिना प्रोक्तम् (पाणिनि द्वारा प्रवचन किया हुआ)—इस विषय में पाणिनि शब्द में ‘यूयाच्छः’ से घञ् प्राप्य होता है । पाणिनि + घञ् → पाणिनि + ईष → अन्त्य ह्रस्व का लोप पाणिन् + ईष → पाणिनीयं व्याकरणम् ।

४४१. तस्येति—“उसका यह” इस अर्थ में वरुणात् से घञ् प्रादि प्राप्य होते हैं ।

औपगवम्—उपगोः इदम् (उपगु का यह) —इस विषय में उपगु लभ्य से घञ् प्राप्य होता है । कचविद्धि वृत्ते के समान है । इति शैथिकाः ॥५॥

अथ विकारार्थकाः—यहाँ से विकारार्थक प्रत्यय आरम्भ होते हैं ।

४४२. तस्येति—वष्टयन्त समर्थ पद से विकार अर्थ में घञ् प्रादि प्राप्य होते हैं ।

द्वितीयो वक्तव्यः ॥ अश्विनो विकारः आश्विनः । आश्विनः । आश्विनः ।

४४३ । अवयवे च प्राण्योपधिवृक्षेभ्यः आश्विनः । आश्विनः । आश्विनः ।  
कारे । मयूरस्यावयवो विकारो वा मायूरः । मौर्यं काण्डं मयूरं वा ।  
पैप्पलम् ।

टिप्पणी—विकार का अर्थ है—प्रकृति (कारण) का दूसरी अवस्था को प्राप्त हो जाना; जैसे मिट्टी घट के रूप में परिवर्तित होती है तो घट मिट्टी का विकार है ।

अश्विन इति (वा)—विकारार्थक प्रत्यय परे होने पर अश्वन् शब्द की 'टि' का लोप होता है यह कहना चाहिये ।

आश्विनः—अश्विनो विकारः (आश्विन का विकार या पत्थर का बना हुआ)—  
इस विषय में अश्वन् शब्द से विकारार्थ में आश्विन प्रत्यय होता है । अश्वन् +  
अण् → आदिबुद्धि अ को आ तथा ऊपर के नातिक से अन् (टि, का लोप होकर  
आश्वन् + अ → आश्विनः ।

आश्विनः—अश्विनो विकारः (आश्विन का विकार)—अश्वन् + अण् यहाँ  
'अस्तद्धिते' से टि लोप प्राप्त होता है किन्तु 'अन्' से प्रकृतिभाव हो जाता है ।  
आदिबुद्धि अ को आ होकर—आश्विनः ।

मातृक—मृत्तिकायाः विकारः (मिट्टी का विकार, मिट्टी का बना हुआ)—  
मृत्तिका + अण् → आदिबुद्धि अ को आ तथा अन्त्य आ का लोप मातृकः  
(घटः) ।

४४३. अवयवे चेति—प्राणी, उपोषि तथा वृक्षवाचक शब्दों से अवयव  
अर्थ में अण् प्रादि प्रत्यय होते हैं ।

आश्विनः—अश्विन कहने से विकार अर्थ में भी ।

मायूरः—मयूरस्य अवयवो विकारो वा (मयूर का अवयव या विकार)—  
मयूर शब्द प्राणिवाचक है । इससे अण् प्रत्यय होकर मयूर + अण् → आदिबुद्धि  
अन्त्य अ का लोप—मायूर + अ → मायूरः ।

मौर्यम्—मौर्यायाः अवयवः (काण्डम्) विकारो (अश्व) वा (मौर्य नाम की  
उपोषि का लोप या अश्व)—मौर्य + अण् → आदिबुद्धि अ को आ तथा अन्त्य  
आ का लोप—मौर्य + अ → मौर्यम् ।

४४४ । मयट् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ४।१।१४

प्रकृतिमात्राभ्ययट् वा स्यात् विकारावयवयोः । अशममयम् । आशमनम् ।  
अभक्ष्येत्यादि किम् ? मौद्गः सूयः कार्पासमाच्छादनम् ।

वैप्यलम्—विप्यलस्य अवयवः विकारो वा (पीपल का प्रङ्ग या विकार) —  
विप्यल + घण् → आदिवृद्धि, मन्त्य घकार का लोप वैप्यलम् ।

४४४. मयटिति—प्रकृति मात्र से विकार और अवयव अर्थ में विकल्प  
मयट् प्रत्यय होता है, भाषा में, यदि वह अवयव वा विकार भक्ष्य (लाघ  
अथवा आच्छादन (वस्त्र, न हो) ।

टिप्पणी—प्रकृति उसे कहते हैं जिसका अवयव वा विकार होता है । मूत्र  
में 'भाषायाम्' (भाषा में) कहने से वेद में मयट् नहीं होता । यहाँ संस्कृत का  
भाषा कहा गया है, इससे विदित होता है कि पाणिनि के काल में संस्कृत  
बोलचाल की भाषा या लोक भाषा थी ।

अशममयम्, आशमनम्—अशमनः अवयवो विकारो वा, इस अर्थ में अशमन  
शब्द से मयट् प्रत्यय होकर अशमन् + मय → न् लोपः अशममयम् । 'पञ्च में  
अशमन् + घण् → आदिवृद्धि आशमनम् ।

टिप्पणी—काशिकाकार के मतानुसार अशमन् का विकार अर्थ में टि लोप  
विकल्प से होता है (टिलोपः पाशिकः, काशिका ४।४।१३४)—अतः घण्  
प्रत्यय होने पर विकार में आशमम्, आशमनम्, अवयव अर्थ में आशमनम् रूप  
होगा ।

अभक्ष्येति—भक्ष्य और आच्छादन से भिन्न होना चाहिये । यह क्यों  
कहा गया ? इसलिये कि 'मौद्गः सूयः' कार्पासमाच्छादनम्' में मयट् प्रत्यय नहीं  
होता ।

मौद्गः सूयः—मुद्गानां विकारः सूयः (मूँग की दाल)—यहाँ मूय (दाल)  
भक्ष्य है । अतः मयट् प्रत्यय नहीं होता है अपितु मुद्ग शब्द से घण् प्रत्यय  
होता है । मुद्ग + घण् → मौद्ग + क → मौद्गः ।

१. व लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।५ , २. बिल्वादिव्योष्ण ४।३।१३४

४४५ । नित्यं वृद्धशरादिभ्यः ४।३।१४५। आस्रमयम् ।

शरमयम् ।

४४६ । गोश्च पुरीषे ४।३।१४६। गोः पुरीष गोमयम् ।

• ४४७ । गोपयसोयत् ४।३।१६०। गठयम् । यययम् ।

इति विकारार्थाः ॥६॥ (प्राग्दीप्यतीयाः) ।

कार्पासभाष्यादयम्—कार्पासस्य कार्पासस्य कार्पास्याः वा विकारः (कपास का विकार या कपास का बना हुआ वस्त्र)—यहाँ मयट् प्रत्यय नहीं होता मयितु मय् प्रत्यय होकर कार्पास+मय्→कार्पासम् रूप बनता है ।

४४५ नित्यमिति—वृद्धसंज्ञक तथा शर आदि शब्दों से विकार तथा अवयव अर्थ में नित्य ही मयट् प्रत्यय होता है ।

भाष्यमयम्—भाष्यस्य विकारः अवयवो वा (भाष्य का विकार या अङ्ग,— यही भाष्य शब्द वृद्धसंज्ञक है अतः भाष्य→मयट्→भाष्यमयम् ।

शरमयम्—शराणां विकारः अवयवो वा (सरकड़ों का विकार या अवयव)—शर शब्द से उपसृक्त भूतानुसार मयट् प्रत्यय होता है । शर+मयट्→शरमयम् ।

४४६ गोश्चेति गो शब्द से पुरीष (गोबर) अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है ।

गोमयम्—गोः पुरीषम् (गाय का गोबर)—गो+मयट् गोमयम् ।

४४७ गोपयसोः इति—गो और ययस् शब्द से विकार और अवयव अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ।

गयम्—गोः विकारः अवयवो वा (गाय का विकार या अवयव)—इस अर्थ में गो शब्द से उपसृक्त भूतानुसार यत् प्रत्यय होता है । गो+यत्→गो+य इव दशा में 'कान्तो वि प्रत्यये' ६।१।७६॥ से ओं को य् हो जाता है—गय्+य→गयम् ।

१. कार्पासी शब्द से चिन्शदिभ्योऽङ्ग तथा कर्पास में नापाय्य अङ्ग होता है ।



## अथ ठगधिकारः ॥७॥

४४८ । प्राग्वहतेष्ठक् ५५१। तद्वहतीत्यतः प्राक् ठगधि-  
क्रियते ।

४४९ । तेन दीव्यति खनतिजयति जितम् ५५१। अहो-  
दीव्यति खनति जयति जितं वा आसिक्तः ।

४५० । संस्कृतम् ५५१। दम्ना संस्कृतं वाधिकम् । मारीनि-  
कम् ।

पयस्यम्—पयसो विकारः (दूध की बनी वस्तु)—इस अर्थ में पयस् पयस  
से यत् प्रत्यय होकर पयस + यत् → पयस्यम् ।

दिप्पलुः—पयस् शब्द से विकार अर्थ में ही 'यत्' होता है ।

इतिविकारार्थकाः ॥६॥ (प्राग्वीभ्यतीत्यसमाप्त) ।

अथ ठगधिकारः—यहाँ स ठक् प्रत्यय आरम्भ होता है ।

४४८. प्राग्वहतेष्ठिति—'तद्वहति' ५५१।७६। इससे पहले ठक् प्रत्यय का  
अधिकार है ।

४४९. तेनिति—तृतीयात् से दीव्यति (देखता है), खनति (खोदता है),  
जयति (जीतता है) और जितम् (जीत लिया) अर्थों में ठक् प्रत्यय होगा है ।

आसिक्तः—अहो, दीव्यति खनति, जयति, जितो वा [पासों से बेचना  
है, खोदना है जीतना है वा जीत लिया गया]—इस अर्थ में अत्र शब्द से  
ठक् प्रत्यय होगा है । अत्र + ठक् टकार को इक् अत्र + इक् → आसि बुद्धि अ  
को आ गया अन्त्य अक्षर का लोप—आसिक्त → आसिक्तः ।

दिप्पलुः—आसिक्ता तथा मि० की० आदि में 'अभ्रपा (कुशाभ्र के)  
खनति आसिक्त, यह उदाहरण दिया गया है । अष्टकोपुटीकार ने सभी अर्थों  
में एक उदाहरण दे दिया है ।

४५०. संस्कृतम् इति—तृतीयात् से संस्कृतम् (संस्कृत दिया हुआ) इस  
में ठक् प्रत्यय होगा है ।

शक्तिवत्—दम्ना संस्कृतम् (इसी से संस्कृत दिया हुआ)—इस

४५१ । तरति ४।४।१। तेनेत्येव । चहुपेन तरति औडुपिकः ।

४५२ । चरति ४।४।२। तृतीयान्ताद् गच्छति भक्षयतीत्यर्थ-

योष्ठक् स्यात् । हस्तिना चरति हास्तिकः । दध्ना चरति दाधिकः ।

४५३ । संसृष्टे ४।४।३। दध्ना संसृष्टं दाधिकम् ।

अर्थ में दधि शब्द से ठक् प्रत्यय होकर दधि+ठक्→दधि+इक्→घादि-  
बुद्धि तथा भक्ष्ण इकार का लोप दाध्+इक्→दाधिकम् ; इसी प्रकार मरी-  
चिकाभिः संस्कृतम् (मिरचों से बचारा गया) मरीचिका+अल्+मारी-  
चिकम् ।

४५१. तरति इति—तृतीयान्त शब्द से 'तरता है' (तरति) इस अर्थ में  
ठक् प्रत्यय होता है ।

औडुपिकः—चहुपेन तरति (होंगी) से धार होने वाला—इस अर्थ में  
चहुप शब्द से ठक् प्रत्यय होता है । चहुप+ठक्→चहुप+इक्→घादि-  
बुद्धि च को घी तथा भक्ष्ण अकार का लोप—घोडुप्+इक्→घोडुपिकः ।

४५२. चरति इति—तृतीयान्त शब्द से 'जाता है' जाता है' (चरति,  
चर गतिमलणयोः) इन अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है ।

हास्तिकः—हास्तना चरति (हाथी से जाने वाला)—इस अर्थ से हस्तिन्  
शब्द से ठक् प्रत्यय होकर हस्तिन्+ठक्→हस्तिन्+इक्→इन् (टि) का  
लोप तथा घाद्वुद्धि हास्त्+इक्→हास्तिकः ।

दाधिकः—दध्ना चरति (दही से जाने वाला)—दधि+ठक् ; रूप निष्ठ  
ऊपर भा चुकी है ।

४५३. संसृष्टे इति—तृतीयान्त से संसृष्ट (मिला हुआ) अर्थ में ठक् प्रत्यय  
होता है ।

दाधिकम्—दध्ना संसृष्टम् (दही से मिला हुआ) दधि+ठक् ।

४५४ । उञ्छति ४५१२। बदराण्युञ्छति बादरिकः ।

• ४५५ । रक्षति ४५१३। समाजं रक्षति सामाजिकः ।

४५६ । शब्ददुर्ं करोति ४५१४। शब्दं करोति शाब्दिकः  
दुर्ं करोति शार्दुरिकः ।

४५४. उञ्छति—द्वितीयात् से ‘चुनता है’ (उञ्छति) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—भूमि पर पड़े हुए समाज आदि के एक एक घाने का चुनना उञ्छ कहलाता है ।

बादरिकः—बदराणि उञ्छति (बैरों को चुनने वाला) इस अर्थ में बदर शब्द से ठक् प्रत्यय होकर बदर + ठक् → बदर + इक → आदिबुद्धि, शब्द अ का लोप—बादरिकः ।

४५५. रक्षति इति—द्वितीयात् से रक्षति (रक्षा करता है)—इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

सामाजिकः—समाज रक्षति (समाज की रक्षा करता है, रक्षा करने वाला)—समाज + ठक् → ठ को इक, आदिबुद्धि तथा अग्ल ‘अ’ का लोप होकर समाज + इक → सामाजिकः ।

४५६ शब्ददुर्ं करोति—द्वितीयात् ‘शब्द’ तथा ‘दुर्ं’ शब्द से करोति (करता है) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

शाब्दिक—शब्द करोति, प्रवृत्तिप्रत्ययविभागेन शब्दशब्दनि (शब्द को करता है अर्थात् प्रवृत्ति और प्रत्यय के विभाग से शब्दशब्दनि करता है, वैसाकरता) इस विग्रह में शब्द + ठक् → शब्द + इक → आदिबुद्धि, अग्ल अकार का लोप—शब्द + इक → शाब्दिकः ।

शार्दुरिक—दुर्ं करोति (दुर्ं नामक जाण्ड को बनाता है)—इस विग्रह में दुर्ं + ठक् → शार्दुरिकः ।

१. यहाँ दुर्ं शब्द का अर्थ है, बाध-विरोध या भाव-विरोध । इसे बनाता ‘शार्दुरिक’ कहलाता है, पुष्पकार आदि ।

४५७ । धर्मं चरति ४।४।४१ धार्मिकः । (वा) अधर्माच्चेति-

अधर्माच्चरति ॥ अधर्माच्चरति ।

४५८ । शिल्पम् ४।४।४२ मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः ।

४५९ । प्रहरणम् ४।४।४३ तदस्येत्येव । असिः प्रहरणमस्य आसिकः । घातुकः ।

४५७ धर्मं चरति—द्वितीयान्त धर्मं शब्द से चरति (आचरण करता है) इस धर्म में ठक् प्रत्यय होता है ।

धर्मिक—धर्मं चरति (धर्म का सदा आचरण करने वाला)—धर्म + ठक् → धर्म + इक → धार्मिकः ।

अधर्माच्चेति (वा)—द्वितीयान्त अधर्मं शब्द से भी 'चरति' धर्म में ठके प्रत्यय होता है, यह कहना चाहिये ।

आधर्माच्चरति—अधर्मं चरति (अधर्म का आचरण करने वाला)—अधर्म + ठक् → अधर्म + इक → आधि वृद्धि आधर्माच्चरतिः ।

टिप्पणी—(१) 'चरति' शब्द यहाँ 'उत्तर होना' या 'सदा आचरण करना' धर्म में है इसलिये यदि कोई दुर्वृत्त व्यक्ति कहीं धर्म में प्रवृत्त हो जाये तो वह धार्मिक नहीं कहा जायेगा । (तत्त्वबोधिनी)

(२) अधर्माच्चरति शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है, वही धार्मिक के साथ नम्र समास है । न धार्मिकः, अधर्माच्चरतिः ।

४५८, शिल्पमिति—प्रथमान्त शब्द में "इसका वह शिल्प (कौशल, व्यवसाय) है" इस धर्म में ठक् प्रत्यय होता है ।

मार्दङ्गिकः—मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य (मृदङ्ग बजाना है कौशल इसका, यह) —इस विग्रह में मृदङ्ग शब्द से ठक् प्रत्यय होता है । मृदङ्ग + ठक् → मृदङ्ग + इक, आदिबृद्धि ऋ को एच् तथा अन्त्य अकार का सोप मार्दङ्ग + इक → मार्दङ्गिकः ।

४५९, प्रहरणमिति—प्रथमान्त शब्द से 'इसका यह शस्त्र है' इस धर्म में ठक् प्रत्यय होता है ।

न स्यान् । धुर्यः, धौरेयः ।

४६६ । नौवयोधमंविषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्य-  
प्राप्यवध्यानाम्यसमसमितसम्मिसेषु ५५६११ नावा तार्यं नाव्य-  
जलम् । वयसा तुल्यो वयस्यः । धर्मण प्राप्यं धर्म्यम् । विप्रेण वप्यं

धुर्यः—धुरं बहति (धुरा को धारण करता है)—धुर् + यत् → इस  
दादा में 'उ' को दीर्घ प्राप्त होना है तथा प्राप्तुव सूत्र से निषेध हो जाता  
है, धुर् + य = धुर्यः ।

धौरेयः—धुरं बहति इति (धुरा को बहन करने वाला)—धुर् + उक्  
उक् → धुर् + एय → धादिबुद्धि उ को धौ-धौर् + एय → धौरेयः ।

टिप्पणी—रथ आदि के चपभाग को धुर् कहा जाता है धुर् को बहन  
करने वाला घोड़ा आदि 'धौरेयः' कहलाता है । इसी आधार पर कोई  
अग्रगामी या उत्तरदायित्व को संभासने वाला व्यक्ति भी धौरेयः आदि कहा  
जाता है ।

६६६. नौवय इति—नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल सीता धौरे तुला-  
इन (आठ) तृतीयान्त शब्दों ने क्रमशः तार्यं, (तरने योग्य) तुल्य (समान)  
प्राप्य (प्राप्त करने योग्य) वध्य (मारने योग्य), अन्वाम्य (लाम नामक ग्रन्थ),  
सम, समित (समीकृत इकतार किया हुआ) समित (समान, भाषा हुआ)—  
इन आठ शर्तों में यत् प्रत्यय होता है ।

नाम्यम जलम्—नावा तार्यम् (नाव से तरने योग्य)—इस विग्रह में 'नौ'  
शब्द से यत् प्रत्यय होता है । नौ + यत् → यकारादि प्रत्यय परे होने से नौ  
नौ को भाव होकर नाव् + यत् → नाम्यम्

वयस्य—वयसा तुल्यः (आयु में समान, मित्र)—वयस् + यत् ।

धर्म्यम्—धर्मण प्राप्यम् (धर्म से प्राप्त होने वाला)—धर्म + यत् →

१. किति च ७।२।११८। २. 'धूः स्त्री क्लीबे मानमुलम्' (धर्मकोष) ।

३. वान्तो वि प्रत्यये ६।१।७६।

विष्यः । मूलेन आनाम्ब्यं मूल्यम् । मूलेन समो मूल्यः । सीतया समितं सीत्यं सौत्रम् । तुलया समितं तुल्यम् ।

४६७ । तत्र साधुः ४।४।६८। अमे साधुः अपथः । सामसु साधुः सामग्यः । ये आभावकर्मणोरिति प्रकृतिभावः । कर्मण्यः । शूरण्यः ।

अन्त्य धकार का लोप-धर्म्यम् ।

विष्यः—विशेषण वध्यः (विष से पारा जाने योग्य)—विष + यत् → विष् + य → विष्यः ।

मूल्यम्—मूलेन आनाम्ब्यम् (मूल, 'नायत' के द्वारा बचने वाला धन)—मूल + यत् → मूल् + य → मूल्यम् ।

टिप्पणी—मूल शब्द का अर्थ है—मूलधन (सागत) और मूल्य का अर्थ है—उत्ते प्राप्त किया जाने वाला धन अर्थात् 'साम', किन्तु जितने धन में वस्तु मिलती है । उसके लिये 'मूल्य' शब्द कूट हो गया है ।

मूल्य—मूलेन समः (मूल के बराबर)—मूल + यत् → मूल्यः ।

टिप्पणी—वस्तु आदि के उत्पत्ति के कारण (मूल आदि को भी मूल कहते हैं । मूल (मूल) के बराबर को पट होया बहु 'मूल्यः पटः' कहलायेगा । उपादानेन समानफलः इत्यर्थः (उपादान के समान—वह भाव है)—काशिका ।

सीत्यम्—सीतया समितम् [सीता का अर्थ है—हल द्वारा खोदी हुई रेखा (गूँड़) उससे समीकृत अथवा कूट]—सीता + यत् → सीत् + य → सीत्यम् ।

तुल्यम्—तुलया सम्मितम् (तुलानु से तोला गया)—तुला + यत् = तुल्यम् । तुल्य शब्द सदा का पर्याय है ।

४६७, तत्रेति—सप्तम्यन्त से "उसमे प्रवीण या योग्य है" (साधु) इस अर्थ में यत् प्रत्यय होना है ।

अपथः—अर्थ साधुः (पागे रहने में योग्य)—अपथ + यत् = अन्त्य धकार का लोप-धर्म्यः ।

सामग्यः—सामसु साधुः (साम-धान में प्रवीण)—सामन् + यत् इस दशा में 'नस्तद्धिते' ६।४।१४४ से 'अन्' का लोप प्राप्त होता है किन्तु 'ये चाऽमा-

४६८ । सभाया यः ५।५।१८३। सभ्यः ।

इति यतोऽविधिः । (प्राग्वितीयाः) ॥८॥

अथ छयतोरधिकारः ॥९॥

४६९ । प्राक् क्रीताच्छः ५।१।१। तेन क्रीतमित्यतः ।  
छोऽधिक्रियते ।

४७० । उगवादिभ्यो यत् ५।१।२। प्राक् क्रीतादित्येव । उग-  
वादिभ्यो यत् स्यात् । छत्यापवादः । शङ्कुवे हित शङ्कु-  
दाक ।

कर्मणोः ६।४।१६८" से प्रकृतिभाव होकर सामन् + य → सामान्यः इसी प्रकार  
"कर्मणि साधुः" कर्मण्य, कर्मन् + यत् ।

शरण्यः—शरणे साधुः (शरण देने में प्रवीण) —शरण + यत् → शरण्यः  
प्रकार लोप शरण् + य = शरण्यः ।

४६८. सभाया इति—सप्तम्यन्त सभा शब्द से 'तत्र साधुः' अर्थ में य प्रत्यय  
होता है । (य और यत् के स्वर में भेद है) ।

सभ्यः—सभाया साधुः (सभा में प्रवीण या योग्य) —सभा + यत् → सभ्यः  
प्रकार का लोप सन् + यत् → सभ्यः । इति यत् प्रत्यय ॥८॥

अथ छयतोरधिकारः—यहाँ से छ और यत् प्रत्यय का अधिकार है ।

४६९. प्राक् क्रीताविति—तेन क्रीतम् ५।१।२७। से पहले तक 'छ' का  
अधिकार है ।

४७०. उगवादिभ्य इति—जिनके अन्त में उकार है, उनसे तथा गो आदि  
शब्दों से यत् प्रत्यय होता है 'तेन क्रीतम्' से पहले छाने वाले शब्दों में यह  
'यत्' प्रत्यय 'छ' का अपवाद है ।

शङ्कुव्यम्—शङ्कुवे हितम् (शङ्कु के लिये उपयोगी, फाँट) —इस विषय  
में शङ्कु + यत् → उ को गुण' छो तथा ओ को बच्चे' होकर शङ्कु + यत् + य

गठयम् । छ (ग० सू०) नाभि नभ च ॥ नभ्योऽक्षः । नभ्यमञ्जनम् ।  
४७१ । तस्मै हितम् १।१।१। बत्सेभ्यो हितो बत्सीयो गोधुक् ।

→ छन्दुय → छन्दुयम् दाह ।

टिप्पणी—छन्दु का धर्म बाण का चयमान या बीतक (मृदा) होता है ।

नभ्यम्—नभ्यो हितम् (गार्हो के लिये हितकारी)—नो + यन् → यो को यन् → नभ्यं नाम आदि ।

नाभीनि—(ग० सू०)—नाभि छन्द से हिन धर्म मे यन् प्राप्य होता है और इसे 'नभ' आदेय हो जाता है ।

नभ्योऽक्षः—नाभये हितः (नाभि के लिये हितकारी)—नाभि + यन् → नाभि को नभ होकर नभ + य → नभ्य अकार का लोप नम् + य → नभ्य → नभ्योऽक्षः ।

रच के पहिले के अक्ष भाग को नाभि कहते हैं उनके लिए हिनकर अक्ष नाभ्य काष्ठ विशेष यह धर्म है ।

इसी प्रकार 'नभ्यम् अञ्जनम्' (यह नाभि के लिए हिनकर ईनाभ्यञ्ज अर्थात् मेम डालना) ।

विशेष—यहाँ रच एक को 'नाभि' का ही कहना है मनुष्य की नाभि का नहीं । उसमे तो 'नाभये' नाभ्य ईतम्—'यरीरायकायन्' होता है । उस यन् के पर रहने नाभि को 'नम्' आदेय नहीं होता ।

४७१. तस्मै हितम्—अनुपर्वन्त अक्ष से 'उनके लिए हिनकर' (हितम्) इस धर्म मे ईत्यय होता है ।

बत्सीयो गोधुक्—बत्सेभ्यो हितः (बत्सों के लिए हितकारी, दाह रोहने वाला)—बत्स + य → य को ईव बत्स + ईव → बत्स्य अकार का लोप—बत्सीय → बत्सीयो गोधुक् ।



४७२ । शरीरावयवाद्यत् ५।१।६।

दन्त्यम् । कण्ठयम् । नस्यम् ।

• ४७३ । आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः ५।१।६।

४७४ । आत्माध्वानो खे ६।४।१६६। एतौ खे प्रकृत्या स्त  
आत्मने हितम् । आत्मनीनम् । विश्वजनीनम् । मातृभोगीणः ।  
इति छयतोः पूर्णोऽवधिः (प्राक्कीतोयाः) ॥६॥

४७२. शरीरेति—शरीर के अवयववाची चतुर्थ्यन्त शब्द से 'हित' धर्म  
यत् प्रत्यय होता है ।

दन्त्यम्—दन्तेभ्यो हितम् (दाँठों के लिये हितकारी)—दन्त+यत्→दन्त्यम्  
इसी प्रकार 'कण्ठाय हितम्' कण्ठ्यम् ।

नस्यम्—नासिकाय हितम् (नासिका के लिए हितकारी)—नासिका+य  
→नासिका को नस् आदेश होकर नत्+य→नस्यम् ।

४७३. आत्मन् इति—चतुर्थ्यन्त आत्मन्, विश्वजन और ऐसे शब्दों के  
जिनमें 'भोग' उत्तरपद हो ख प्रत्यय होता है 'हित' धर्म में ।

४७४. आत्मेति—आत्मन् और अध्वन् शब्द को 'ख' प्रत्यय पर होने पर  
प्रकृति भाव होता है । प्रकृत्यकाच् ६।४।१६६। से 'प्रकृत्या' शब्द की अनुवृत्ति  
होती है ।

आत्मनीनम्—आत्मने हितम् (अपने लिये हितकारी)—आत्मन्+ख→ख  
को ईन आदेश होकर आत्मन्+ईन (यहाँ नस्तद्धिते ६।४।१४४ से (टि), 'अन्'  
का लोप प्राप्त या उसका ऊपर के सूत्र से बाध हो जाता है) आत्मनीनम् ।

विश्वजनीनम्—विश्वजनाय हितम् (सब जनों के लिये हितकर)—विश्वजन  
+ख→विश्वजन+ईन→अन्त्य अकार का लोप विश्वजन्+ईन्→विश्व-  
जनीनम् ।

मातृभोगीणः—मातृभोगाय हितः (माता के शरीर के लिए हितकर)—  
मातृभोग+ख→मातृभोग+ईन→मातृभोग+ईन→नकार को एकार<sup>१</sup> मातृ-  
भोगीणः ।

इति छयतोऽवधिः ॥६॥



सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः । पार्थिवः ।

४७६ । पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्त-  
शीतिनवतिसप्तम् २।१। ६।

४७८. अनुशक्तिकारिणामिति—लुप्त, मित् घोर कित् प्रत्यय परे होने  
अनुशक्ति आदि (गलपठित) शब्दों के उभयपद को आदि वृद्धि होती  
(इ० ऊपर सू० ४२७)

सार्वभौमः—सर्वभूमे ईश्वरः (समस्त भूमि का स्वामी)—सर्वभूमि + भू  
+ उभयपद को आदिवृद्धि, अत्यय इ का लोप होकर सार्व भौम् + अण् → स  
भौमः ।

पार्थिवः—पृथिव्याः ईश्वरः (पृथिवी का स्वामी)—पृथिवी + अन्, आ  
वृद्धि<sup>१</sup> ऋ को घाट् तथा अत्यय इ का लोप, पार्थिवः ।

४७९. पङ्क्ति इति—पङ्क्ति, विंशति, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्  
षष्टि, सप्तति, असीति, नवति तथा सप्तम्—इन कड़ि शब्दों का विधान कि  
गया है ।

टिप्पणी—ये सब कड़ि शब्द हैं । सर्वत्र ही इनके व्यवहारों की संज्ञा  
नहीं बैठती । किसी प्रकार प्रकृति प्रत्यय तथा अन्य कार्यों का मुख में निरात  
किया गया है । कतिपय वृत्ति के अनुसार विविध विभक्त प्रकार से होती है—

पङ्क्तिः—पञ्च परिमालुमस्य (पौत्र पद है परिमालु इनके)—पञ्च +  
ति + अन् (ति) लोप—पञ्च + ति → च् को च् तथा अकार को अनुस्वार  
वरमन्त्रं इ होकर पङ्क्तिः शब्द. (पङ्क्ति नाम का शब्द) । पङ्क्ति शब्द 'मात्र  
आदि शब्दों में पङ्क्ति है ।

○ विंशतिः—द्वौ दशती परिमालुम् अस्य संख्या (दो दशक है परिमालु इन  
संख्या का प्रमाण बीज)—द्विंशत् + अतिन् → द्विंशत् को विन् आदेश विन् +  
अति → न को अनुस्वार विंशतिः ।

एते रुद्रिशब्दा निपात्यन्ते ।

४८० । तदहंति १।१।६३। लञ्जुं योग्यो भवतीत्यर्थे द्वितीया-

टिप्पणी—‘दशत्’ शब्द का अर्थ है दश का समूह (वर्ग) ‘पञ्चदशत्’ दशती वर्ग का १।१।६०।

त्रिंशत्—त्रयो दशतः परिमाणम् अस्य (तीन दशक हैं परिमाण इनका तीस—त्रिदशत + शत् → त्रिंशत् को त्रिन् भावेष्ट होकर त्रिंशत् ।

चत्वारिंशत्—चत्वारो दशतः परिमाणम् अस्य (चार दशक हैं परिमाण इनका)—चतुर्दशत् + शत् → प्रकृति को चत्वारिन् भावेष्ट होकर चत्वारिंशत् ।

पञ्चाशत्—पञ्च दशतः परिमाणम् अस्य (पचास)—पञ्चदशत् + शत् → प्रकृति को पञ्चा भावेष्ट होकर पञ्चाशत् ।

षष्टिः—षट् दशतः परिमाणम् अस्य (साठ)—षट्दशत् + ति → प्रकृति को षष् भावेष्ट षष् + ति → षष्टिः ।

सप्ततिः—सप्त दशतः परिमाणम् अस्य (सत्तर)—सप्तदशत् + ति प्रकृति को सप्त भावेष्ट होकर सप्त + ति → सप्ततिः ।

अष्टीतिः—अष्टो दशतः परिमाणम् अस्य (अस्ती)—अष्टदशत् + ति → प्रकृति को अशी भावेष्ट—अष्टी + ति → अष्टीतिः ।

नवतिः—नवदशतः परिमाणम् अस्य (नब्बे)—नवदशत् + ति — प्रकृति को नव भावेष्ट—नव + ति → नवतिः ।

शतम्—दश दशतः परिमाणम् अस्य (सी)—दशदशत् + त → प्रकृति को ‘श’ भावेष्ट होकर श + त → शतम् ।

विशेष—विद्यति से लेकर नवति तक के शब्द मिले एकत्र धीरे धीरे निमित्त में होते हैं । शत’ शब्द मनुष्य के निमित्त में होता है । ये शब्दा धीरे संक्षेप दोनों के मिले जाते हैं तथा इस प्रकार प्रयोग होता है—“मनुष्याणां विद्यतिः” (संख्या अर्थ में)—“विद्यतिः मनुष्याः” (संक्षेप अर्थ में) ।

४८०. तदहंतीति—‘इसको प्राप्त करने योग्य’ इस अर्थ में द्वितीयात्

न्तादृष्ट्याद्यः स्युः श्वेतच्छत्रमहंति श्वेतच्छत्रिकः ।

४८१ । दण्डादिभ्यो यत् १।१।६६। एभ्यो यत् स्यात् ।

महंति षण्ढ्यः । अर्घ्यः । वध्यः ।

४८२ । तेन निर्वृत्तम् १।१।७६। अह्ना निर्वृत्तम् आह्निः ।

इति ठञोऽवधिः । (गणवतीयाः) ॥१०॥

अथ त्वत्तलोरधिकारः ॥११॥

४८३ । तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः १।१।१११। आह्वयेन

वाम्ह से ठञ् आदि प्रत्यय होते हैं ।

श्वेतच्छत्रिकः—श्वेतच्छत्रम् महंति (श्वेतच्छत्र को प्राप्त करने है—श्वेतच्छत्रम्+ठञ्→ठ को इक→आदिवृद्धि ए को ऐ घन्तय घकार लोप—श्वेतच्छत्र्+इक→श्वेतच्छत्रिकः ।

दण्डादिभ्य इति—द्वितीयान्त दण्ड आदि शब्दों से 'महंति' अर्थ में प्रथम होता है ।

वध्यः—दण्डम् महंति (दण्ड प्राप्त करने योग्य)—दण्ड+यत्→घ घ का लोप दण्ड्यः । इसी प्रकार अर्घ्यमहंति, भूतय या पूजा विधि के यो अर्घ्य+यत् अर्घ्यः । वधमहंति (वध के योग्य) वध+यत्→वध्यः ।

४८२ तेनेति—तृतीयान्त से 'सिद्ध हुआ' (निर्वृत्तम्=निष्पन्नम्) अर्थ में ठञ् प्रथम होता है ।

आह्निकम्—आह्ना निर्वृत्तम् (एक दिन में सिद्ध होने वाला)—आ+ठञ्→अहन्+इक→अन् के अ का लोप (अस्तोषोजः) आदिवृद्धि आ+इक आह्निकम् । इति ठञोऽवधिः ॥१०॥

अथ त्वत्तलोरधिकारः—अथ त्वत्तलोर् तत् का अधिकार है ।

४८३, तेन तुल्यमिति—तृतीयान्त से तुल्य अर्थ में वति प्रत्यय होता । जो तुल्य है यदि वह क्रिया हो ।

वति में इकार इत्संज्ञक है । 'यत्' धेय रहता है ।

ब्राह्मणवत् अधीते । क्रिया चेदिति किम् ? गुणतुल्ये मा भूत् । पुत्रेण तुल्यः स्थूलः ।

४८४ । तत्र तस्येव १।१।१६। मधुराणामिव मधुरावत् स्रुद्धे प्राकारः । चैत्रस्येव चैत्रचन्मीत्रस्य रावः ।

४८५ । तस्य भावस्त्वतलो १।१।१६। प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः । गौर्बो गोत्वम् । गोता । स्वान्त वल्लोचम् ।

ब्राह्मणवद् अधीते ब्राह्मणेन तुल्यम् (ब्राह्मण क तुल्य) — यहाँ अभ्ययन क्रिया समान है अतः ब्राह्मण' शब्द से वति प्रत्यय होकर ब्राह्मण + वति → ब्राह्मण + वत् → ब्राह्मणवत् । वत् प्रत्ययान्त शब्द अभ्यय होता है और इसका प्रयोग क्रिया विशेषण के रूप में होता है ।

क्रिया चेदिति—ऐसा क्यों कहा कि 'यदि तुल्य क्रिया हो' ? इसलिप् कि गुण की समानता होने पर वति प्रत्यय नहीं होता, जैसे—'पुत्रेण तुल्यः स्थूलः' यहाँ स्थूलता रूप गुण की समानता है, अतएव वति प्रत्यय नहीं होता ।

४८४. तत्रेति—सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्त से समानता भवे (इव भवे) में वति प्रत्यय होता है । यहाँ 'क्रिया चेत्' की अनुवृत्ति नहीं होती अतः द्रव्य आदि की समानता में यह 'वति' प्रत्यय होता है ।

मधुरावत् स्रुद्धे प्राकारः—मधुराणाम् इव (मधुरा के समान)—मधुरा + वति → मधुरावत् । स्रुद्ध और मधुरा के 'प्राकार' समान हैं ।

चैत्रवत् चैत्रस्य रावः—चैत्रस्य इव (चैत्र के समान)—चैत्र + वति → चैत्र + वत् । चैत्र तथा चैत्र की रावें समान हैं ।

४८५. तस्य भाव इति—षष्ठ्यन्त से भाव अर्थ में त्व और लृट् प्रत्यय होते हैं ।

प्रकृति इति—प्रकृति द्वारा उत्पन्न होने वाले ज्ञान में जो विशेषण होता है वह भाव कहलाता है ।

अभिप्राय यह है कि जिससे प्रत्यय का विधान किया जाता है वह प्रकृति कहलाती है, जैसे जो आदि अन्तः । जो शब्द से जो व्यक्ति का बोध होना है जिसे दूसरे अर्थों में कह सकते हैं—'गोत्व-विशिष्ट गो व्यक्ति' यही गो

तत्तन्तं त्रियात्मम् ।

४८६ । आ च त्वात् १।१।२०। अक्षरान्तव इत्यतः  
स्वतन्त्रावभिक्रियेते । अपवादैः सह समावेशार्थमिदम् । चकारो नञ्  
भूभ्यामपि समावेशार्थः । मित्र्याः भावः स्त्रीणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्री  
पौन्यम्, पुंस्त्वम्, पुंस्ता ।

४८७ । पृथ्वादिभ्य इमतिज्वा १।१।२२।

व्यक्ति विशेष्य है और 'गोत्व' धर्म विशेषण या प्रकार है । यही  
कहलाता है, जो प्रकृति से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में विशेषण है ।

गोत्वम्. गोता—गोर्भावः (गो का भाव)—गो+त्व→गुं१ प्र  
एकवचन में गोत्वम् । गो+तन्→गो+त→स्त्रीलिङ्ग होने से गोत+राप्  
गोत+आ→गोता ।

त्वाभ्यमिति—(लि०) एव प्रत्ययान्त धातु नपुंसकलिङ्ग होने हैं ।

तत्तन्मिति—(सि०) तत्तन्त धातु स्त्रीलिङ्ग होने हैं ।

४८६ आधेति—“अक्षरान्तव १।१।२०” से पहले तत्त्व और  
प्रत्यय का अधिकार है ।

अपवादैरिति—“पृथ्वादिभ्य इमतिज्वा” इत्यादि अपवादों के साथ  
और तन् प्रत्यय का समावेश करने के लिये यह अधिकार दिया गया है ।  
इसका फल यह होगा है कि ‘इमनिष्’ आदि प्रत्यय एवं और तन् के साथ  
नहीं होने तथा ‘पृथ्’ से पृथ्वा, पृथ्त्व धातु भी बन जाते हैं ।

चकार इति—‘नृच मे च’ (और, भी) मध्य और समग्र (स्त्रीपुंवाच  
नञ्प्रत्ययों भवनान् ४।१।२७) के साथ भी एवं और तन् का समावेश करने  
लिये है । इमनिष् स्त्री लङ्ग से याच में नञ् (स्त्रीलृप्), एवं (स्त्रीलृप्), च  
तन् (स्त्रीलृप्) आत्यय होने हैं तथा पुंस् लङ्ग के इमन् (पौन्यम्), एवं (पुंस्त्वम्)  
और तन् (पुंस्ता) ।

४८७. पृथ्वादिभ्य इति—पृथ्वादि नृच आदि छन्दों से याच में

धावचनमणादिसमावेशार्थम् ।

४८८ । र ऋतो हलादेर्लघोः ६।४।१६१। हलादेर्लघोश्च कार-  
त्य रः स्यात् इष्टेमेयस्सु परतः ।

४८९ टेः ६।४।१६२। मस्य टेलोप स्यात् इष्टेमेयस्सु । (वा)  
पृथग्भृगुगृहगद्वपरिवृष्टानामेकरत्वम् । पृथोर्भाक् प्रथिमा ।

४९० । (क) इगन्ताच्च लघुपूर्वात् २।१।१२१। इगन्तारुल-

में विकल्प से 'इमनिच्' प्रत्यय होता है । इमनिच् से इमन् लोप रहता है ।

धावचनमिति—अण् प्राति प्रत्यय के समावेश के लिये 'धा' (विकल्प से)  
'कहा गया है ।

४८८. र ऋत इति—जिनके प्राति में हल् (अच्छजन) हो, ऐसे लघु ऋकार  
की र् प्रादेश होता है, इष्टन्, इमनिच् और ईयन् प्रत्यय परे होने पर ।

४८९. टेरिति—मस्यज्ज की टि का लोप हो जाता है । इष्टन्, इमनिच्  
ईयन् प्रत्यय परे होने पर ।

पृथु इति (वा)—पृथु, भृगु, भृश, इय, इह और परिवृष्ट शब्दों के ऋ को  
ही मह र् होता है, (अण् को नहीं); जैसे—

प्रथिमा—पृथोर्भाक् (पृथु का भाव-विस्तीर्णता;—इस विग्रह में पृथु शब्द  
से इमनिच् प्रत्यय होकर पृथु+इमन्→ऋ की र् तथा टि (उ) का लोप प्रच्  
+इमन्→प्रथिमन्→प्र० एक० में प्रथिमा ।

द्विप्लयी—इमनिच् प्रत्ययान्त शब्द पुंल्लिङ्ग होते हैं ।

४९०. (क) इगन्ताच्चेति—इगन्त (जिसके अन्त में इक् अर्थात् इ, उ, ऋ  
है) लघुपूर्वक (जिस इक् से पहले लघु स्वर है) प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय  
होता है ।

पार्थिवम्—पृथोर्भाक्—पृथु शब्द के अन्त में उ (इक्) है और उ से पहला

१. यह सूत्र भीलम्मा प्राति ग्रंथकारों में नहीं है । योज्ञा प्रेस सं० मे है ।



पुपूर्वात् प्रातिपदिकाद् भावेऽण् प्रत्ययः । पार्थवम् अविमा । मार्द  
४८० । वर्णदृढादिभ्यः व्यञ्च १।१।१२३। आदिमति  
शौक्ल्यम्, शुक्लिमा । दाढ्यम्, द्रढिमा ।

४८१ । गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च १।१।१  
आद्भावे । जडस्य भावः कर्म वा जाड्यम्

स्वर लघु है । इसलिये इमनिच् के विकल्प में धृष्ट शब्द से मण् प्रत्यय है ।  
धृ + मण् → मादिबुद्धि<sup>१</sup> ऋ को मार तथा न को गुण<sup>२</sup> भी होकर पा  
+ म → मो को मच् पार्थव् + ण् → पार्थवम् ।

इसी प्रकार मृदोर्भाविः (मृदु का भाव, कोमलता) मृदु + इमनिच् → भावि  
मृदु + मण् → मार्दवम् ।

४८०. वर्ण इति—पठ्यन्त वर्णविशेषवाची शब्द से तथा वृ आदि शब्द  
से भाव अर्थ में व्यञ् प्रत्यय होता है ।

आदिति—च कहने से इमनिच् भी ।

शौक्ल्यम्, शुक्लिमा—शुक्लस्य भावः (शुक्ल का भाव, शुक्लता)—वर्ण  
विशेषवाची शुक्ल् शब्द से व्यञ् प्रत्यय होकर शुक्ल + व्यञ् → शुक्ल + य् →  
मादिबुद्धि ऋ को मार तथा मण्य अकार का लोप, शौक्ल् + य् → शौक्ल्यम् ।  
पक्ष में शुक्ल + इमनिच् → शुक्ल् + इमन् → शुक्लिमा ।

दाढ्यम्, द्रढिमा—दृढस्य भावः (दृढ़ का भाव, दृढता)—दृढ + व्यञ् →  
मादिबुद्धि ऋ को मार तथा धन्य अ का लोप मारद् + य् → दाढ्यम् । पक्ष में  
दृढ + इमनिच्—ऋ को र द्रढिमा ।

४८१. गुणवचनेति—पठ्यन्त गुणवाची शब्द और ब्राह्मण आदि शब्दों  
से भाव तथा कर्म अर्थ में व्यञ् प्रत्यय होता है ।

आदिति—च कहने से भाव में भी होता है ।

जाड्यम्—जडस्य भावः कर्म वा । मूर्ख का भाव या कर्म, मूर्खता)—जड

मूढस्य भावः कर्म वा मोक्षयम् । ब्राह्मण्यम् । आकृतिगणोऽ

४८२ । सख्युर्भवः ३।१।१२६। सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् ।

४८३ । कपिजात्योढेक् ३।१।१२७। कापेयम् । ज्ञातेयम् ।

४८४ । पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ३।१।१२८।

+घ्यम्→घादिबुद्धि (घ को घा) तथा घन्त्य अकार का लोप होकर बाह्+  
घ→बाह्यम् । इसी प्रकार—

मोक्षयम्—मूढस्य भावः कर्म वा (मूढ का भाव वा कर्म)—मूढ+य→  
मोक्षयम् ।

ब्राह्मण्यम्—ब्राह्मणस्य भावः कर्म वा (ब्राह्मण का भाव वा कर्म)—ब्राह्मण  
+यम्→ब्राह्मण्यम् ।

आकृतीति—यह आकृण आदि आकृति गण है ।

४८२. सख्युरिति—पठ्यन्त सखि शब्द से भाव और कर्म, में य प्रत्यय  
होता है ।

सख्यम्—सख्युर्भावः कर्म वा (सखा का भाव वा कर्म, मित्रता) सखि+  
य→घन्त्य प्रकार का लोप सख्+य→सख्यम् ।

४८३. कपिजात्योरिति—पठ्यन्त कपि और जाति शब्द से भाव तथा  
कर्म में ङक प्रत्यय होता है ।

कापेयम्—कपेर्भावः कर्म वा (कपि का भाव वा कर्म)—कपि+ङक्→ङ  
को एय-कपि+एय=घादिबुद्धि तथा घन्त्य इ का लोप होकर काप्+एय→  
कापेयम् । इसी प्रकार ज्ञातेर्भावः कर्म वा (सम्बन्धी का भाव वा कर्म) ज्ञाति+  
ङक्→ज्ञातेयम् ।

४८४ पत्यन्तेति—जिनके घन्त्य में पति शब्द है ऐसे शब्दों से तथा  
'पुरोहित' आदि से भाव और कर्म में यक् प्रत्यय होता है ।

सेनापत्यम् । पुरोहितम् । इति स्वतन्त्रोरधिकारः ॥११॥

अथ भवनाद्यर्थकाः ॥१२॥

४६५ । धान्यानां भवने क्षेत्रे खल्व् ५।२।१। भवत्यस्मिन्नि  
भवनम् । मुद्गानां भवनं क्षेत्रं मौद्गीनम् ।

४६६ । द्राहिशाल्योदङ्क् ५।२।२। घ्रीहेयम् । शालेयम् ।

सेनापत्यम् - सेनापतेः भावः कर्म वा (सेनापति का भाव या कर्म) -  
सेनापति + यक् → धादिवृद्धि<sup>१</sup> ए को ऐ तथा अन्त्य इ का लोप सेनापत् + य -  
सेनापत्यम् ।

पुरोहितम् - पुरोहितस्य भावः कर्म वा (पुरोहित का भाव या कार्य) -  
पुरोहित + यक् → पुरोहितम् । इति स्वतन्त्रोरधिकारः ॥११॥

अथ भवनाद्यर्थकाः—अथ भवन (होने का स्थान)—अर्थ वाले प्रत्यय  
धातुम होते हैं ।

४६५. धान्यानामिति—वर्ण्यन्त धान्यविशेषवाची शब्दों से 'भवनं क्षेत्रम्'  
(होने का स्थान, क्षेत्र)—अर्थ में खल्व् प्रत्यय होता है ।

भवतीति - जिसमें होता है उसे भवन कहते हैं (होने का स्थान) ।

मौद्गीनम्—मुद्गानां भवनं क्षेत्रम् (जिसमें मूँग होती है ऐसा क्षेत्र)—  
मुद्ग + खल्व् → स को ईन—मुद्ग + ईन → धादिवृद्धि<sup>१</sup> उ को औ तथा अन्त्य  
इ का लोप होकर मौद्ग + ईन → मौद्गीनं क्षेत्रम् ।

४६६. घ्रीहीति—वर्ण्यन्त घ्रीहि और शालि शब्दों से 'भवन् क्षेत्रम्' अर्थ  
में ङक् प्रत्यय होता है ।

घ्रीहेयम्—घ्रीहीणां भवनं क्षेत्रम् (जिसमें घ्रीहि होती है ऐसा क्षेत्र)—घ्रीहि  
+ ङक् → ङ को एय होकर घ्रीहि + एय = धादिवृद्धि<sup>१</sup> ई को ऐ तथा अन्त्य इकार  
का लोप—घ्रीह् + एय → घ्रीहेयम् । इसी प्रकार 'शालीनां भवनं क्षेत्रम्' शाली +  
ङक् → शालेयम् ।

४६७ । हेयङ्गवीनं संज्ञायाम् १२।२३। ह्योगोदोहशब्दस्य  
ह्रियङ्गुरादेशः विकारार्थे खञ्च निपात्यते । दुह्यत इति दोहः स्त्रीरम् ।  
ह्योगोदोहस्य विकारः हेयङ्गवीनं नवनीतम् ।

४६८ । तदस्य सज्जातं तारकादिभ्य इतच् १२।३६। तारका  
सज्जाता अस्य तारकित नभः । पण्डितः । आकृतिराणोऽयम् ।

४६७. हेयङ्गवीनम् इति—ह्यो योदोहः (पहले दिन का दुहा हुआ दूध)—  
शब्द को 'ह्रियङ्गु' धादेश और विकार अर्थ में खञ् प्रत्यय का निपातन किया  
गया है, संज्ञा में ।

दुह्यत इति जिसको दुहा जाता है (दुह्यते-कर्मवाच्य)—यह 'दोह'  
कहा जाता है अर्थात् दूध ।

हेयङ्गवीनम्—ह्योगोदोहस्य विकारः (कल के दुहे दूध से बना हुआ या  
निकला हुआ, नवनी घृत)—ह्योगोदोह+खञ्→प्रकृति को ह्रियङ्गु धादेश  
तथा स को ईन होकर ह्रियङ्गु+ईन→धातुवृत्ति इ को ऐ तथा अन्त्य  
उ को गुण (घोर्गुणः) हेयङ्गो+ईन→भो को खञ् होकर हेयङ्गवीन  
नवनीतम् ।

४६८. तदस्येति—प्रथमान्त तारका धारि यमों से "ये इसके हो गये"  
(अस्य सजातम्) इस अर्थ में इतच् प्रत्यय होता है ।

तारकितं नभः—तारकाः संज्ञाता अस्त्य (इसके तारे हो गये या निकल  
गये) —तारकाः संज्ञाता अस्त्य (इसके तारे हो गये या निकल

- ४९९ । प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ५।२।३७।  
 वर्तते । उरु प्रमाणमस्य ऊर्द्वयसम् । ऊर्द्वघ्नम् । ऊर्द्वमात्रम्  
 ५०० । यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ५।२।३६। य  
 णमास्य यावान् । तावान् । एतावान् ।  
 ५०१ । किमिदंभ्यां वो घः ५।२।४०। आभ्यां व  
 षकारस्य घश्च ।  
 ५०२ । इदंकिमोरीष् की ६।३।६०। दृग्दशवतुप्

४९९. प्रमाण इति—प्रमाण विशेष के घर्ष में विद्यमान पथमान्  
 "यद् इतका प्रमाण है" इस घर्ष में द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय  
 (तीनों प्रत्ययों में से व् का लोप हो जाता है।)

ऊर्द्वयसम्, ऊर्द्वघ्नम्, ऊर्द्वमात्रम् उरु प्रमाणस्य (जह्ना है  
 इतका घर्षात् जह्ना तत् जन् घादि) —ऊर् + द्वयसच् → ऊर्द्वयसम्,  
 दघ्नच् → ऊर्द्वघ्नम् ऊर् + मात्रच् → ऊर्द्वमात्रम् ।

५००. यत्तदिनि—अथमागत् यत्, तत्, एतत् शब्दों से 'यद् इतका प्र  
 है" इस घर्ष में वतुप् प्रत्यय होता है । वतुप् में 'वत्' लोप रहता है ।

यावान्—यत्परिमाणम् घस्य (जो है परिमाण इतका, जितना  
 यत् + वतुप् → यन् + वन् → यन् के त् को या (या सर्वनाम्नः १।१।१०)  
 होकर या + वत् → यावत् → पुंस्त्रिङ्ग प्रथमा एकवचन में यावान् ।  
 प्रकार तत्परिमाणस्य (वह है परिमाण इतका, जितना) तन् + वन्  
 तावान् + तावान् ।

एतन् परिमाणस्य—(वह है परिमाण इतका, जितना)—एतन् + वतुप् →  
 एतावन् → एतावान् ।

५०१. किमिदंभ्यामिति—अथमागत् 'किम्' और 'इदम्' शब्द से परिमाण  
 घर्ष में वतुप् प्रत्यय होता है तथा वतुप् के व् को व् हो जाता है ।

५०२. इदमिति—इद्, इध् और वतुप् परे होने पर 'इदम्' को 'इ'



५०५ । उमादुदात्तो नित्यम् १।२।४४ उभयशब्दात्  
रयात् स चाद्वयुदात्तः उभयम् ।

५०६ । तस्य पूरणो ङट् १।२।४५। एकादशानां पूरणः

५०७ । नान्तादसङ्ख्यादेर्मट् १।२।४६। ङटो म  
पञ्चानां पूरणः पञ्चमः । नान्तारिकम् ?

५०५. उमाविति—उभ शब्द से परे तयप् को नित्य भवच् होता  
वह प्राचुदात्त होता है ।

उभयम्—उभो भवयवो यस्य (दो भवयव हैं इसके भवय  
समुदाय) —उभ + भवच् → मन्थ मकार का सोर उभ् + भय → उभय

५०६. तस्येति—पञ्चमन्त संख्याविशेषवाची शब्द से पूरण  
प्राप्त होता है । ङट् में म शेष रहता है ।

टिप्पणी—पूरणार्थ प्रत्ययान्त शब्दों को संस्कृत में पूरण  
कहते हैं । हिन्दी में ये जम्माचक मकशबोचक विशेषण (C  
कहलाते हैं ।

एकादशः—एकादशानां पूरणः (ग्यारह संख्या को पूरा करने  
ग्यारहवां)—एकादशन् + ङट् → एकादशन् म → ङट् प्रत्यय के बित् हो  
(टि) का सोप होकर एकादश् + ङ → (रामवत्) एकादशः ।

५०७. नान्तादिति—जिसके आदि में कोई संख्या न हो ऐसे  
संख्यावाचक शब्द से परे ङट् का मट् का भागम् हो जाता है । मट् में  
रहता है । वित् होने से 'मट्' (भागम्) ङट् के आदि में जाता है म  
+ प्रत्यय = म् + म (ङट्) = म ।

पञ्चमः—पञ्चानां पूरणः (पाँच संख्या को पूरा करने वाला,  
पञ्चन् + ङट् → मट् का भागम् होकर पञ्चन् + म् + म → न् का सोप  
पञ्च + म → पञ्चमः ।

नान्तादिति—नकारान्त से परे ङट् को मट् का भागम् हो

५०८ । ति विशतेरिति ६।४।१४२। विशतेर्भस्य तिशब्दस्य  
पः स्यात् इति परे । विशः । असक्यादेः किम् । एकादशः ।

५०९ । षट्कतिकतिपयचतुरां युक् १।२।११। एषां युगागमः  
इति । पण्यं पूरणं षष्ठं । कतियः । कतिपयशब्दस्यासक्यात्वे-

५०८ ? इसलिये कि विशति आदि (भनकारान्त) से परे मद् का आगम नहीं  
पाया । जैसे—

५०८. ति विशतेरिति—भनञ्चक विशति के ति शब्द का भोग होता है,  
इस परे होने पर ।

विशः—विशतेः पूरणः (बीस संख्या को पूरा करने वाला, बीसवाँ)—विशति  
इत्→ऊपर के सूत्र से ति लोप होकर विश+ध इस दशा में व् से आने  
के अकार को पररूप (मत्तो गुण) हो जाता है—विश+ध+ध→विश+  
→विशः ।

भनस्याधेः किमिति—‘जिसके आदि में संख्या न हो’ ऐसा क्यों कहा ?  
लिए कि ‘एकादश’ में मद् का आगम नहीं होता । यहाँ दशन् शब्द से पूर्व  
‘त’ संख्यावाची शब्द है ।

५०९. षट् इति—षट् कति, कतिपय और चतुर शब्दों को युक् का आगम  
पाया है, इद् प्रात्यय परे होने पर ।

युक् में व् लोप रहता है यह व् नित् होने से षट् आदि शब्दों के भस्म में  
पाया है ।

षष्ठः—पण्यं पूरणः (छः संख्या को पूरा करने वाला, छठा)—षष्+  
→युक् का आगम होकर षष्+त्+ध→ष की ठ (षट्ठ) षष्+ठ→  
षष्ठः । इसी प्रकार ‘कतीनां पूरणः’ कति+युक्+इद्→कतिपयः (नितने  
स्वर का) ।

कतिपयेति—यद्यपि कतिपय शब्द संख्यावाचक नहीं (उससे इद् प्रात्यय



ऽयत्तप् चशापकाङ्गद । कतिपययः । चतुर्थः ।

५१० । द्वितीयः २।२ २४। द्वितीयः । द्वयोः पृ  
द्वितीयः ।

५११ । त्रैः सम्प्रसारणं च २।२।५१। तृतीयः ।

५१२ । श्रोत्रियं दध्यन्दोऽधीते २।२।५२। श्रोत्रियः ।

प्राप्त नहीं होगा) तथापि इट् परे होने पर कतिपय को बुक् का आगम न  
है, इस जापक से इससे इट् प्रत्यय होता है ।

कतिपययः—कतिपयानो पूरणः (द्वितीयों का पूरा करने वाला)—कति  
+ बुक् + इट् → कतिपययः ।

चतुर्थः—चतुर्थी पूरणः (चार संख्या पूरा करने वाला, चौथा)—चतु  
+ बुक् → चतुर्थः ।

५१०. द्वितीय इति—द्वि शब्द से पूरण अर्थ में तीस प्रत्यय होता है । य  
इट् प्रत्यय का वाचक है ।

द्वितीयः—द्वयोः पूरणः (दो संख्या को पूरा करने वाला, दूसरा)—द्वि +  
तीय → द्वितीयः ।

५११. त्रैरिति—त्रि शब्द से पूर्ण अर्थ में तीस प्रत्यय होता है और त्रि को  
सम्प्रसारण भी हो जाता है ।

तृतीयः—त्रयाणां पूरणः (तीन संख्या को पूरा करने वाला, तीसरा) त्रि  
+ तीय → ट् को ऋ (सम्प्रसारण) होकर (त् + ऋ + इ) + तीय इस दशा में इ  
को पूर्व रूप<sup>१</sup> (ऋ + इ = ऋ) होकर तृ + तीय → तृतीयः ।

५१२. श्रोत्रियन् इति—‘वेद (ध्वम्) पढ़ता है’ इस अर्थ में श्रोत्रिय शब्द  
का निपातन किया गया है ।

श्रोत्रियः—ध्वन्दोऽधीते (वेद पढ़ने वाला, वेदपाठी) इस विग्रह में ध्वन्द्  
शब्द से निपातन द्वारा यन् प्रत्यय और ध्वन्द् को श्रोत्र आदेश होता है । श्रोत्र  
+ यन् → श्रोत्र + यन् → ध्वन्त् य का लोप श्रोत्रियः ।

वेत्यनुवृत्तेऽद्यान्दसः ।

५१३ । पूर्वादिनिः १।२।८६। पूर्व कृतमनेन पूर्वी ।

५१४ । सपूर्वाच्च १।२।८७। कृतपूर्वी ।

५१५ । इष्टादिभ्यश्च १।२।८८। इष्टमनेन इष्टी । अचोमी ।

इति भवनाद्यर्थका ॥१२॥

वेति—तावतिष ग्रहणमिति मुन्वा १।२।७७ इमं सूत्र मे वा' की अनुवृत्ति होती है इसलिये पक्ष मे आहन् वाच्य से अण् प्रत्यय होकर अहन् + अण् → आहिवृद्धि आन्दसः ।

टिप्पणी—अन् प्रत्यय मे (ओषियन्) गकार स्वर के लिये है । पक्ष मे आहो-ओषीते 'आन्दसः' यह रूप होना है । भाषा-विज्ञान की शास्त्र के अनुसार न। ओषियः भिन्न वाच्य है, इसकी आहन् वाच्य से व्युत्पत्ति नहीं होती, अथ की समानता समझ है ।

५११-पूर्वाद् इति—द्वितीयागत पूर्व वाक्य से 'अनेन कृतम्' (इमने किया) आदि अर्थ मे इनि प्रत्यय होता है ।

पूर्वी—पूर्व कृतम् अनेन (पहले किया है इसने)—इस विग्रह मे पूर्व वाक्य मे इनि प्रत्यय होता है । पूर्व + इनि → पूर्व + इन → अन्त्य स वा पाठ पूर्वम्, अथवा एकवचन मे पूर्वी ।

५१४. सपूर्वादिति—जिससे पहले दूसरा वाक्य हो (सपूर्व पूर्व महिन) उसे पूर्व वाक्य से भी 'अनेन कृतम्' इस अर्थ मे इनि प्रत्यय होता है ।

कृतपूर्वी—कृत पूर्वम् अनेन किया है पहले इसने—इस विग्रह मे कृतपूर्व वाक्य से इनि प्रत्यय होकर पूर्वश्च रूप बनता है ।

५१५. इष्टादिभ्यश्च इति—इष्ट आदि वाक्यों से अनेन इष्टम् आदि अर्थ मे इनि प्रत्यय होता है ।

इष्टी—इष्टम् अनेन (इसने यज्ञ किया है)—इस विग्रह मे इष्ट + इनि → इष्टिन् (प्र० एक०) इष्टी ।



वेत्यनुवृत्तेऽज्ञानदसः ।

५१३ । पूर्वादिनिः १।२।८६। पूर्व कृतमनेन पूर्वी ।

५१४ । सपूर्वाच्च १।२।८७। कृतपूर्वी ।

५१५ । इष्टादिभ्यश्च १।२।८८। इष्टमनेन इष्टी । अचीती ।

इति भवनाद्यर्थकाः ॥२२॥

वेति—तावदित्यं ग्रहणमिति सुखा १।२।७७ इय सूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति होती है इसलिये पक्ष में छन्दस् शब्द से अण् प्रत्यय होकर छन्दस् + अण् → आदिबुद्धि ध्यान्दसः ।

दिप्पणी—अन् प्रत्यय में (ओनियन्) नकार स्वर के लिये है । पक्ष में छादो-अग्ने 'छान्दसः' यह रूप होता है । जाया-विज्ञान की शोध के अनुसार तो ओशियः मिल शब्द है, इसकी छन्दस् शब्द से व्युत्पत्ति नहीं होती, अर्थ की समानता परवच्य है ।

५१३-पूर्वाद् इति—इतीयात् पूर्व शब्द से 'अनेन कृतम्' (इसने किया) आदि अर्थ में इति प्रत्यय होता है ।

पूर्वी—पूर्व कृतम् अनेन (पहले किया है इसने)—इस विग्रह में पूर्व शब्द से इति प्रत्यय होता है । पूर्व + इति → पूर्व + इन् → अन्त्य अ का लोप 'पूर्विन्', शब्दा एवमचन में पूर्वी ।

५१४. सपूर्वाविति—जिससे पहले दूसरा शब्द हो (सपूर्व पूर्व सहित) ऐसे पूर्व शब्द से भी 'अनेन कृतम्' इस अर्थ में इति प्रत्यय होता है ।

सपूर्वी—इत् पूर्वम् अनेन किया है पहले इसने)—इस विग्रह में कृतपूर्व शब्द से इति प्रत्यय होकर पूर्वस् रूप बनता है ।

५१५. इष्टादिभ्य इति—इष्ट आदि शब्दों से 'अनेन इष्टम्' आदि अर्थ में इति प्रत्यय होता है ।

इष्टी—इष्टम् अनेन (इसने यज्ञ किया है)—इस विग्रह में इष्ट + इति → इष्टिन् (२० एक०) इष्टी ।



५१७। तसौ मत्वर्थे ५।१२।१। तान्तसान्तौ मसञौ स्तो मत्वर्थे प्रत्यये परे। गरुमान्। वसोः सम्प्रसारणम् विदुष्मान्। छ्(वा) गुणवचनेभ्यो मनुषो लुगिष्टः। शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति शुक्लः पटः। कृष्णः।

५१८। प्राणिस्थादाती लज्जन्मरस्याम् ५।२।६६।

५१७। तसौ, इति—तकारान्त घोर सकारान्त धातु भसञक होते हैं मत्वर्थक प्रत्यय परे होने पर।

गरुमान्—गरुतः यस्य सन्ति (पंख जिनके हैं, पक्षी गरुत् + मनुप् → गरुत् + मत् (यहाँ गरुत् की भसञा हो जाने से पद संज्ञा का बाध हो जाता है तथात् को 'प्रत्यये भाषावां निरूपम्' से अनुनासिक (म्) नहीं होता। गरुमत्—प्र० एक० में गरुमान्।

विदुष्मान्—विद्वांसः यस्य सन्ति (विद्वान् जिनके हैं)—विद्वत् + मनुप् → भसञा होने से सम्प्रसारण' अर्थात् व् को उ होकर विद् + उ + म + स् + मत् → म् को पूर्वं रूपं विद् + उ + स् + मत् → विदुष्मत् प्र० ए० विदुष्मान्।

गुणवचनेभ्य इति वा—गुणवाचक शब्दों से परे मनुप् का लोप होना अभीष्ट है।

दिप्पली—जो शब्द गुण और गुणवान् दोनों के लिये आते हैं वे ही यहाँ गुणवचन कहे गये हैं, जैसे—शुक्लो वर्णः, शुक्लो वस्त्रः। इस लिये रूप' बादि शब्दों से परे मनुप् का लोप नहीं होता जैसे—रूपवान्।

शुक्लः पटः—शुक्लो गुणोऽस्यास्ति (श्वेत गुण वाला वस्त्र)—शुक्ल + मनुप् → मनुप् लोप होकर शुक्ल पटः। इसी प्रकार कृष्णो गुणोऽस्यास्तीति कृष्णः।

५१८. प्राणिस्थाद् इति—प्राणी में स्थित भक्ष्यवाचक धाकारान्त धातु से मत्वर्थ में विकल्प से लज् प्रत्यय होता है।

१. वसोः सम्प्रसारणम् ६।१।२३।

२. सम्प्रसारणम् ६।१।२०८।

चूडालः । चूडावान् । प्राणिस्यात्किम् ? शिखावान् क्षीपः । प्राण्यज्ञादेव  
नेह—मेघावान् ।

५१६ । लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः ॥२॥  
लोमादिभ्यः शः । लोमशः । लोमवान् । रोमशः । रोमवान् । पामादि  
भ्यो नः पामनः । ० (ग० सू०) अङ्गात्कस्याणे ॥ अङ्गता ।

चूडालः, चूडावान्—चूडा अन्त्य अस्ति (चोटी जिसके है)—चूडा + लच् →  
चूडालः । वक्ष मे—चूडा + मतुप् → चूडा + लच् मतुप् के ल को व' होकर →  
चूडावत् प्र० एक० मे चूडावान् ।

प्राणिस्यात् किमिति—'प्राणी में स्थित हो' ऐसा क्यों कहा ? इस विषये  
कि "शिखावान् क्षीपः" यहाँ लच् न हो । यहाँ शिखा क्षीप में है, प्राणिस्य  
नहीं, अतः मतुप् प्रायय ही होता है लच् नहीं ।

प्राण्यज्ञादेव—प्राणी के अङ्गबाची से ही लच् प्रायय होता है, इस विषये  
'मेघाश्रयास्तीति मेघावान्' यहाँ मेघा शब्द से 'लच्' नहीं होना अतः मतुप्  
प्रायय होता है । मेघा (बुद्धि) प्राणी का अङ्ग नहीं, मूर्त हाथ, पैर आदि  
ही प्राणी के अङ्ग कहलाने हैं ।

५१६, लोमादीति—परवर्च में लोमादि शब्दों से 'ल' पामादि शब्दों से  
'न' तथा पिच्छादि शब्दों में इलच् प्रायय, विरल्य से होते हैं ।

लोमजः, लोमवान्—लोमानि अन्त्य सन्ति (लोम जिसके हैं, लोम काया)  
लोमन् + ण → नकार का लोम' होकर लोमजः । वक्ष मे मतुप्—लोमन् +  
मनुप् → लोमवान् । इसी प्रकार 'रोमाणि अन्त्य सन्ति'—रोमजः, रोमवान् ।

पामनः—पाम अन्त्याणि (लुबमी इसके हैं) पामन् + न → पामन् पाम्  
लोम होकर पाम + न → पामनः । वक्ष मे—पामवान् ।

\* (ग० सू०) लक्ष्म्या अच्च् ॥ लक्ष्मणः ॥ पिच्छादिभ्य इलच् ।  
पिच्छलः, पिच्छवान् ।

५२० । दन्त उन्नत उरच् ॥ २।२।१०६। उन्नता दन्ताः सत्यस्य  
दन्तुरः ।

५२१ । केशाद्वोज्यतरस्याम् ॥ २।२।१०६। केशवः, केशी,

घञ्जाविति (ग० सू०) शोभनाञ्ज विभक्त घञ्ज शब्द से मत्वर्थ में न प्रत्यय  
होता है ।

घञ्जना—कल्याणानि (शोभनानि) घञ्जानि सन्ति घस्याः (सुन्दर  
घञ्ज हैं इसके)—घञ्ज + न → दन्तीत्वकोषक टाप् (घा) प्रत्यय होकर घञ्जना  
(दन्ती) ।

लक्ष्म्या—(ग० सू०)—लक्ष्मी शब्द से मत्वर्थ में न प्रत्यय होता है और  
इसके अन्त को अकार ही आता है ।

लक्ष्मणः—लक्ष्मीः अस्वास्ति (लक्ष्मी इसके हैं, लक्ष्मी आता)—लक्ष्मी +  
न → घनघ (ईकार) को अकार होकर लक्ष् + न → नू को ए लक्ष्मणः । पक्ष  
में—लक्ष्मी + मतुप् → लक्ष्मी + मतुप् → लक्ष्मीवान् ।

पिच्छलः—पिच्छः स्वास्ति (मोक्षं ल इसके हैं)—पिच्छ + इलच् → मत्व  
अकार का लोप होकर पिच्छ + इल → पिच्छलः । पक्ष में पिच्छ + मतुप् →  
पिच्छवान् ।

५२०, दन्त इति—उन्नतदन्तार्थक दन्त शब्द से मत्वर्थ में उरच् प्रत्यय  
होता है ।

दन्तुरः—उन्नता दन्ताः अस्य सन्ति (ऊँचे दाँत इसके हैं, दाँतू)—दन्त +  
उरच् → घनघ घ का लोप दन्त् + उर → दन्तुरः ।

५२१, केशादिति—केश शब्द से मत्वर्थ में विभक्त्य से न प्रत्यय  
होता है ।

टिप्पणी—तद्धित प्रकरण में 'वा' का अधिकार चल ही रहा है ।



केशिकः, केशवान् । \* (वा) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ॥ मलि

\* (वा) अर्णसो लोपश्च ॥ अर्णवः ।

५२२ । अत इतिठनी ५।२।११५ । दण्डी । दण्डिकः ।

इस सूच में फिर से 'अन्यतरस्याम्' (विकल्प से) कहने ॥ कारण केश व  
इति तथा ठन् प्रत्यय भी होते हैं । इस प्रकार व, इति, ठन् और म  
चार प्रत्यय केश शब्द से मत्वर्थ में हो जाते हैं । जैसे—

केशवः, केशी, केशिकः, केशिवान्—केशा अस्य सन्ति (केशों का)  
केश + व → केशवः । पक्ष में—केश + इति → अन्य प्रकार का लोप के  
इन् → केशिन्, केशी । केश + ठन् → ठ् को इक् केश + इक्, अन्य प्र  
केशिकः । केश + मतुप् → केशवान् ।

अन्येभ्य इति (वा)—'केश' से भिन्न शब्दों से भी मत्वर्थ में व  
देला जाता है ।

मलिवः—मलिरस्यास्ति (मलि वाला, विशेष प्रकार का नाग)—म  
व → मलिवः ।

अर्णस इति (वा)—अर्णस् शब्द से मत्वर्थ ॥ व प्रत्यय होता है अ  
का लोप हो जाता है ।

अर्णव—अर्णासि सन्ति अस्मिन् (जल वाला, सागर)—अर्णस् +  
स् लोप → अर्ण + व → अर्णवः ।

५२२. अत इति—प्रकारान्त शब्द से मत्वर्थ में इति और ठन्  
होते हैं, विकल्प से ।

दण्डी, दण्डिकः—दण्डोऽस्यास्ति (दण्ड जिसके है, दण्ड वाला)  
दण्ड + इति → दण्ड + इन् → अन्य प्रकार का लोप होकर दण्डिन् प्र  
में दण्डी । दण्ड + ठन् → ठ् को इक् → दण्डिकः । पक्ष में दण्ड +  
दण्डवान् ।

५२३ । श्रीह्यादिभ्यश्च ५२।११५ श्रीही, श्रीहिकः ।

\* ५२४ । अस्मायामेधास्त्रजो विनिः ५२।१२१ यशस्वी,  
यशस्वान् । मायावी । श्रीह्यादिपाठादिनिठनौ । मायी । मायिकः ।  
मायावान् । मेधावी । स्रग्वी ।

५२५ । वाचो गिमनिः ५२।१२५ वाग्मी ।

५२३ . श्रीह्यादिभ्य इति—श्रीहि प्राक् वाच्यो से श्री मत्वर्थ में इति और  
ठन् प्रत्यय होते हैं और मत्वर्थ भी ।

श्रीही, श्रीहिकः—श्रीह्यः अस्म्य सन्ति । प्राक् इसके हैं, प्राक् वाला —श्रीहि  
+ इन् → अस्म्य इ का लोप - श्रीह् + इन् → श्रीहिन् (श्रीही) तथा श्रीहि +  
इन् → इ को इक् तथा अस्म्य इ का लोप होकर श्रीह् + इक् → श्रीहिकः । पक्ष  
में श्रीहिमान् ।

५२४ . अस्मायेति—अस्मात् (अस्मि वाच्यों के अस्त में अस् हो) तथा माया,  
मेधा और स्रग् वाच्य से मत्वर्थ में विनि प्रत्यय होता है ।

यशस्वी—यशीज्वास्ति (जिसके यश हैं, यश वाला)—अस्मात् यशस् वाच्य  
से यशस् + विनि → यशस् + विन् → यशस्वित् प्र० एक० से यशस्वी । पक्ष में  
यशस् + मत्वर्थ → यशस्वान् ।

इसी प्रकार मायाज्वास्ति, माया + विनि → मायावी, मायावान् । मेधा-  
ज्वास्ति, मेधा + विनि → मेधावी, मेधावान् । स्रग् अस्मास्ति (माला जिसके हैं,  
माला वाला) स्रग् + विनि → स्र् को ग् (चोः कुः), स्रग् + विन् → स्रग्वी,  
स्रग्वान् ।

५२५ . वाच इति—वाच् वाच्य से मत्वर्थ में गिमनि प्रत्यय होता है ।

वाग्मी—वाचोज्वास्ति (वाणी इसके हैं, प्रवास्त वाणी वाला)—वाच्  
+ गिमन् → व को क् (चोः कुः) तथा ग् (अस्त्व) होकर वाग् + गिमन् →

१. वाग्मी में वो लकार है ।

केशिकः, केशवान् । \* (वा) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ॥ मणि

\* (वा) अर्णसो लोपश्च ॥ अर्णवः ।

५२२ । अत इनिठनी ५।२।११५ । दण्डी । दण्डिकः ।

इस सूत्र में फिर से 'अन्यतरस्याम्' (विकल्प से) कहने के कारण केश व इनि तथा ठन् प्रत्यय भी होते हैं । इन प्रकार व, इनि, ठन् और मकार प्रत्यय केश शब्द से मत्वर्च में हो जाते हैं । जैसे—

केशवः, केशी, केशिकः, केशिवान्—केशा अस्य सगित (केशा केश + व → केशवः । पञ्च मे—केश + इनि → अस्य प्रकार का लोप हो इन् → केशिन्, केशी । केश + ठन् → ठ् को दृक् केश + इक्, अस्य प्रकार केशिकः । केश + मनुप् → केशवान् ।

अन्येभ्य इति (वा)—'केश' से भिन्न शब्दों से भी मत्वर्च में व देला जाता है ।

मणिकः—मणिरस्यास्ति (मणि बाला, विशेष प्रकार का माग)—मणि व → मणिवः ।

अर्णत इनि (वा)—अर्णम् शब्द में मत्वर्च में व प्रत्यय होता है मर्ण का लोप हो जाता है ।

अर्णव—अर्णाणि सन्ति अस्मिन् (अण बाला, मागर्)—अर्णम् + म् लोप → अर्ण + व → अर्णवः ।

५२२. अत इनि—अकारान्त शब्द में मत्वर्च में व इनि और ठन् होने हैं, विकल्प से ।

दण्डी, दण्डिकः—दण्डीप्रत्याप्ति (दण्ड भिन्नके है, दण्ड बाण दण्ड + इनि → दण्ड + इन् → अस्य प्रकार का लोप होकर दण्डिन् प्र० में दण्डी । दण्ड + ठन् → ठ् को दृक् → दण्डिकः । पञ्च में दण्ड + मनुक्कान् ।

\* (ग० सू०) लक्ष्म्या अच्च । लक्ष्मणः । पिच्छादिभ्य इलच् ।  
पिच्छिलः, पिच्छवान् ।

५२० । दन्त उन्नत उरच् ५।२।१०६। उन्नता दन्ताः सन्तपस्य  
दन्तुरः ।

५२१ । केशाढोऽन्यतरस्याम् ५।२।१०६। केशवः, केशी,

अङ्गादिति (ग० सू०) सोमनाङ्ग विरयक अङ्ग शब्द से मत्वर्थ में न प्रत्यय होता है ।

अङ्गना—स्वाशानि (सोमनाङ्ग) अङ्गानि सन्ति अस्याः (सुन्दर अङ्ग है जिसके) —अङ्ग + न → स्त्रीत्वबोधक टाप् (घा) प्रत्यय होकर अङ्गना (स्त्री) ।

लक्ष्म्या—(ग० सू०)—लक्ष्मी शब्द से मत्वर्थ में न प्रत्यय होता है और इसके अन्त को अकार ही जाता है ।

लक्ष्मणः—लक्ष्मीः अस्यास्ति (लक्ष्मी इसके है, लक्ष्मी वाला)—लक्ष्मी + न → अगम्य (ईकार) को अकार होकर लक्ष्म + न → न् को ए लक्ष्मणः । पक्ष में—लक्ष्मी + मतुप् → लक्ष्मी + मतुप् → लक्ष्मीवान् ।

पिच्छिलः—पिच्छः स्वास्ति (मोग्यस्य इसके है)—पिच्छ + इलच् → अगम्य प्रकार का लोप होकर पिच्छ + इल → पिच्छिलः । पक्ष में पिच्छ + मतुप् → पिच्छवान् ।

५२०, दन्त इति—उन्नतदन्तार्थक दन्त शब्द से मत्वर्थ में उरच् प्रत्यय होता है ।

दन्तुरः—उन्नता दन्ताः अस्य सन्ति (ऊँचे दाँत इसके हैं, दाँतू)—दन्त + उरच् → अगम्य अ का लोप दन्त् + उर → दन्तुरः ।

५२१, केशादिति—केश शब्द से मत्वर्थ में विकल्प से न प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—तद्धित प्रकरण में 'वा' का अधिकार चम ही रहा है ।

केशिकः, केशवान् । \* (वा) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ॥ म  
 \* (वा) अणंसो लोपश्च ॥ अर्थवः ।

५२२ । अत इनिठनी ५।२।११५ । दण्डी । दण्डिकः

इस सूत्र में फिर से 'अन्यतरस्याम्' (विकल्प से) कहने के कारण केश  
 इनि तथा ठन् प्रत्यय भी होते हैं । इस प्रकार व, इनि, ठन् और  
 चार प्रत्यय केश शब्द से मत्वर्थ में हो जाते हैं । जैसे—

केशवः, केशी, केशिकः, केशिवान्—केशा अस्य सन्नि (केशा  
 केश+व→केशवः । पक्ष में—केश+इनि→अन्त्य अकार का लोप  
 इन्→केशिन्, केशी । केश+ठन्→ठ् को इक् केश+इक्, अन्त्य अ  
 केशिकः । केश+मत्तुप्→केशवान् ।

अन्येभ्य इति (वा)—'केश' से भिन्न शब्दों से भी मत्वर्थ में व  
 देला जाता है ।

मणिकः—मणिरस्यास्ति (मणि वाला, विशेष प्रकार का नाग)—म  
 व→मणिवः ।

अणंस इति (वा)—अणंस् शब्द से मत्वर्थ में व प्रत्यय होता है अ  
 का लोप हो जाता है ।

अणंव—अणांसि सन्नि अस्मिन् (जग वाला, सागर)—अणंस्+  
 व लोप→अणं+व→अणंवः ।

५२२. अत इति—अकारान्त शब्द से मत्वर्थ में इनि और ठन्  
 होते हैं, विकल्प से ।

दण्डी, दण्डिकः—दण्डोऽस्यास्ति (दण्ड जिसके है, दण्ड वाला)  
 दण्ड+इनि→दण्ड+इन्→अन्त्य अकार का लोप होकर दण्डिन् प्र० प  
 में दण्डी । दण्ड+ठन्→ठ् को इक्→दण्डिकः । पक्ष में दण्ड+म  
 दण्डवान् ।

१. अत इनिठनी ५।२।११५ (५२२)

५२३ । व्रीह्यादिभ्यश्च ५।२।११५। व्रीही, व्रीहिकः ।

\* ५२४ । यस्मायामेधास्तजो विनिः ५।२।१२१। यशस्वी,  
यशस्वान् । मायावी । व्रीह्यादिपाठादिनिठनौ । मायी । मायिकः ।  
मायावान् । मेधावी । स्तजवी ।

५२५ । वाचो गिमनिः ५।२।१२५। वाग्मी ।

५२३ । व्रीह्यादिभ्य इति—व्रीहि आदि शब्दों से भी मत्वर्थ में इनि घोर  
ठन् प्रत्यय होते हैं घोर मतुप् भी ।

व्रीही, व्रीहिकः—व्रीह्यः यस्य सति । धान इसके हैं, धान वाला—व्रीहि  
+ इन् → यन्त इ का सोप - व्रीह् + इन् → व्रीहिन् (व्रीही) तथा व्रीहि +  
इन् → व् को इक् तथा यन्त इ का सोप होकर व्रीह् + इक् → व्रीहिकः । पक्ष  
में व्रीहिमान् ।

५२४. यस्मादेति—यस्य (जिन शब्दों के धन्त में यस् हो) तथा माया,  
मेधा और स्तज् शब्द से मत्वर्थ में विनि प्रत्यय होता है ।

यशस्वी—यशोऽस्यास्ति (जिसके यश है, यश वाला)—यस्य यशस् शब्द  
से यशस् + विनि → यशस् + विन् → यशस्विन् प्र० एक्० में यशस्वी । पक्ष में  
यशस् + मतुप् → यशस्वान् ।

इसी प्रकार मायाज्यास्ति, माया + विनि → मायावी, मायावान् । मेधा-  
ज्यास्ति, मेधा + विनि → मेधावी, मेधावान् । स्तज् प्रत्यास्ति (माता जिसके है,  
माता वाला) स्तज् + विनि → ज् को ग् (घोः कृः), सप् + विन् → स्तजवी,  
स्तजवान् ।

५२५. वाच इति—वाच् शब्द से मत्वर्थ में गिमनि प्रत्यय होता है ।

वाग्मी—वाकोऽय सति (वाणी इसके है, प्रशस्त वाणी वाला)—वाच्  
+ गिमन् → व् को क् (घोः कृः) तथा ग् (अस्त्व) होकर वाच् + गिमन् →

१. वाग्मी में वो गकार है ।

५२६ । अर्शं प्रादिभ्योऽच् ५।२।१२७। अर्शोऽय  
अर्शसः । आकृतिगणोऽयम् ।

५२७ । अर्हंशुभमोयुंस् ५।२।१२८। अर्हंशुः अर्हश्चरः  
शुभंयुस्तु शुभाम्बितः । इति मत्वर्थायाः ॥१३॥

अय प्राग्दिशीयाः ॥१४॥

५२८ । प्राग्दिशी विभक्तिः ५।३।१। दिक्शब्देभ्य

प्राग्दिशम् → बागमी ।

५२६. अर्शं इति—अर्शम् प्रादि अर्शो से मत्वर्थ में अच् प्राप्य होना

अर्शसः—अर्शाणि समित् अर्श (बगामी) इसके है, बगामी का  
अर्शम् + अच् → अर्शसः ।

आकृतीति—अर्शं प्रादि आकृति गण है ।

५२७. अर्हंशु इति—अर्हम् और शुभम् मत्व से मत्वर्थ में युग् प्राप्य  
है ।

'अर्हम्' अर्हश्चर अर्थ में अर्हश्चर है और 'शुभम्' शुभ अर्थ में प्राप्य  
युग् में यु संभ रहना है ।

अर्हंशुः—अर्हम् (अर्हश्चरः) अर्हाम्बित (अर्हश्चर नाम)।—अर्हम् + शु  
अर्हम् + शु → श् को अनुस्वार अर्हंशुः । इसी प्रकार 'शुभमाम्बित' शुभम् +  
→ शुभम् ।

दिक्शब्देभ्य—युग् प्रत्यय के मिलने से पूर्व की पर मत्रा (मिति च)  
है तथा वदन्त्य के बच्चा को अनुस्वार हो जाता है (मोऽनुस्वारः) ५।३।२

इति मत्वर्थाया ॥१३॥

अय प्राग्दिशीयाः—यही से प्राग्दिशीय प्रत्यय आरम्भ होने है ।

५२८. प्राग्दिशी इति—दिक्शब्देभ्य—अर्शोऽय ५।३।१११

यमाणाः प्रत्यया विभक्तिसङ्गा स्युः ।

५२६ । किसर्वनामबहुभ्योऽद्वयादिभ्यः ५।३।२। किमः सर्व-  
बहुशब्दाच्चेति प्राग्दिशोऽधिक्रियते ।

५३० । पञ्चम्यास्तसिल् ५।३।७। पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्य-  
वा स्यात् ।

५३१ । कु तिहोः ७।२।१०४। किमः कु स्यात्तादौ ह्यादौ च  
परतः । कुनः । कस्मान् ।

५३२ । इदम इश् ५।३।३। प्राग्दिशीये परे इतः ।

पहले जो प्रत्यय न हों जायेंगे, उनकी विभक्ति संज्ञा होती है ।

किसर्वनामेति—द्वि धादि से भिन्न सर्वनाम, किम् तथा बहु शब्द  
होते हैं) यह 'दिक्शब्देभ्य' से पहले तक अधिकार है ।

सर्व भी सर्वनाम है किन्तु यह द्वि धादि से आता है अतः छट्पा-  
ने के कारण इससे तसिल् धादि प्रत्यय न हो सकते थे । इनीतिये  
यक् प्रवृत्त किया है ।

पञ्चम्या इति—पञ्चम्यन्त किम् धादि से तसिल् प्रत्यय होता है  
तसिल् से तस् शेष रहता है ।

कु इति—किम् को कु ही जाता है तकारादि और हकारादि विभक्ति

कस्मात् (किससे)—इस विग्रह में पञ्चम्यन्त किम् शब्द से तसिल्  
है । किम् + क्ति + तस् इय दशा में प्रातिपदिक सङ्गा (कृतदिन-  
होकर कुर (क्ति) का लोप (मृषो वातुप्रातिपदिकयोः) हो जाता  
तसिल् → किम् को कु आदेश होकर कु + तस् → क् को विसर्ग →  
कस्मात् ।

—(१) प्राग्दिशीय प्रत्ययों से बने शब्द 'अव्यय' होते हैं ।

तस् धादि प्रत्यय पञ्चम्यन्त धादि सुबन्त शब्दों से बँसा होते हैं,

अथसर्वविभक्ति १।१।३८।



५३३ । (एतद्) अन् ५।३।५। एतद् प्राग्दिशीये ।  
 लृत्वात्सर्वादेशः । अतः । अमुतः । यतः । तनः । बहुतः ।  
 द्वाभ्याम् ।

किं दिसलाया गया है (किम् + इति + तस्) : सुप् का लुक् हो जाता है ।  
 प्रयोगों में भी यह प्रक्रिया समझनी चाहिये ।

५३२. इवमिति—प्राग्दिशीय प्रत्यय परे होने पर इदम् को इत् पा  
 जाता है । इत् में इ लोप रहता है । शित् होने से यह समस्त इदम् के ह  
 होता है ।

इतः—अस्मात् (इमसे) सर्वनाम 'इदम्' शब्द से तसिन् प्रत्यय होकर  
 + तस् → इदम् को इत् होकर इ + तस्—इतः ।

५३१. अम् इति—प्राग्दिशीय प्रत्यय परे होने पर 'एतद्' को अम्  
 हो जाता है ।

अनेकास्वारिति—अनेक वलों (अल्) वाला होने से 'अम्' आदेश स  
 'एतद्' के स्थान में होता है । (अम् में 'अ' तथा न् दो अर्थात् अनेक वर्ण  
 जो आदेश अनेक वलों वाला या चित् (जिसमें च् की इत्संज्ञा हो जैसे 'इ  
 इत्') होता है, वह सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर हुमा करता है (अनेकास्  
 र्थस्य १।१।५५) ।

अतः—एतस्मात् (इससे)—एतद् + तसिन् → एतद् को 'अम्' आदेश  
 + तस् → न् का लोप<sup>१</sup> → अतस् → अतः ।

अमुतः—अमुष्मात् (उससे)—अदस् + तसिन् → अदस् + तस् → न् को  
 तथा पूर्व अकार का पररूप<sup>२</sup> होकर अद + तस् इस दशा में दकार से ।  
 वाले अकार को उकार तथा दकार को मकार<sup>३</sup> होकर अमु + तस् → अमुतः ।

यतः—यस्मात् (जिससे)—यद् + तसिन् → यद् + तस् → द् को अक  
 तथा पूर्व अकार का पररूप<sup>२</sup> य + तम् → यतः । इसी प्रकार तस्मात्, तद् +  
 → तनः । बहुः, बहु + तसिन् → बहुतः ।

१. लोपोः प्रातिपदिकान्तस्य ५।२।७।

३. यतो गुणे १।१।६७।

२. स्वदेशीनामः ७।२।१०२

४. अदसोऽन्विर्दुर्बोमः ५।२।८६।

५३४ । पर्यभिभ्यां च ५३३। आभ्यां तसिल् स्यात् । [सर्वो-  
यार्थान्यामेव, परितः, सर्वत इत्यर्थः । अभितः, उभयत इत्यर्थः ।

५३५ । सप्तम्यास्त्रल् ५३१। कुत्र । यत्र । तत्र । बहुत्र ।

५३६ । इदमो हः ५३१। प्रलोऽपवादः । इह ।

दुष्पादेरिति—इि आदि सर्वनाम लङी स प्राग्निहोत्र प्रत्यय नही होते  
तएव 'इि' लङ् से पञ्चमी मे 'आभ्याम्' ही बनता है, दूसरा तद्धितान्त रूप  
है ।

५३४. पर्यभिभ्यामिति—परि ओर अभि से तसिल् प्रत्यय होता है ।

परितः—सर्वतः (सब ओर से) परि+तसिल्→परितः इसी प्रकार  
वितः—उभयतः (दोनों ओर से) अभि+तसिल् ।

५३५. सप्तम्या इति—सप्तम्यन्त विभ् आदि से षल् प्रत्यय होता है ।

कुत्र—विभ् (किसमें, वही)—विभ् शब्द से षल् प्रत्यय होकर विभ्  
+ ष→विष् को कु आदेश (कु तिहोः ५।२।१०४) कुत्र । इसी प्रकार यस्मिन्  
विभ्, वही), यद्+षल्→यत्र, तस्मिन् (उद्यमे, वही) तद्+षल्→तत्र, बहु  
(बहुतों में) बहु+षल्→बहुत्र ।

टिप्पणी—यत्र, तत्र मे यद्, तद् के इ-को अकार<sup>१</sup> तथा परक<sup>२</sup> यत्, तत्  
के सदान होता है ।

५३६. इदम इति—सप्तम्यन्त इदम् शब्द से इ प्रत्यय होता है । यह  
षल् शब्द का वाक्य है ।-

इह—अभिन् (इतने, वही)—इदम् शब्द से इ प्रत्यय होकर इदम्+  
इ→इद् का इद् आदेश (इदम् १।३।३१) होकर इ+ह→इह ।

टिप्पणी—एतद् शब्द से षल् प्रत्यय होकर एतद् को षल् सञ्ज्ञित होता है  
इसका रूप एतः बनता है ।

५३७ । किमोऽपि ५।३।१०। वा।मह्यमपकृत्यते । सप्तम्य-  
त्किमोऽडा स्यात् । पक्षे प्रल ।

५३८ । क्वाति ७।२।१०५। किमः क्वादेशः स्यादिति । प-  
क्षे प्रल ।

५३९ । इतराभ्योऽपि वृथयन्ते ५।३।१४। पञ्चमोऽसप्तमी-  
विभक्त्यन्तादपि तमिलादयो वृथयन्ते । इतिमह्यमपकृत्यते। भवदादियोग-  
म भवान् । ततो भवान् । तत्र भवान् । तं भवन्तम् । ततो भवन्तम् ।

५३७. किम इति—सप्तम्यभ्य विम् लट् से यन् प्रत्यय होता है वि-  
मे, पक्ष में यन् होता है ।

वा।मह्यमिति—अप्रिम मुख वा ह वा इत्यदि ५।३।१३ में 'वा'  
प्रत्यय विभाजना है यथा 'वा' को ऊपर की ओर लीज विभाजना  
(इसी से 'यन्' विभक्त्य से जाना है) ।

५.८. क्वातीति—विम् को क्वा' वादेश होता है यन् प्रत्यय  
होने पर ।

क्व—किमिन् (किमे, क्वा) —विम् + यन् → किम् को क्वा प्र-  
होकर क्वा + य → क्वा 'यनोयुगे' से वरक होकर क्वा पक्ष में विम् + यन् →  
(वृथयन्) ।

५३९. इतराभ्य इति—पञ्चमी और सप्तमी से विभक्त्य विभक्ति  
होने से भी लट् से यन् प्रत्यय देने आने है ।

इतिमह्यमिति—युक्ति वा।म (इत्यदि) के प्रत्यय से 'मह्य' प्रत्यय  
होने में ही लट् से यन् प्रत्यय देने है । अतिप्रत्यय बट्ट है कि क्वा  
विभक्त्य से लट् से यन् प्रत्यय देने आना है, यही से वृथयन् होने  
मह्य प्रत्यय के लोप से वृथय प्रत्यय देने आना है इतिमह्य के मह्य प्रत्यय  
होने में ही होता है ।

भवन्तम्, तत्र भवान्—य यन् (युग) —य यन् लट् से यन्  
लट् से लट् और यन् प्रत्यय होने है ।

भवन्तम्, तत्र भवान्—य यन् (युग) —य यन् लट् से यन्

भवन्तम् । एवं दीर्घायुः । देवानां प्रियः । आयुष्मान् ।

५४० । सर्वेकान्यकियसदः काले दा ५३।१५ सप्तम्यन्तेभ्य कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यान् ।

५४१ । सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ५३।६। दादौ प्राग्निदशीरं सर्वस्य सो वा स्यान् । सर्वस्मिन् काले सदा । एकदा अन्यदा । कदा यदा । तदा । काले किम् ? सर्वत्र देशे ।

के योग में द्वितीयान्त तद् शब्द से तस्मिन् और तस् प्रत्यय होकर ततः, तत्र बनते हैं ।

एवमिति — इसी प्रकार दीर्घायुः, देवानांप्रिय तथा आयुष्मान् शब्दों के योग में भी; जैसे—स दीर्घायुः, इस अर्थ में ततो दीर्घायुः, तत्र दीर्घायुः आदि का प्रयोग होता है ।

५४०. सर्वेकेति—सप्तम्यन्त कालबोधक सर्व, एक, अग्य, किम्, यद् और तद् शब्दों से स्वार्थ में दा प्रत्यय होता है ।

५४१. सर्वस्येति—सर्व शब्द को विकल्प से स आदेश होता है । प्राग्निदशीय वकारादि प्रत्यय पड़े होने पर ।

सदा, सर्वदा—सर्वस्मिन् काले (सब समय में)—इस विग्रह में सर्व शब्द से दा प्रत्यय होता है—सर्व + दा → सर्व को विकल्प से स आदेश होकर सदा, पद्य में सर्वदा । इसी प्रकार एकस्मिन् काले (एक समय) एकदा । अग्यस्मिन् काले (अग्य समय) अन्यदा ।

कदा—कस्मिन् काले (किस समय, कब)—किम् + दा → किम् का क आदेश<sup>१</sup> क + दा → कदा ।

यदा—यस्मिन् काले (जिस समय, जब)—यद् + दा 'यदादीनामः' से द को य और 'यतो मुलौ' से य + य को वररूप होकर यदा । इसी प्रकार तस्मिन् काले (उस समय, तब) तद् + दाउ → दा ।

१. किम् कः ७।२।१०३।

५४२ । इदमोहिल् ५।३।१६। सप्तम्यन्तात् । काले इत्येव

५४३ । एतेतौ रथोः ५।३।४। इदम् शब्दस्य एत् इत् इत्या-  
स्तौ रेफादौ यकारादौ च प्राग्दिशीये परे । अस्मिन्काले एतर्हि ।  
किम् ? इह देशे ।

५४४ । अनद्यतने हिलभ्यतरस्याम् ५।३।२१ कर्हि, कदा  
यर्हि, यदा । तर्हि, तदा ।

काले किमिति—‘काल’ अर्थ में दा प्रत्यय होता है’ यह क्यों कहा  
इसलिये कि सर्वस्मिन् देशे—सर्वत्र । यहाँ देश अर्थ है इसी से दा नहीं ।  
अपितु ‘नल्’ प्रत्यय होता है ।

५४२. इदम् इति—काल-अर्थ में विद्यमान सप्तम्यन्त इदम् शब्द ‘ते’  
प्रत्यय होता है । हिल् में हि संघ रहता है ।

५४३. एतेतौ इति—इदम् शब्द को एत तथा इत् आदेश हो जाते  
क्रमशः रेफादि (जिसके आदि में र—रेफ हो) तथा यकारादि प्राग्दिशीय प्र-  
परे होने पर ।

एतर्हि—अस्मिन् काले (इस समय, अब)—इदम् + हिल् → रेफादि प्र-  
परे होने से इदम् को एत आदेश होकर एत + हि → एतर्हि ।

, टिप्पणी—इदम् शब्द के इस अर्थ में ‘अधुना’ और ‘इदानीम्’ शब्द  
जते हैं ।

काले किमिति—इदम् शब्द से काल में हिल् प्रत्यय होता है यह क्यों  
कहा ? इसलिये कि अस्मिन् देशे (इह देशे) यहाँ हिल् नहीं होता अपितु  
प्रत्यय होता है ।

५४४. अनद्यतने इति—अनद्यतन (जो आद्य का न हो) काल-विषय  
‘किम्’ आदि सप्तम्यन्त शब्दों से विकल्प से हिल् प्रत्यय होगा है ।

कर्हि, कदा—अस्मिन् काले (किस समय, कब)—किम् + हिल् → कि-  
स्वान पर ‘क’ होकर कर्हि । पक्ष में किम् + दा → कदा ।

५४५ । एतद् ५३१५। एत इत् एतौ स्तो रेफादौ धादौ प्राग्निशीये । एतस्मिन्काले एतर्हि ।

५४६ । प्रकारवचने धात् ५३१२३। प्रकारवृत्तिभ्यः किमादि स्यात् स्यात् स्वार्थे । तेन प्रकारेण स्या । यया ।

५४७ । इदमस्यमुः ५३१२४। धातोऽपवादः ।

इसी प्रकार यद् + हित → यर्हि । तद् + हित → तर्हि । पश में पश्या ।

५४५. एतद् इति—एतद् शब्द को एत, इत् ये दो धादेश होते हैं, क्रमशः रेफादि और ककारादि प्राग्निशीय प्रत्यय परे होने पर ।

टिप्पणी—अन् (५३३) तथा एतवः (५४५) ये दोनों सूत्र धन्वाध्यायी एक सूत्र के ही रूप में (एतदोऽन् ५३१५) हैं । काशिकाकार तथा भट्टो बोधित (मि० को०) इस सूत्र में योग विभाज्य करके ही दोनों अर्थ निकालते किन्तु सधुलीमुदीकार बरदराज ने इन्हें दो सूत्रों के रूप में ही रख दिया ।

एतर्हि—एतस्मिन् काले (इस समय, घब)—एतद् + हित → एतद् को धादेश एत + हि → एतर्हि ।

५४६. प्रकारवचन इति—प्रकार अर्थ में किम् आदि शब्दों से प्रत्यय होता है, स्वार्थ में ।

टिप्पणी—सामान्य के भेदक (विशेषक) को प्रकार कहते हैं । देवदत्त किस दत्ता (विशेष) में है ? इस प्रश्नात्ता में कथं देवदत्तः ? यह होता है ।

तथा—तेन प्रकारेण (इस प्रकार से, वैसे)—तद् शब्द से धात् प्र होकर पूर्वोक्त प्रकार से तद् के द् को घ तथा पहले घ को प्ररूप होकर—तद् की प्रकार येन प्रकारेण (जिन प्रकार से, वैसे) यद् + धात् → यथा ।

५४७. इदम् इति—प्रकार अर्थ में इदम् शब्द से धमु प्रत्यय होता (स्वार्थ में) । यह धात् प्रत्यय का वाचक है । धमु में 'धम्' धेय रहता है ।

ॐ (वा) एतदोऽपि वाच्यः ॥ अनेन एतेन वा प्रकारेण इत्यम्  
५४८ । किमश्च ५।३।२५ केन प्रकारेण कथम् ।

इति प्राग्निदशीयाः ॥१४॥

अथ प्राग्विधीयाः ॥१५॥

५४९ । अतिशायने तमधिष्ठनौ ५।३।२५ अतिशयविशिष्टा  
धृतौ स्वार्थे एतौ रतः । अयमेवामतिशयेनाह्वयः—आह्वयतमः ।

एतद् इति (वा)—प्रकार अर्थ में एतद् शब्द से भी वमु प्रत्यय होता है ।  
इत्यम्—यनेन प्रकारेण (इस प्रकार से, तेने)—इत् + वमु → इत् +  
वम् → वकारादि प्रत्यय परे होने से इवम् को इत् होकर इत् + वम् → इत् +  
इवी प्रकार एतेन प्रकारेण एतद् + वमु → एतद् को इत् इत् + वम् ।  
५४८ किमश्चेति—प्रकारार्थ में किम् शब्द से भी वमु प्रत्यय  
होता है ।

कथम्—केन प्रकारेण (किम प्रकार, कीने)—किम् + वमु → किम् को क  
नेकर 'कथम्' । इति प्राग्निदशीयाः ॥१५॥

अथ प्राग्विधीयाः—वहाँ में नेकर इवे प्रतिवृत्ती ५।३।२५ से रहने तब  
प्रत्यय प्राग्विधीय (वाच्य + इव + वि) कहलाने हैं । अब उनका आरम्भ  
होता है ।

५४९ अतिशायने इति—अतिशय अर्थ में विद्यमान शब्द के स्वार्थ में  
होने हैं ।

विशेषा वृत्तों में उच्चर्य विद्यमाना होगा है कथने  
इष्टम् प्रत्यय होते हैं । तब, में तम् तथा इष्टम् में

लघुतमः । लघिष्ठः ।

५५० । तिङश्च ५३।५६। तिङन्तादतिशये शीत्ये तमप् स्यात् ।

५५१ । तरप्तमपो घः १।१।२२। एतौ घसंज्ञौ स्तः ।

५५२ । किमेत्तिङ्घ्ययघादाम्बद्व्यप्रकर्षे ५ । ४ ११ ।

किम् एदन्तात्तिङ्घ्ययघाच्च यो घस्तदन्तादाम् स्यान्न ॥ द्व्यप्रकर्षे ।  
किन्तमाम् । प्राह्वेतमाम् । पचतितमाम् । उच्चैस्तमाम् । द्व्यप्रकर्षे

प्राद्व्यतमः—अयमेषाम् प्रतिशयेन प्राद्व्यः (यह इनमे अधिक बली है)—इस विग्रह में प्राद्व्य शब्द से तमप् प्रत्यय होकर प्राद्व्य + तम → प्राद्व्यतमः ।

लघुतमः लघिष्ठः—अयमेषाम् प्रतिशयेन लघु (यह इनमे सबसे छोटा है)—लघु + तमप् → लघुतमः । लघु + इष्टन् → टि अर्थात् उ का लोप लघु → इष्ट → लघिष्ठः ।

५५०. तिङश्चेति—तिङन्त शब्द से भी प्रतिशय प्रकट करने के लिये तमप् प्रत्यय होता है ।

५५१. तरप् इति—तरप् और तमप् प्रत्ययों की घ संज्ञा होती है ।

५५२. किमेद् इति—किम्, एकारान्त, तिङन्त और अय्यम से परे ओ व (तरप्, तमप्) तदन्त से आमु प्रत्यय होता है, किन्तु द्व्यप्रकर्ष में नहीं ।

किन्तमाम्—किम् + तमप् → आम् प्रत्यय होकर किम् + तम + आम् → तम के अन्त्य अकार का लोप (यस्येति च) होकर किन्तमाम् ।

प्राह्वेतमाम्—(बहुत मध्याह्न) एतन् प्राह्वे शब्द से तमप् प्रत्यय होकर उससे परे 'आम्' प्रत्यय, प्राह्वेतमाम् ।

पचतितमाम्—प्रतिशयेन पचति (बहुत अच्छा पकाता है)—पचति + तमप् + आम् → पचतितमाम् ।

१. टि: ६.४।१५२। इष्टन्, इमनिच् और ईवसुन् प्रत्यय परे होने पर मवञ्जक की टि का लोप होता है ।





पदुतराः, पटीयांस ।

५५४ । प्रशस्यस्य श्रः ५ ३ ६० । अयम् आदेशः म्यादनागो परतः ।

५५५ । प्रकृत्यैकाच् ६ ४ १६२ । इठादिभिराच प्रकृत्या म्यान् श्रेष्ठः, श्रेयान् ।

५५६ । ऊय च ४ ० १६१ । पशम्यस्य ज्यादेशः म्यान् इठेयसो । श्रेष्ठः ।

पदुतराः, पटीयांस.—उदीक्या प्राच्येभ्यः अनिग्रहणं पठ्य, (उत्तर व निवासी पूर्वी लोगों से अधिक चतुर है)।—यहाँ प्राच्य' से विभाग (भेद) दिलाया है, अतः पदु मध्य में नरप् घौर ईयसुन् प्रत्यय हान है—पदु + नरप् पदुतरा । पदु + ईयसुन्—पटीयन् पु० प्र० बहु० में परीक्षित ।

टिप्पणी—तमप् आदि प्रत्यय विशेषण शब्दा में होने हैं अतः तमप् आदि प्रत्यय वाले शब्दों के रूप तीनों लिङ्गों में बनते हैं त्रैम (पुं०) त्रैमम्, (नपुं०) त्रैमम्, (स्त्री०) त्रैमम् । (पुं०) त्रैमम्, (नपुं०) त्रैमम्, (स्त्री०) त्रैमम् ।

५५४ प्रशस्यस्येति—प्रशस्य शब्द को 'श्र' आदेश होता है अतः (इष्टन्, ईयसुन्) प्रत्यय पड़े होने पर ।

५५५. प्रकृत्येति—ऽष्टन् आदि प्रत्यय पर हान पर लकार (त्रिममे एक शब्द या स्वर हो) की प्रकृतिभाव होता है अर्थात् टि लोप नहीं होता ।

श्रेष्ठः—अयम् एवम् अतिशयेन प्रशस्य (यह इनमें अधिक प्रशंसनीय है)।—प्रशस्य + इष्टन् → प्रशस्य को 'श्र' आदेश होकर श्र + इष्टन् → टि लोप प्रण होने पर प्रकृति भाव होकर श्र + इष्टन् → श्रेष्ठ ।

श्रेयान्—अयम् अगमो अतिशयेन प्रशस्य (यह इन दोनों में अधिक प्रशंसनीय है)।—प्रशस्य + ईयसुन् → श्र + ईयसुन् → श्रेयान्, पु० प्रथमा एवम् ।

५५६. ऊय चेति—प्रशस्य को 'य' आदेश होता है, इष्टन् घौर ईयसुन्

५५७ । ज्यादादीयसः ६।४।१६०। (ज्यादुत्तरस्येयम्  
रादेशः) आदेः परस्य । ज्यायान् ।

५५८ । बहोर्लोपो भू च बहोः ६।४।११२ बहोः प  
लोपः स्यात् बहोरच भूरादेशः । भूमा । भूयान् ।

प्रत्यय परे होने पर ।

ज्येष्ठः—अण् एषाम् प्रतिशयेन प्रशस्यः (यह इनमे अधिक  
है) प्रशस्य + इष्टन् → ज्य + इष्ट → प्रकृतभाष तथा गुण (।  
ज्येष्ठः ।

५५७. ज्याद् इति—ज्य से परे ईयस् को आकार आदेश होना

आदेरिति—आदेः परस्य १।२।५४ सूत्र के अनुसार ऊपर वह  
ईयस् के आदि (ईकार) का होता है ।

ज्यायान्—अणम् अनयोः प्रतिशयेन प्रशस्यः (यह इन दोनों  
प्रशसनीय है)—प्रशस्य + ईयसुन् प्रशस्य को ज्या आदेश होकर  
ईयस् → ईयस के आदि (ई) को आ होकर ज्या + आयस् → ज्या  
प्र० एक० में ज्यायान् ।

५५८. बहोरिति—बहु से परे इमनिच्, और ईयसुन् प्रत्यय (के  
का सोन होता है और बहु को भू आदेश हो जाता है ।

भूमा—बहोर्भाषः (बहूवच, बहुतायत)—बहु शब्द से भा  
इमनिच् प्रत्यय होकर बहु + इमन् → इमन् के इ का लोप तथा  
आदेश होकर भू + मन् → (बु०) प्रथमा एक० में—भूमा ।

भूयान्—अणमनयोः प्रतिशयेन बहुः (दो में अधिक)।  
ईयसुन् → बहु + ईयस् → ईयस् के आदि (ई) का लोप तथा बहु

२. ५४ परिभाषा सूत्र के अनुसार आदि इ, ई ।

५५६ । इष्टस्य पिद् स ६।४।१५६। घट्टोः परस्य इष्टस्य लोप  
येडागमश्च । भूयिष्ठः ।

५६० । विन्मतोलुक् ५।३।६५। विनो मनुपरच लुक् स्यादिष्टे-  
। अतिशयेन स्रग्बो स्रजिष्ठः, स्रजीयान् । अतिशयेन स्वग्बान्  
ठः, स्वचीयान् ।

५६१ । ईषदसमाप्तौ कल्पद्वेष्टदेशीयरः ५।३।६७। ईषदूनी  
विद्वरकरूपः । विद्वद्देश्यः । विद्वद्देशीयः । पचतिकल्पम् ।

होकर भू + वम् → भूयस् पुं० प्रथमा एकवचन मे भूयान् ।

५६१. इष्टस्येति—बहु से घरे इष्टन् (के घादि) का लोप होता है तथा  
पेद् का घागम होता है । (भू आदेश भी होता है) पिद् में वि लोप रहता  
; ष्ट के घादि में जाता है ।

भूयिष्ठः—अयम् एतेषाम् अतिशयेन बहुः (यह इनमें सबसे अधिक है) —  
। इष्टन् → इ का लोप तथा बहु को भू आदेश होकर भू + व् → वि (पिद्)

प्रथम होकर भू + वि + ष्ट → भूविष्ठः ।

५६०. विन्मतोरिति—विन् घोर मनुप् प्रत्यय का लोप (मुद्) हो जाता  
। ष्टन् घोर विमुन् प्रत्यय घरे होने पर ।

स्रजिष्ठः—अतिशयेन स्रग्बो (अत्यधिक मात्रा वाला) स्रजिन् +  
म् → विन् का लोप होकर स्रज् + इष्ट → स्रजिष्ठः ।

स्रजीयान्—अयमनघोः अतिशयेन स्रग्बो (यह इन दोनों में अधिक मात्रा  
वा है) स्रजिन् + विमुन् → विन् का लोप स्रजीयम् → स्रजीयान् ।

स्वचिष्ठः—अतिशयेन स्वग्बान् (अधिक लघा वाला) —स्वग्बान्  
वच् + मच् → इष्टन् → मनुप् का लोप होकर स्वचिष्ठः । इसी प्रकार स्वग्बान्  
। ईषमुन् → स्वचीयान् ।

५६१. ईषदिति—पुछ घृणं (ईषदसमाप्ति-विहित) —अर्ध में विट्प्रत्यय  
वन्त घोर तिङ्गन शब्दों के कल्प, देश्य घोर देशीय प्रत्यय होते हैं ।

१. अस्मादादेश्यस्यो विनि. ५।३।१२१

५६२ । विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात् ॥ ३॥५८ ईपदस्य  
मात्तिविशिष्टेऽर्थे सुबन्ताद्बहुञ्चा स्यात्स च प्रागेव न तु परतः  
ईपदूनः पटुबहुपटुः । पटुकल्पः । सुपः किम् ? यजतिकल्पम् ।

५६३ । प्राग्विवात्कः ॥ ३॥५९॥ इवे प्रतिकृताभित्यतः प्रा-  
काधिकारः

(इनमें क्रमशः कल्प, देश्य और देशीय जोप रहता है) ईपद प्रथमाप्ति शब्द न  
अर्थ-है-ओही सी अपूर्णता, कुछ कमों ।

विद्वत्कल्पः—ईपदूनः विद्वान्, (कुछ कम विद्वान्, विद्वान् सा)—विद्व-  
+ कल्पप् → सू को द्वा तथा स होकर विद्वत्कल्पः । इसी प्रकार विद्वत् + देश्य  
विद्वद्देश्यः । विद्वत् + देश्याप् → विद्वद्देश्यः ।

पचतिकल्पम्—ईपत् पचति, (कुछ कम पकाता है, पकाता ॥) है  
तिङ्गत् पचति शब्द से कल्पप् प्रत्यय होकर रूप बताता है ।

५६०. विभाषेति—ईपदसमाप्ति विशिष्ट अर्थ में विद्यमान सुबन्त शब्द  
से बहुच् प्रत्यय विचलन से होता है और वह शब्द से पहले होता है परे नहीं  
(बहुच् में बहु जोप रहता है) ।

बहुपटुः—ईपदूनः पटुः (कुछ कम चतुर, चतुर सा)—बहुच् + पटु-  
+ पटु → बहुपटुः । इस में कल्पप् आदि होकर पटुकल्पः आदि ।

सुपः किम्—शून्य में सुपः क्यों कहा ? इसलिये कि बहुच् प्रत्यय शुद्धता  
से ही होता है तिङ्गत् से नहीं, इसी से 'यजति', से बहुच् प्रत्यय नहीं होता  
बोको यह तिङ्गत् है । कल्पप् आदि प्रत्यय होकर यजतिकल्पम् आदि रूप  
होते हैं ।

५६३. प्राग्विवात्—इवे प्रतिकृती ॥ ३॥५९॥ इस (पूर) से पहले तक 'क'  
का अधिकार है ।

५६४ । अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ५३।७१। कापवादः  
श्चेत्यनुवर्तते ।

५६५ । अज्ञाते ५३।७३। कस्यायमश्वोऽश्वकः । उच्चकैः ।  
कैः । सर्वकैः । ॐ (वा) औकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः  
कच् ॥ अन्यत्र सुवर्गस्य । युष्मकाभिः । युष्कयोः । स्वयका ।

५६५. अज्ञातेति—अज्ञात धीर सर्वनाम से अकच् प्रत्यय होता है ।  
पवीय धर्मी से ओर बहु टि से पूर्व होता है । (यकच् से अकच् ज्ञेय रहता  
।

यह क प्रत्यय का अपवाद है । यहाँ 'तिष्ठन्' की धनवृत्ति छाती है अर्थात्  
तिष्ठन् से भी होता है ।

५६५. अज्ञाते इति—अज्ञात धर्मे से अश्वक क तथा अकच् प्रत्यय  
५ है ।

टिप्पणी—'अज्ञाते' यादि सूची में केवल धर्म निर्देश किया गया है । इसके  
प विद्यते दो सूची की एकवाक्यता होकर पूर्ण धर्म होता है । अतः याद यह  
—अज्ञात धर्मे में अश्वक, सर्वनाम तथा तिष्ठन् की टि से पूर्व 'अकच्' प्रत्यय  
ता है तथा ज्ञेय सूचकों से 'क' प्रत्यय ।

'अश्वकः—अज्ञातोऽश्वः अर्थात् कस्यायमश्वः इति न ज्ञानः (अज्ञात घोड़ा  
याद यह किसका घोड़ा है इसका पता नहीं)—इस धर्म में अश्व शब्द से क  
प्रत्यय होकर अश्व + क → अश्वकः ।

उच्चकैः—उच्चतम उच्चैः (अज्ञात ऊँचा) —इस विद्यु में उर्ध्वस् शब्द  
। अश्वक होने के कारण टि (ऐस्) से पूर्व अकच् प्रत्यय होता है । उर्ध्व +  
त् + ऐस् → उच्चकैः । इसी प्रकार अज्ञात नीचैः (अज्ञात नीचा) नीच् + अकच्  
त् → नीचकैः ।

सर्वकैः—अज्ञाताः सर्वे (अज्ञात सब) —सर्वनाम 'सर्वे' शब्द से टि (व) से  
पूर्व अकच् प्रत्यय होकर सर्वे + अकच् + ए → सर्वकै रूप होता है ।

ओकारेति—विष सुप् (विवक्ति प्रत्यय) के यादि में ओ, स वा क हो,  
तब के परे होने पर सर्वनाम की टि से पूर्व अकच् होता है, अन्यत्र सुवर्ग की टि  
। रहने ।

५६६ । कुत्सिते ५।३।५४ कुत्सितोऽश्वोऽश्वः

५६७ । कियत्तदोनिर्धारणे द्वयोरेकस्य

अनयोः कतरो वेषणवः । यतरः । ततरः ।

युष्मकाभिः—अज्ञातः युष्माभिः (तुम अज्ञातों ने)—इस सर्वनाम से मकारादि (भिस्) प्रत्यय पड़े हैं इसलिये युष्मद् की पहले अक्ष हो जाता है । युष् + अक् + अद् + भिस् → युष्मद् को घा<sup>१</sup> तथा सवर्ण दीर्घ होकर युष्मकाभिः ।

टिप्पणी—यदि युष्माभिः (सुबन्त) में टि (इस्) से पूर्व मनिष्ठ रूप होने सयता ।

युवकयोः—अज्ञातयोः युवयोः (अज्ञात तुम दोनों का)—मोकारादि (योस्) प्रत्यय पड़े होने पर सर्वनाम की टि से पूर्व यो + अक् + अद् + योस् → युवकद् + योस् → व = य<sup>२</sup> → युवकयोः

त्वयका—अज्ञातेन त्वया (अज्ञात होने)—यहाँ मोकार, मकारादि प्रत्यय पड़े नहीं अतएव सुबन्त त्वया की टि (घा) से पूर्व है; त्वय् + अक् + घा → त्वयका ।

५६६. कुत्सित इति—कुत्सा—विशिष्ट अर्थ में विद्यमान सम (क तथा अक्ष) प्रत्यय होते हैं ।

अश्वकः—कुत्सितोऽश्वः (निन्दित घोड़ा)—अश्व + क → अश्वकः

५६७. कियत्तदोरिति—को में से एक का निर्धारण करने में और तद् से उतरच् प्रत्यय होता है । उतरच् में घतर जोर रहना है ।

कतरः—अनयोः कः वेषणवः ? (इन दोनों में कौन वेषण है) अर्थ से उतरच् प्रत्यय होकर किम् + अन्तर → इम् (टि) का संज्ञा उतर → कतरः । इसी प्रकार अनयोः वः (इन दोनों में से जो) अन्तर

५६८ । वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने इतमच् ५३।६३। बहूनां  
कस्य निर्धारणे इतमच्चा स्यात् । जातिपरिप्रश्ने इति प्रत्याख्यात-  
। कतमो भवतां कठः । यतमः । ततमः । वाग्रहणमकलयम् ।  
सकः ।

इति प्राग्विधीयाः ॥१५॥

(मयोः सः (इन दोनों में से वह) तत् + इतरच् → ततर ।

८. वा बहूनामिति—बहुतों में से एक का निर्धारण करने में किम्,  
तद् में इतमच् प्रत्यय होता है । इतमच् का अन्तम शेष रहता है ।

नीति—‘जातिपरिप्रश्ने’ इस शब्द का साकर (भाव्य) में प्रत्याख्यान  
किया गया है अर्थात् सूत्र में इस पद की कोई आवश्यकता नहीं ।

प्रः—कः भवतां कठः ? (कौन भाव में कठ शास्त्र का है ?)—  
इमच् → कतमः । इसी प्रकार यो भवताम्, यतमः । स भवताम्,

इणमिति—सूत्र में ‘वा’ का ग्रहण अकच् के लिये किया गया है;  
कल्प से अकच् प्रत्यय होता है ।

—यः भवताम् (भाव में से जो) सकारादि (यद् + सु) प्रत्यय पर होने  
सर्वनाम की टि (यद्) से पूर्व अकच् प्रत्यय होता है । य् + अक् +  
अकच् + सु → य को ‘अ’ तथा पहले य को परस्पर होकर यक् +

—स भवताम् (भाव में ॥ वह) तद् + सु → तक् + सु → तक +  
स होकर → सक + सु → सकः । इति प्राग्विधीयाः ॥१५॥

१. स साधनन्त्ययोः ७।२।१०६।



अयं स्वायिकाः ॥१६॥

५६६ । इवे प्रतिकृती ५।२.६६। कन् स्यात् ।

प्रतिकृतिः अश्वकः । क्(वा) सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन् ।

५७० । तत्प्रकृतवचने मयट् ५.४।२१। प्राचुर्येण प्रस्तु  
तस्य वचनं प्रतिपादनम् । भावे अधिकरणे वा ल्युट् । आद्ये-प्र

अयं स्वायिकाः—सब स्वायिक प्रत्यय आरम्भ होते हैं ।

५६६. इव इति—तद्वत् इवार्थ) अर्थ में विद्यमान (अर्थवाची) प्रातिपदिक से कन् प्रत्यय होता है । यदि प्रतिकृति (मूर्ति आदि) होता है ।

यहाँ उपमानवाची शब्द से प्रत्यय होता है और प्रत्ययान्त शब्द से लिये जाता है किन्तु वह उपमेय मिट्टी, काष्ठ आदि से निर्मित प्रति आदिहये ।

अश्वकः—अश्व इव प्रतिकृतिः (अश्व के समान मूर्ति)—अश्वकः अश्वकः ।

सर्वेति (वा)—सब प्रातिपदिकों से स्वार्थ में कन् प्रत्यय होता है ।

अश्वकः—अश्व एव (बोका ही) अश्व+कन्=अश्वकः स्वार्थ में होने पर अर्थ में कोई अन्तर नहीं होता । अश्वः और अश्वकः का अर्थ है ।

५७०. तत्प्रकृतवचन इति—वचनान्त शब्द से प्रचुरता-बोधन में प्रत्यय होता है ।

प्राचुर्येणेति—मूल में 'प्रकृत' का अर्थ है—प्रचुरता से प्रस्तुत किया । उनका वचन—कचन या बोध कराना । वचन शब्द (वच् + क्) भाव में वा अधिकरण में ल्युट् प्रत्यय होकर आता है । जब वचन को भाव मानते हैं तो मयट् प्रत्ययान्त शब्द उसी ल्युट् की अधिकता को प्रकट करता है । अश्वक शब्द में मयट् होता है । जब इसे अधिकरणवाची मानते

अन्नमयम् । अपूपमयम् । द्वितीये तु-अन्नमयो यज्ञः, अपूपमयं पर्व ।

५७१ । प्रज्ञादिभ्यश्च ५।४।३८॥ अण्, स्यात् । प्रज्ञ एव प्रज्ञाः ।  
प्राज्ञी स्त्री । दैवतः । बान्धवः ।

५७२ । बह्वल्पायचिद्विस्कारकादप्यतरस्याम् ५।४।४२॥

तो जितवे किसी वस्तु की अधिकता है उसे प्रकट करता है । जैसे—पहले अर्थ में (भाव स्पष्ट मानने पर)—

अन्नमयम्—प्रकृतमयम् (अन्न की अधिकता)—अन्न + मयट् → अन्न-मयम् । इसी प्रकार प्रकृतोऽपूपः—(पूड़ों की अधिकता) अपूप + मयट् → अपूप-मयम् ।

दूसरे अर्थ में (अधिकरण स्पष्ट मानने पर)—

अन्नमयो यज्ञः—प्रकृतमयं यस्मिन् (जिसमें अन्न की प्रचुरता हो ऐसा यज्ञ)—अन्न + मयट् → अन्नमयः, यह यज्ञ का विशेषण है । इसी प्रकार प्रकृताः अपूपाः यस्मिन् (जिसमें पूड़ों की प्रचुरता है ऐसा स्वीहार) अपूपमयं पर्व ।

५७१. प्रज्ञेति—प्रज्ञ आदि कण्ठो से स्वायं से अण्, प्रत्यय होता है ।

प्राज्ञः—प्रज्ञ एव (अधिकृत)—प्रज्ञ + अण् → आदिबुद्धि ज की आ प्राज्ञः । प्राज्ञ + ङीर् (ई) → अकार लोप प्राज्ञ् + ई → प्राज्ञी स्त्री । अण्, प्रत्ययान्त से स्त्रीलिङ्ग में ङीष्, प्रत्यय होता है ।<sup>१</sup>

दैवतः—दैवता एव (देव)—दैवता + अण् → आदिबुद्धि ए की ऐ तथा अन्त्य अकार का लोप दैवतः ।

बान्धवः—बन्धुरेव (बन्धु ही बान्धव है)—बन्धु + अण् → आदिबुद्धि व की वा तथा उ की गुण की होकर वो की अच्, हो जाता है—  
बान्धवः ।

५७२. बह्वल्पायचिदिति—जिनका अर्थ बहु या अल्प है । ऐसे कारक कण्ठो से स्वायं से लृट्, प्रत्यय होता है, विकल्प से ।

बहूनि ददाति बहुशः । अल्पशः । छ (वा) आद्यादिभ्यम्  
 रूयानम् ॥ आदौ आदितः । मध्यतः । अन्ततः पृष्ठतः  
 आकृतिगणोऽयम् । स्वरेण, स्वरतः । वर्णतः ।

५७३ । कुम्बस्त्रियोगे सम्पद्यकर्तारि चिवः ॥ ११४१॥

छ (वा) अभूततद्वाय इति वक्तव्यम् ॥ विकारात्मनां प्राप्नुवन्

बहुशः—बहूनि ददाति (बहुन देता है)—यहाँ 'बहु' मन्त्र बहु  
 मने कारक है इससे मन्त्र प्रत्यय होकर बहु + मन्त्र → बहुशः ।  
 अल्पानि ददाति, अल्प + मन्त्र → अल्पशः ।

आद्यादिभ्य इति (वा)—'आदि' प्रभृति मन्त्रों में तमि वक्तव्य  
 आदिभ्यः । यह तमि सब विभक्तियों के अर्थ में होता है । (मार्गविभक्ति)

आदितः—आदौ (आदि में)—आदि + तन्त्र → आदितः । इयं  
 मध्यतः आदि ।

अन्ततः—अन्त (अन्त में) अन्ततः मन्त्र है, अन्तः स्वरान् इत्यर्थ  
 में इयं आदिभ्य में तमि मध्यतः आदि ।

पृष्ठतः—पृष्ठेण (पृष्ठ के)—पृष्ठीवाच्य में तमि पृष्ठतः । इयं  
 पृष्ठेण-अन्ततः ।

वर्णतः—मन्त्र, आद्यमान् और तमि अन्तमान् मन्त्र आद्यतः हुं  
 (वर्णतः) आद्यमान् मन्त्र ॥ ११४२॥ 'आद्यतः' का अन्ततः में पाठ है ।

५७३. कुम्बस्त्रियोगे हुम्—'कुम्ब' का अर्थ 'मन्त्र' होने वाली  
 (वर्णतः) के अर्थ में विद्यमान विभक्तियों (आद्यमान्) मन्त्र में अन्ततः में  
 अन्ततः हुं है विभक्त के अर्थ में अन्ततः मन्त्र के अर्थ में ।

अन्ततः (वा)—अन्ततः (अन्त में) अन्ततः मन्त्र (अन्त में) अन्ततः  
 मन्त्र है, अन्ततः मन्त्र मन्त्र ।

यत्तमानादिकारशब्दात् स्वार्थे चिबर्वा स्यात् करोत्यादिभिर्योगे ।

५७४ । अस्य च्वौ ७४।३२। अवर्णस्य ईत्स्यात् च्वौ । वेर्लोपः । च्वयन्तत्वादव्ययत्वम् । अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते तं करोति कृष्णीकरोति । ग्रहीभवति । गृहीत्स्यात् । ३ (वा) अव्ययस्य च्वावीत्वम्

इस वार्तिक को मिलाकर ही ऊपर ग्रन्थ दिया गया है, भाव यह है कि जो जैसा नहीं है उसके बँटा होने के अर्थ में होने वाले के वाचक शब्द (सम्पद्यकर्तरि) से कृ, मू अस्ति के योग में च्वि प्रत्यय होता है ।

५७४. अस्येति—अवर्ण को ई हो जाता है च्वि प्रत्यय बरे होने पर ।

वेर्लोप इति—च्वि प्रत्यय में चकार की इत्तमा होकर लोप हो जाता है, इ उच्चारण के लिये है च् का लोप (विरपुस्तस्य ६।१।१७) से होता है, इस प्रकार समस्त प्रत्यय का लोप (जिसे ईशाकरण सर्वापहार कहते हैं) हो जाता है ।

च्वयन्तादिति—च्वि प्रत्यय अन्त में होने से अव्यय सत्ता होती है । स्वरादिनिपातमव्ययम् से च्वि प्रत्ययान्त अव्यय सत्तक है ।

कृष्णीकरोति—अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते तं करोति (जो बाला नहीं वह बाला होता है, उसे करता है)—कृष्ण शब्द से अभूततद्भाष में कृ वातु के योग में च्वि प्रत्यय होता है । कृष्ण + च्वि + करोति → च्वि का सर्वापहार घ को ई कृष्णीकरोति ।

ग्रहीभवति—अग्रह ग्रह भवति (जो ग्रह नहीं वह ग्रह होता है)—ग्रहन् + च्वि + भवति → च्विलोप, मू<sup>१</sup> लोप, घ को ई ग्रहीभवति ।

गृहीत्स्यात्—अगृहा गृहा स्यात् (जो गृहा नहीं वह गृहा हो चाये)—गृहा + च्वि + स्यात् → च्वि लोप घा को ई होकर गृहीत्स्यात् ।

अव्ययस्येति—(वा) च्वि प्रत्यय बरे होने पर अव्यय के अवर्ण को ई नहीं होता, यह कहना चाहिये ।

नेति वाच्यम् ॥ दोषामभूतमहः दिवामभूता रात्रिः ।

५७५ । विमांषा सांति कात्स्न्ये ॥ ५७५२१ । निर्विष-  
स्यात्सांकल्ये ।

५७६ । सात्पदाद्योः ॥ ५७६१११ । पदाद्योः सांय धर्त्त-  
कृत्तनं शस्त्रमग्निः सम्पद्यतेऽग्निसाद्भवति । दधि सिञ्चति ।

५७७ । च्वौ च ॥ ५७७१२६ । च्वौ च परे पूर्वस्य दीप-

दोषामभूतमहः—प्रदोषः दोषा अभूत् (जो रात नहीं था वह  
गया, ऐसा दिन जो अग्न्यकार के कारण रात सा हो गया)—दोषा-  
भूतम् दोषाभूतम् । 'दोषा' ध्वन्य शब्द है अतः आ की ई नहीं होता  
प्रकार अविवा दिवा अभूत् (जो दिन नहीं थी दिन हो गई, दिन जै-  
रात) दिवाभूता रात्रिः ।

५७५. विभाषेति—विष प्रत्यय के विषय में विवक्ष्य से साति प्रत्य-  
है, सांकल्य (सम्पूर्णता) अर्थ में ।

५७६. सादिति—सात् प्रत्यय के स तथा पद के आदिम के स को  
होता ।

अग्निसाद् भवति—कृत्तनं शस्त्रम् अग्निः सम्पद्यते [सम्पूर्ण शस्त्र (अ-  
ग्नि हो रहा है)—अग्नि + साति + भवति + सकार को पक्ष प्राप्ति  
पुनः सूत्र ने उसका निषेध कर दिया । अग्निसाद्भवति । (सात् प्रत्य-  
य्य होते हैं) ।

टिप्पणी—अग्नि

अग्नीभवति ।

५७८ । अण्यस्तानुकरणाद् द्वयजवरार्धादिति डाच्

५७८।५७। द्वयजेषावरं द्वयजवरं न्यूनं न तु ततो न्यूनमनेकाजिति याच-  
सादिसमद्धं यस्य तस्माद्डाच् स्वात् कृष्यतिभिर्योगे । ङ (वा) डाचि  
विवक्षिते द्वे बहुलम् ॥ इति डाचि विवक्षिते द्वित्वम् । ङ (वा) नित्य-  
माप्तेद्धिते डाचीति वक्तव्यम् ॥ डाच् परं यदाप्तेद्धितं तस्मिन्परे पूर्व-  
परयर्थेणोः पररूपं स्यात् । इति तकारपकारयोः पकारः ।

काता द्वे ।

अग्नीभवति—अग्निः अग्निः भवति (को अग्नि नहीं वह अग्नि हो  
जाता है) —अग्नि + च्वि + भवति → च्वि प्रत्यय का खोर तथा पूर्व 'द' को दीर्घ  
(ई) हास्य अग्नीभवति ।

५७८. अण्यस्तेति—चित्ता अर्धभाग अनेक स्वर वाता (अनेकाच्)  
हो तथा जिसमें परे इति शब्द न हो ऐसे अण्यस्त इति के अनुकरण शब्द  
से क, भू और अग्नि के योग में डाच् प्रत्यय होता है । डाच् में आ शेष  
रहता है ।

(सूत्रार्थ शब्दों की व्याख्या)—ऐसी ध्वनि जिसमें अक्षरादि वर्ण नहीं  
श्रुत होते अण्यस्त ध्वनि कहनाती है । जैसे क्वाक से क्वाक आदि पीटने का  
शब्द । द्वयजवरार्धात् का अर्थ है, द्वयज् (दो स्वर वाता शब्द) ही है न्यून  
उमने कम नहीं यदात् अनेकाच् (अनेक स्वर वाता) । ऐसा (अनेकाच्) शब्द  
है धावा जिसका, उमने डाच् होता है क, भू, अग्नि वातु के योग में ।

डाचीति—(वा)—डाच् प्रत्यय की विषया में बाहुल्येन द्विव होता है ।

नित्यमिति (वा)—डाच् प्रत्यय है परे जिससे उम धातुद्धित के परे होने  
पर दूरं धीर पर वर्ण को वररूप (एकादेश) हो जाता है ।

इममे पटत् + पटत् + डाच्, यहाँ ए + प् = प होता है ।

पटपटाकरोति—पटत् करोति (पटत् ऐसा अण्यस्त शब्द करता है) —

पटपटाकरोति । अभ्यस्तानुकरणात्किम् ? ईदकरोति । द्रव्य-  
किम् ? अत्करोति । अवरेति किम् ? अट्टकरोति । अनि-  
पटितिकरोति । इति स्वार्थिकाः ॥१६॥

इति तद्धितप्रकरणम् ।

डाच् प्रत्यय करने की इच्छा होते ही पटत् का द्विर होकर 'पटत् पट' यह अवस्था हो जाती है । यहाँ भाषा भाग पटत् दो स्वर बाधा  
प्रातः ऊपर के सूत्र से डाच् प्रत्यय होना है । पटत् पटत् + डाच् का  
दशा में भगने 'पटत्' की आभेदित संज्ञा होकर पूर्वतकार धीर भगने  
को पररूप धर्षात् पकार हो जाता है तथा भगने पटत् के पट् (टि)  
होकर पटपट् + प्रा + करोति → पटपटाकरोति ।

अभ्यस्तानुकरणादिति—अभ्यस्त भवति के अनुकरण से डाच् होत  
क्यों कहा ? इसलिये कि ईदकरोति से डाच् प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि  
अभ्यस्त भवति का अनुकरण नहीं ।

अपजबराधादिति—द्रव्य ही ग्यून ही ऐसा क्यों कहा ? इति  
अकरोति से डाच् नहीं होता, अत् में द्वित्व होने पर अभ्यस्त न ए + प्रा

अवरेति—अवर (भूत) शब्द क्यों दिया गया ? इसलिये कि अवर  
करोति में भी डाच् होता है । यहाँ धर्ष भाग 'लोट' से डाच् वाला  
अनेक डाच् बाधा है । 'अवर' शब्द के ग्रहण से 'मह' धर्ष होता है कि  
मात्र कम से कम (अवर) से डाच् बाधा हो अधिक डाच् वाला हो तो को  
ही ।

अनिती किमिति—इति ग्रे रहने पर डाच् नहीं होता यह क्यों कहा  
सलिये कि पटत् इति करोति → पटितिकरोति यहाँ डाच् नहीं होता है ।

इति स्वार्थिकाः ॥१६॥

इति तद्धितप्रकरणम् ।

१. तस्य परमाभेदाम् ८ १.२। यहाँ शब्द को द्वित्व होता है यहाँ  
शब्द की स.अ.द्वि संज्ञा होती है ।

## अथ स्त्रीप्रत्ययाः

५७६ । स्त्रियास् ४।१।३॥

अधिकारोऽयम् समर्थानामिति यावत् ।

५८० । अजाद्यतष्टाप् ४।१।४॥

अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत् स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये  
टाप् स्यात् । अजा । एडका । अरवा । चटका । मूयिका । बाह्या । वत्सा ।

अथ स्त्रीप्रत्ययाः—अथ स्त्रीत्वबोधक प्रत्ययों का निरूपण किया जाता है ।

५७६. स्त्रियाम् इति—‘स्त्रियाम्’ यह अधिकार ‘समर्थानां प्रथमाद् वा’  
४।१।३ तक है । ‘ट्याप् प्रातिपदिकात्’ ४।१।३ से प्रातिपदिकात् शब्द की  
प्रमुखति होती है । अतः सूत्र का अर्थ है—प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में प्राप्ते के  
प्रत्यय होते हैं ।

टिप्पणी—भाष यह है कि ‘स्त्रियाम्’ यह अधिकार सूत्र है । ‘समर्थानां  
प्रथमाद् वा’ ४।१।३ से पूर्व प्रत्येक सूत्र में यह पद उपस्थित होता है अर्थात्  
तक के सूत्रों से स्त्रीत्वबोधक प्रत्यय होते हैं ।

५८० अजाद्यत इति—‘अज’ आदि तम अकारान्त शब्दों का वाच्य जो  
‘स्त्रीत्व’ उसको प्रकट करने के लिये इन प्रातिपदिकों से टाप् प्रत्यय होता है ।  
‘टाप्’ में ‘भा’ शेष रहता है । टकार तथा पकार का लोप हो जाता है ।

टिप्पणी—‘लिङ्ग’ किसका अर्थ है ? इस विषय में दो मत हैं—प्रथम मत  
है कि लिङ्ग प्रातिपदिक का ही अर्थ है । ‘ट.प्’ आदि प्रत्यय केवल उसके द्योतक  
हैं । इसी मत के अनुसार प्रस्तुत सूत्र का अर्थ किया गया है । द्वितीय मत में  
अनुसार टाप् आदि प्रत्यय स्त्रीत्व आदि लिङ्ग के वाचक होते हैं । द्वितीय मत में  
प्रत्येक शब्दों को उद्भावना करके व्याख्याकारों ने प्रथम मत का ही समर्थन  
किया है ।

अजा (चकरी)—‘अज’ शब्द अजादिषण का प्रथम शब्द है, इससे अजाद्य-  
तष्टाप् से स्त्रीत्व द्योतक टाप् प्रत्यय होकर अज+धा इस अवस्था में सवर्णदीर्घ  
(अ+धा=घा) होकर ‘अजा’ शब्द बनता है । अजा से अथवा विभक्ति का  
एकवचन ‘मु’ हाकर उभय लोप छि हो जाता है—अजा ।

छि ‘हलूच्चाभ्यो दीर्घात् सुतिस्मृत्तं हल्’ ९।१।६८



पटपटाकरोति । अभ्यस्तानुकरणात्किम् ? ईयाकरोति । द्वयजव  
त्किम् ? अत्करोति । अनरेति किम् ? खरटपटाकरोति । अनितो  
पटितिकरोति । इति स्वार्थिकाः ॥१६॥

इति तद्धितप्रकरणम् ।

डाच् प्रत्यय करने की दृष्टि होते ही पटत् का टित होकर 'पटत् पटत्' ।  
नञ् अवस्था हो जाती है । यही धाया भाग पटत् हो खरट वाला (इ)  
धतः खर के गुण से डाच् प्रत्यय होता है । पटत् पटत् + डाच् करो  
हला में धगमे 'पटत्' की धातोदिन' संज्ञा होकर पूर्वतकार और धगमे  
की पररूप धर्वात् पकार हो जाता है तथा धगमे पटत् के पत् (टि) का  
होकर पटपट् + धा + करोति -> पटपटाकरोति ।

अभ्यस्तानुकरणादिति—अभ्यस्त इति के अनुकरण में डाच् होता  
बहु ? इति कि ईयाकरोति में डाच् प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि

इति का अनुकरण नहीं ।

द्वयजवर्यादिति—द्वयच् ही भूत हो ऐसा क्यों कहा ? इति  
अभ्यस्त में डाच् नहीं होता, भूत में द्वयच् होने पर धर्धम न ए + धच्

अनरेति—अनर (भूत) शब्द क्यों दिया गया ? इति कि अनरः  
वंगेति में भी डाच् होता है । यही धर्धम भाग खरटत् हो डाच् भाग  
अनर धर्धम वाला है । 'अनर' शब्द के ग्रहण में 'अन' धर्धम होता है कि  
भाग हम में कम (अनर) हो डाच् वाला हो धर्धम धर्धम हो गो को  
नहीं ।

अनितो किमिति—इति ३रे गृहने पर डाच् नहीं होता यह क्यों कः

## अथ स्त्रीप्रत्ययाः

५७६ । स्त्रियाम् ४।१।३॥

अधिकारोऽयम् समर्थानामिति यावत् ।

५८० । अजाद्यतष्टाप् ४।१।४॥

अजादीनामकारान्तस्य च बाध्यं यत् स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये  
टाप् स्यात् । अजा । एडका । अरवा । चटका । मूषिका । बाला । बत्सा ।

अथ स्त्रीप्रत्ययाः—अथ स्त्रीत्वबोधक प्रत्ययों का निरूपण किया जाता है ।

५७६. स्त्रियाम् इति—‘स्त्रियाम्’ यह अधिकार ‘समर्थानां प्रथमाद् वा’  
४।१।३ तक है । ‘अप्रातिपदिकात्’ ४।१।१ से प्रातिपदिकात् शब्द की  
अनुवृत्ति होती है । अतः सूत्र का अर्थ है—प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में प्रागे के  
प्रथम होते हैं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि ‘स्त्रियाम्’ यह अधिकार सूत्र है । ‘समर्थानां  
प्रथमाद् वा’ ४।१।३ से पूर्व प्रत्येक सूत्र में यह पद उपस्थित होता है अर्थात्  
उक्त के सूत्रों से स्त्रीत्वबोधक प्रथम होते हैं ।

५८० अजाद्यत इति—‘अज’ यदि तथा प्रकारान्त जगत् का बाध्य ओ  
‘स्त्रीत्व’ उसको प्रकट करने के लिये इन प्रातिपदिकों से टाप् प्रत्यय होता है ।  
टाप् में ‘मा’ शेष रहता है । टकार तथा पंकार का लोप हो जाता है ।

टिप्पणी—‘लिङ्ग’ कितना अर्थ है ? इस विषय में दो मत हैं—प्रथम मत  
है कि लिङ्ग प्रातिपदिक वा ही अर्थ है । ‘टाप्’ प्रादि प्रत्यय केवल उसके द्योतक  
हैं । इसी मत के अनुसार प्रस्तुत सूत्र का अर्थ किया गया है । द्वितीय मत के  
अनुसार टाप् प्रादि प्रत्यय स्त्रीत्व प्रादि लिङ्ग के बाधक होते हैं । द्वितीय मत में  
अनेक दोषों की उद्भावना करके व्याख्याकारों ने प्रथम मत का ही समर्थन  
किया है ।

अजा (वकरी)—‘अज’ शब्द अजादिगण का प्रथम शब्द है, इससे अजाद्य-  
तष्टाप् से स्त्रीत्व द्योतक टाप् प्रत्यय होकर अज+मा इस अवस्था में सवर्णदीर्घ  
(अ+मा=मा) होकर ‘अजा’ शब्द बनता है । अजा से प्रथमा विभक्ति का  
एकवचन ‘मु’ हाकर उसका लोप छि हो जाता है—अजा ।

छि ‘हल्’ पाठ्यो दोषात् सुविस्मृतं हल् १।१।६८

पटपटाकरोति । अम्यफानुकरणात्किम् ? ईप्सकरोति । द्रव्य-  
त्किम् ? अत्करोति । अवरोति किम् ? खरटखरटाकरोति । अनितौ  
पटितिकरोति । इति स्वार्थिकाः ॥१६॥

इति तद्धितप्रकरणम् ।

काच् प्रत्यय करने की इच्छा होते ही पटत् का द्वित्व होकर 'पटत् पटत्' यह अवस्था हो जाती है । यहाँ साधा भाग पटत् को खरट वाला (पटः) उपर के मूत्र से काच् प्रत्यय होना है । पटत् पटत् + काच् करो दशा में घगने 'पटत्' की आर्धोदित संज्ञा होकर पूर्वतकार और घगने को परस्पर अर्धत्वात् पकार हो जाता है तथा घगने पटत् के पत् (टि) क होकर पटपट् + का + करोति → पटपटाकरोति ।

अम्यफानुकरणादिति—अम्यफानुकरण के अनुकरण में काच् होता क्यों कहा ? इति कि ईप्सकरोति में काच् प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि अम्यफानुकरण का अनुकरण नहीं ।

द्रव्यजबरापादिति—द्रव्य ही ग्यून हो ऐसा क्यों कहा ? इति अकारण में कच् नहीं होगा, अतः कि द्वित्व होने पर अर्धत्वं न एव + पच्

अवरोति—अवर (ग्यून) कच् क्यों दिश गया ? इति कि अवर अर्धत्वं में भी कच् होगा है । यहाँ अर्धत्वं भाव अवरत् 'को कच् वाला घगने कच् वाला है । 'अवर' अवर के अर्थ में 'यद् अर्धत्वं होता है कि अग्नय से अग्नय (अवर) को कच् वाला हो अर्धत्वं कच् वाला हो तो को नहीं ।

अनितौ द्विविति—इति १२ १५ के पर काच् नहीं होगा यह क्यों कहा इति कि पटत् इति करोति → पटितिकरोति यहाँ काच् नहीं होगा है ।

इति स्वार्थिकाः ॥१६॥

॥ इति तद्धितप्रकरणम् ॥

## अथ स्त्रीप्रत्ययाः

५७६ । स्त्रियाम् ४।१।३॥

अधिकारोऽयम् समर्थानामिति यावत् ।

५८० । अजाद्यतष्टाप् ४।१।४॥

अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत् स्त्रीत्व तत्र घोत्ये  
दाप् स्यात् । अजा । एडका । अरवा । चटका । मूपिका । बाला । वत्सा ।

अथ स्त्रीप्रत्ययाः—अथ स्त्रीत्वबोधक प्रत्ययों का निरूपण किया जाता है ।

५७६. स्त्रियाम् इति—‘स्त्रीयाम्’ यह अधिकार ‘समर्थानां प्रथमाद् वा’  
४।१।३ तक है । ‘इयाप् प्रातिपदिकाप्’ ४।१।१ से प्रातिपदिकात् णङ्ग को  
अनुवृत्ति होती है । अतः सूत्र का अर्थ है—प्रातिपदिक ३ स्त्रीलिङ्ग में प्रागे के  
प्रथम होते हैं ।

टिप्पणी—आज यह है कि ‘स्त्रियाम्’ यह अधिकार सूत्र है । ‘समर्थानां  
प्रथमाद् वा’ ४।१।३ से पूर्व प्रत्येक सूत्र में यह पद उपस्थित होता है अर्थात्  
उक्त के सूत्रों से स्त्रीत्वबोधक प्रथम होते हैं ।

५८० अजाद्यत इति—‘अज’ आदि तथा अकारान्त तन्मों का वाच्य जो  
‘स्त्रीत्व’ उसको प्रकट करने के लिये इन प्रातिपदिकों से टाप् प्रत्यय होता है ।  
टाप् में ‘प्’ शेष रहता है । टकार तथा पकार का लोप हो जाता है ।

टिप्पणी—‘लिङ्ग’ किसका अर्थ ? इस विषय में दो मत हैं—प्रथम मत  
है कि लिङ्ग प्रातिपदिक का ही अर्थ है । ‘ट.प्’ आदि प्रत्यय केवल उसके लोपक  
हैं । इसी मत के अनुसार प्रस्तुत सूत्र का अर्थ किया गया है । द्वितीय मत के  
अनुसार टाप् आदि प्रत्यय स्त्रीत्व आदि लिङ्ग के वाचक होते हैं । द्वितीय मत में  
अनेक शेषों को उद्भाविता करके व्याख्याकारों ने प्रथम मत का ही समर्थन  
किया है ।

अजा (बकरी)—‘अज’ शब्द अजादियल का प्रथम तन्म है, इससे अजाद्य-  
तष्टाप् से स्त्रीत्व लोपक टाप् प्रत्यय होकर अज+प् अज+प् अज+प् अज+प् अज+प्  
(अ+प्=अ) होकर ‘अज’ शब्द बनता है । अजा से प्रथमा विभक्ति का  
एकवचन ‘अ’ हाएर उसका लोप हो जाता है—अजा ।

॥ ‘हल्ङ्गाम्बो दोर्वात् मुडिस्पृक्तं हल्’ ६।१।६५

होहा । मन्दा । चिलाता इत्यादिः अत्रादिगणः । सर्वा ।

✓ (५८१) । उगितरच ४।१।६

उगिद्वैतान् प्रातिपदिकात् लिङ्ग्या ङीप् स्यान्  
भवन्ती । पचन्ती । शीव्यन्ती ।

इसी प्रकार धर्मादि गण से पाठ्य एक (भङ्ग), धर्मा (धर्म) (विहिता), धूर्तिका (धुतिता) इन शब्दों से 'अतिरस्त्रीविप' ४।१।३ मूल से ङीप् प्रत्यय प्राप्त था, तथा भावा, वरदा, हो विभाता ये शब्द प्रथम धातु (पीबन् से पूर्वावस्था, के कावच हैं, इन प्रथमे ४।१।२० के अनुसार स्त्रीत्वलोपक ङीप् प्राप्त था । ध्वज इनका गठ होने के कारण ङीप् तथा ङीप् को कावच टार हो इनके अनिश्चित अत्रादिगण में पच्य भी गठ है ।

सर्वा—अपारान्त 'सर्व' शब्द से 'अत्राद्यतत्त्वात्' मूल के प्रातिपदिक होकर सर्व + अ → अवर्णशीर्ष सर्वा → मु तथा लोप सर्वा ।

५८२ उगितरचैति—उगित (उक् है इत्सङ्गक लिङ्गक) प्रत्यय लिङ्गके ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीविभक्त से ङीप् प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—(१) ङीप् प्रत्यय में टकार धीर प्रकार की इत्सङ्गक हैं, जाना है केवल 'ई' लोप रहता है । (२) उक् इत्सङ्गक है । जिसमें मूल वर्ण आते हैं । ये वर्ण जिस प्रत्यय से इत्सङ्गक होते हैं वह उगित है ।

भवती (आप)—आ धातु से टङ्गु प्रत्यय होकर भवत् गठ्य व टङ्गु प्रत्यय से उकार की इत्सङ्गक है, अतः यह उगित है तथा भवत् का प्रत्ययान्त है अतः इससे ङीप् हं कर भवत् + ई → भवती इससे 'सु' का लोप होकर भवती रूप बनता है ।

भवन्ती (होती हुई)—भू धातु से शतृ प्रत्यय, उकार की गुण (अत्रादिगण) होकर भवत् गठ्य बनता है । यह उगित है, अतः उससे ङीप् प्रत्यय + ई इस अवस्था में 'अप्यनोविषयम्' ३।१।८१ से नुम् का आगम भवन् (नुम्) त् + ई → भवन्ती । मु का लोप ।

५८२ । टिड्ढाणञ् द्वयसज्दघ्नञ् मात्रचूतमपठकूठञ् कञ्  
कवरपः ४।१।१५॥

अनुपसर्जनं यद्विरादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततः स्त्रियां ङी  
स्यात् । कुरुचरी । नदद्-नदी । देवद् देवी । सौपर्णेयी । ऐन्द्री

इसी प्रकार पञ्चमी—पञ् + गृत् → पञत् + ङीप् + पञ् न् त् + ई ।

दीव्यन्ती—दीव् + गृत् → दीव्यत् + ङीप् → दीव्य न् त् + ई ।

५८२ टिड्ढेति—टिड् (टकार है इत् जिसका ऐव् प्रत्यय ) और ङ  
पण , भञ् दघ्नञ्, दानञ्, मात्रञ्, तमप्, टक् ठञ्, कञ् कवरप् प्रत्यय  
अन्त में जिसके ऐवे अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीनिष्क से ङीप् प्रत्यय होता है  
यदि वह गौण (उपसर्जन) न हो ।

कुरुचरी—(कुरु प्रदेश में विचरण करने वाली) कुरुप् चरति (स्त्री) इ  
अर्थ में कुरु (सुवृत्त) उपपद होने पर चद् घात में 'चरेट्' ३।२।१९।  
अनुसार 'ट' प्रत्यय होकर 'कुरुचर' शब्द बनता है । यह टिड्ढ है । इस  
'टिड्ढाणञ्' सूत्रानुसार ङीप् होकर कुरुचर + ई → 'यस्येति च' २।४।१४८।  
प्रकार का लोप होकर कुरुचरी रूप बनता है ।

नदी देवी—नदट् और देवट् शब्द पश्चादि से षडे गये हैं । इनके टि  
होने से ङीप् प्रत्यय होकर नद + ई, देव + ई इस प्रकार का 'यस्येति च'  
प्रकार का लोप होकर नदी, देवी में रूप बनते हैं ।

सौपर्णेयी (सुपर्णी की पुत्री)—सुपर्णी शब्द से अव्यय अर्थ में स्त्रीभ  
ङ्क् से ङक् प्रत्यय होकर 'ङ्' को एय् आदेश, सु के उकार को वृद्धि (वा  
वृद्धि) झीकार, ईकार का लोप होकर 'सौपर्णेय'—यह ङ प्रत्ययान्त शब्  
बनता है । इससे ङीप् होकर सौपर्णेय + ई → अकार लोप सौपर्णेयी ।

ऐन्द्री (इन्द्र है देवता जिसका या इन्द्र सम्बन्धित) —इन्द्रो देवताऽय  
(साऽय देवता) ४।२।२४। यथवा इन्द्रस्य इन्द्रम् (तस्येत् ४.३।१२०) इस अ

१. आग्नेयीनीयिषः षडस्रज्वा प्रत्ययादीनाम् ७।१।२।

२. यस्येति च ६।४.१४८।

औत्सी । ऊरुद्वयसी । ऊरुदघ्नी । ऊरुमात्री । पञ्चतयी । आसि  
लावणिकी । यादरी । इवरी ।

ये इन्द्र शब्द से घण् प्रत्यय होकर धादि वृद्धि, घकार लोप होकर ऐन्  
घण् प्रत्ययान्त शब्द बनता है । इससे ओप् होकर ऐन् + ई → ऐन्नी ।

औत्सी—उत्स सम्बन्धिनी (उत्स=जल-स्रोत या ज्वलि विभो  
‘उत्सस्येदप्’ इस अर्थ में उत्स शब्द से ‘उत्सादिभ्योऽङ्’ ४।१।६९ सूत्र से  
प्रत्यय होकर धादि वृद्धि तथा घकार लोप होने पर अङ् प्रत्ययान्त औत्स  
बनता है । उससे ओप् होकर औत्सी ।

ऊरुद्वयसीःऊरुदघ्नी-ऊरुमात्री—(घुटने तक गहरी) ऊरु प्रम.ए  
(ऊरु है माप जिसकी) इस अर्थ में ऊरु शब्द से द्वयसङ्, दघ्नङ् और  
प्रत्यय होकर ऊरुद्वयस, ऊरुदघ्न, ऊरुमात्र शब्द बनते हैं । उनसे ओप्  
होकर मकार का लोप होने पर ऊरुद्वयसी धादि रु बनते हैं ।

पञ्चतयी—(पाँच अवयव वाली) पञ्च अवयवा प्रत्याः—इत या  
पञ्चन् शब्द से ‘संख्याया अवयवे तपप्’ १.२।४२ से तपप् प्रत्यय ।  
‘पञ्चतप’ शब्द बनता है । इससे ओप् होकर पञ्चतयी ।

आसिकी (पानी से लेनने वाली)—असिर्दीप्यति इस विग्रह में  
शब्द से ‘तेन दीप्यति सति ज्वलि जितम्’ ४।४।२ से टक् प्रत्यय  
घट + टक् धादि वृद्धि तथा घकार लोप होकर आसिक → ओप्  
ओप् होकर आसिक + ई → अकार लोप आसिकी रु बनता है ।

लावणिकी (नमक बेचने वाली)—मणलं पणप्य प्रत्या—इस विग्रह  
मणल शब्द से टप् (मणलाट्ठप्) होकर लावणिक शब्द बनता है ।  
‘मणलं पणप्य’ से ओप् प्रत्यय होकर लावणिक + ई → अकार लोप लावणिकी ।

यादरी (जैसी)—यात् शब्द उगद होने पर दण् पानु से कञ् [यदा  
होतीप्रामोचने कञ् च ३.२।५०] प्रत्यय होकर ‘या मयनाम्नः’ से मन् के लृट्  
(दन्त) ओ धाकार होकर ‘यादन्’ शब्द बनता है, उससे ओप् होकर या  
+ ई → अकार लोप यादरी ।





५८३ । यञश्च ४।१।१६॥

यञन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात् अकारलोपे कृते—

५८४ । हलस्तद्धितस्य ६।४।१५०॥

हलः परस्य तद्धितयकारस्योपधामूतस्य लोप ईति परे । गार्गी

५८५ । प्राचां ण्फ तद्धित. ४।१।१७॥

यञन्तात् ण्फो वा स्यात्, स च तद्धितः ।

५८३ यञश्चेति—यञ् है अन्त म जिसके ऐके प्रातिपदिक से स्त्री में ङीप् प्रत्यय होता है ।

अकारेति—(गार्ग्य + ङीप् → गार्ग्यं + ई इस अवस्था में 'यस्येति च' प्रत्यय अकार का लोप करने पर ।

५८४. हल इति—हल् से परे जो तद्धित का यकार उपधाकृप में है उसका लोप हो जाता है ईकार परे होने पर ।

टिप्पणी—अलोपस्यात् पूर्व उपधा १।१।६५ अर्थात् किसी शब्द के अन्त बर्ण से पूर्व बर्ण की उपधा संज्ञा होती है, जैसे—'गार्ग्यं' शब्द में अन्त य अकार है उससे पूर्व बर्ण यकार की उपधा संज्ञा होती है ।

गार्गी (गर्ग योज की स्त्री)—'गर्ग' शब्द से 'गर्गस्य अपत्य स्त्री' इस विधि से यञ् (गर्गादिभ्यो यञ्) प्रत्यय होकर आदि वृद्धि तथा अकार लोप होने पर 'गार्ग्यं' यह यञ् प्रत्ययान्त शब्द बनता है । इससे 'यञश्च' सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर गार्ग्यं + ई → अकार लोप तथा 'हलस्तद्धितस्य' से यकार लोप होकर गार्गी ।

५८५. प्राचामिति—यञ् प्रत्ययान्त से विवहल से स्त्रीलिङ्ग में ण्फ प्रत्यय होता है और वह तद्धित संज्ञक होता है ।

टिप्पणी—(१) ण्फ प्रत्यय के अकार की ह्रस्वज्ञा होकर लोप हो जाता है और फकार को घायन् भावेन हो जाता है । (२) 'ण्फ' की तद्धित संज्ञा के योजन हैं—(घ) 'यस्येति च' से अकार लोप और (घा) तद्धितात् होने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो जाना ।

५८६ विद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१॥

विद्भ्यो गौरादिभ्यश्च स्त्रियां ङीप् स्यात् । गार्ग्यायणी । नर्तकी । गौरी ।

ॐ आसनहुहः स्त्रियां वा ॥

अनहुही, अनहुवाही । आकृतिगणोऽयम् ।

५८६. विद्गौरादिभ्यश्चेति—विद् (पकार है इय ऋग्रा) प्रातिपदिक स तथा गौर आदि शब्दों के स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—ङीप् में भी 'ई' लोप रहता है । ङीप् तथा ङीप् दोनों में स्वर का अन्तर है ।

गार्ग्यायणी—(गर्ग की सन्तान स्त्री)—यज्जन्त 'गार्ग्यं' शब्द से एक प्रत्यय आया एक तद्धित.) होकर गार्ग्यं + धावन (फ) → गार्ग्यायणी शब्द बनता है । इस एक में पकार की ह्रस्वभा होने के कारण यह विद् है । अतः 'विद्गौरादिभ्यश्च' से ङीप् प्रत्यय होकर गार्ग्यायणी + ई → गार्ग्यायणी रूप बनता है ।

नर्तकी—नृत्य पाठ से द्युत् (निलिनि द्युत्) प्रत्यय होकर नृ को अकृति होने पर नर्तक शब्द बनता है । विद् होने के कारण ङीप् प्रत्यय होकर नर्तक + ई → अन्त्य अकार का लोप नर्तकी ।

गौरी—गौर आदि (गण) के प्रथम शब्द 'गौर' से 'विद्गौरादिभ्य' से ङीप् प्रत्यय होकर गौर + ई → अकार लोप गौरी ।

आमिति (व)—अनुहुह, शब्द से स्त्रीलिङ्ग में धाम् वा धावम् होता है ।

अनहुही-अनहुवाही (वी)—अनहुह, शब्द गौरादि दण में है । इससे स्त्री-प्रत्यय होने पर अनुहुत प्रातिपद के अनुसार दिक्त्वं से धाम् वा धावम् होता है—अनहु + धा + ह् + ई → अनहुवाही । यह धाम् का धावम् होता तब अनहुत् + ई → अनहुही रूप बनता है ।

आकृतिगण इति—यह गौरादिदण आकृतिगण है । दण में कटिन शब्दों के लिये इस प्रकार ■ अन्य शब्द की दृष्टि अन्त्येय समझने चाहिये ।

५८७ । वयसि प्रथमे ४।१।२०॥

प्रथमवयोवाचिनोऽदन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात् । कु

५८८ । द्विगोः ४।१।२१॥

अदन्ताद् द्विगोङीप् स्यात् । त्रिलोकी । अत्रावि  
त्रिफला । त्र्यनीका (सेना) ।

५८७. वयसीति—प्रथम अवस्था के वाचक प्रकारान्त प्रातिपदिक स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है ।

कुमारी—प्रथम अवस्था के वाचक कुमार शब्द से ङीर् प्रत्यय कुमार+ई→अकार सोप (यस्येति च) कुमारी ।

टिप्पणी—तीन अवस्थायें मानी जाती हैं—बाल्य, यौवन और वृद्धावस्था । प्रथम वयः (अवस्था) का अभिप्राय है—यौवन से पूर्ववस्था 'वयसि' पाणिनीय सूत्र के अनुसार प्रथम अवस्था के वाचक शब्द से ही स्त्रीलिङ्ग ङीप् प्रत्यय होता है, किन्तु बचूट आदि शब्द, जो यौवनावस्था के वाचक हैं उनसे भी ङीप् प्रत्यय देखा जाता है अर्थात् 'बचूटी' आदि प्रयोग उपजाते हैं अतः वाचककार के अनुसार—'वयस्यचरम इति वाच्यम्' वृद्ध-अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्थावाचक शब्दों में ङीप् प्रत्यय होता है । इस बचूटी, चिरंटी आदि शब्द बन जाते हैं ।

५८८. द्विगोरिति—प्रकारान्त द्विगु (समान) से ङीर् प्रत्यय होना त्रिलोकी—(तीन लोकों का समुदाय)—त्रयाणां लोकानां समाहारः । इस विग्रह में द्विगु समान होकर 'त्रिलोक' रूप बनता है । 'त्रिफला उत्तम'—प्रकारान्त होता है ऐसा द्विगु स्त्रीलिङ्ग में होना चाहिये" (प्रकारान्तोत्तर द्विगुः स्त्रियामिष्टः) इसके अनुसार स्त्रीलिङ्ग होने पर द्विगोः सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर त्रिलोकी+ई→अकार सोप=त्रिलोकी ।

त्रिफला—त्रयाणां फलानां समाहारः—इस विग्रह में 'त्रिकल' प्रकारान्त द्विगु बनता है । किन्तु यह ध्वनिप्रमाण के अन्तर्गत है । प्रथम 'अत्रादन्तप्राप्' ४।१।४ से टाप् प्रत्यय होकर त्रिफला रूप बनता है ।

५८६ । यर्णादिनुदात्तात् तोपधात् तो नः ४।१।३६॥

यर्णावाची योऽनुदात्तान्तस्तोपधस्तदन्तादनुपसर्जनात् प्रातिपदिकाद्  
डीप् तकारस्य नकारादेशश्च । एनी, एता । रोहिणी, रोहिता ।

५९० । वीतो गुणवचनत् ४।१।४४॥

सदन्तान् गुणवाचिनो वा डीप् स्यान् । मूढी, मृदुः ।

इयनीका (सेना) प्रयाणाम् इयनीकना समन्तारः—इय विग्रह मे द्विगु  
मात होकर 'इयनीक' शब्द बनता है । यहाँ भी अबाधिवर्ण मे होने के कारण  
पू प्रत्यय होता है ।

५८६. यर्णादिति—यर्णावाची जो अनुदात्तान्त तथा तोपध (तकार है  
। यो में विसर्ग) तदन्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से विकल्प से डीप् प्रत्यय  
ता है और तकार को तकार हो जाता है ।

एनी-एता—(कबरी) 'एत' शब्द अनुदात्तान्त' है । इसकी उरधा में  
कार है । यह किसी के प्रति गोल भी नहीं है । (अनुपसर्जन है), यतः यहाँ  
एतद् इत्यादि सूत्र से विकल्प से डीप् प्रत्यय तथा तकार को नकार  
कर 'एनी' रूप बन जाता है ; वज्र में अबाधतप्ताप् से टाप् प्रत्यय होकर  
एता' रूप बनता है ।

रोहिणी-रोहिता—[मात रज्जु वाली], 'रोहित' शब्द से उपसृजन रीति से  
विकल्प से डीप् प्रत्यय होने पर तथा तकार को नकार होकर रोहिणी, पञ्च  
टाप् होकर रोहिता रूप बनता है ।

५९०. वीत इति—उकारान्त गुणवाचक शब्द से स्त्रीलिङ्ग में डीप्  
प्रत्यय होता है विकल्प से ।

मूढी मृदुः (कोमला)—मृदु शब्द उकारान्त तथा गुणवाचक है । इससे  
नीप् प्रत्यय होने पर मृदु + ई → उकार को यण् (य्) मूढी । जब डीप्  
प्रत्यय नहीं होता तो मृदुः ।

१. 'यर्णादीन् तण्डुलिनिमित्तानाम्' इस फिद् सूत्र से 'एत' का ए (प्रातिपदिक)  
उदात्त है और 'अनुदात्त' पदमेकवर्णम् के अनुसार शेष स्वर अनुदात्त  
है, अतः यह अनुदात्तान्त है ।

५६१ । बह्नादिभ्यश्च ४।१।४५॥

एभ्यो वा ङीप् स्यात् । बह्वी, बहुः ।

ॐ (ग) कृदिकारादृच्छिनः । रात्री, रात्रिः ।

ॐ (ग) सर्वतोऽकिन्नर्यादित्येके । शकटी, शकटिः ।

५६२ पुंयोगादास्यायाम् ४।१।४६॥

५६१. बह्नादिभ्य इति—बहु धातु के लक्ष्य से स्त्रीलिङ्ग में बिभक्त्य प्रत्यय होता है ।

बह्वी-बहुः (बहुत)—बहु शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है । 'बहु + ई' → बह्वी । ङीप् प्रत्यय के सम्भाव में बहु रूप बनता है ।

कृदिति (ग)—(यह बह्नादिभ्य का सूत्र है) कृत् प्रत्यय का जो बहु है वल्गु में त्रिनके ऐसे प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है बिभक्त्युत्पत्ति प्रत्ययवाक्य से नहीं होता ।

रात्री-रात्रिः—'रा' धातु से त्रिप् प्रत्यय (राशद्विषयं त्रिप्-होकर रात्रि शब्द बनता है । उपसृष्ट नल्ल सूत्र के अनुसार रात्रि शब्द होकर रात्रि + ई → इकार सौप्त (यायेनि च) रात्री । वल्गु में रात्रिः) ।

सर्वतो इति (ग)—(यह भी बह्नादि वल्गु का सूत्र है) त्रिप् प्रत्यय के सम्भाव में त्रिनके ऐसे शब्दों को छोड़कर सभी कृत् वल्गु में बिभक्त्युत्पत्ति प्रत्ययवाक्य शब्दों से ङीप् होता है, ऐसा कुछ सम्भाव्य मानने है ।

शकटी शकटिः—(बाड़ी) शकटि-इकारात्त शब्द है । वल्गु में शकटी, वल्गु में शकटि—ये दो शब्द बन होने हैं ।

टिप्पणी—शकटि शब्द सम्पुल्लभ प्रातिपदिक है, यह इकारात्त शब्द है वल्गु में शकटी प्रत्यय का इकार नहीं है तथा 'टिप्पणी' (ग) के वल्गु ङीप् नहीं होता, किन्तु 'सर्वतोऽकिन्नर्यादित्येके' इनके वल्गु से बना है । सर्वतो—सर्वतो—कृत् का कृत् बिभक्त्युत्पत्ति प्रत्ययवाक्य से ।

५६२. पुंयोगादिनि—जो पुंयोगादि (पुंयः धातु—पुंयः, वल्गु में पुंयः) के वल्गु ङीप् नहीं होता, किन्तु 'सर्वतोऽकिन्नर्यादित्येके' इनके वल्गु से बना है ।

या पुमाद्वया पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते ततो ङीप् । गोपस्य स्त्री गोपी ।

### ✽ पालकान्ताक्ष ।

५६३ । प्रत्ययस्यात् कात् पूर्वस्यात् इदाप्यसुपः ७।३।४४।

प्रत्ययरथात् कात् पूर्वस्याकारस्येकारः स्यादापि, स आप् सुपः परो न चेत् । गोपालिका । अश्वपालिका । सर्विका । कारिका । अतः

स्त्री के लिये प्रयुक्त होता है । उससे ङीप् प्रत्यय हो जाता है ।

गोपी (गोपाल की स्त्री) — 'पाः पति' (पापों का पालन करता है) — इति पापः । तस्य स्त्री गोप + ङीप् → घकार का लोप (यस्येति च) गोपी ।

टिप्पणी—यहाँ गोपालन के कारण 'गोप' शब्द पुरुष के लिये आया है । उस पुरुष के साथ पति-पत्नी भाव सम्बन्ध होने से स्त्री के लिये भी जब इस शब्द का व्यवहार होता है तो 'गोपी' शब्द बनता है, किन्तु कोई स्त्री यदि स्वयं गोपालन करती है, गोप की स्त्री नहीं है तो 'गोपा' शब्द बनता है ।

पालकान्तादिति—पालक शब्द है अन्त में जिसके ऐसे शब्द से पुंयोग में ङीप् प्रत्यय नहीं होता ।

५६३, प्रत्ययस्यादिति—प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्व के अकार को हकार हो जाता है आप् परे होने पर, यदि वह आप् सुप् से परे न हो ।

गोपालिका (गोपाल की स्त्री) — यहाँ पुंयोग होने से ङीप् प्राप्त था, किन्तु पालकात् होने से 'पालकान्ताक्ष' वाक्य से ङीप् का निषेध हो जाता है और अकारान्त होने से टाप् प्रत्यय होकर पूर्व के अकार को हकार होने पर गोपालिका रूप बनता है । इसी प्रकार 'अश्वपालिका' ।

'सर्विका'—'सर्व' शब्द से 'अव्ययसर्वनाम्नामकप् प्राकृटे,' ३।३।७३ से अकृष् प्रत्यय होकर 'सर्वक' शब्द बनता है । उससे स्त्रीलिङ्ग ॥ टाप् (पञ्चाद्यट्पाप्) प्रत्यय होकर सर्वक + घा → सर्वका इस धावस्था में प्रत्यय स्थित ककार से पूर्व के अकार को हकार होता है तथा सर्विका रूप बनता है ।

कारिका—क वायु से 'प्लुतृचो' ३।३।३३ से प्लुत् प्रत्यय होता है । पु को भक, ककार को वृद्धि (घार) होकर कारक शब्द बनता है । उससे

किम् ? नौका । प्रत्ययस्थात् किम् ? शक्नोतीति शका । असु बहुपरिव्राजका नगरी ।

\* सूर्यादिदेवतायां चाच्चाच्यः ॥

सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या । देवतायां किम् ?

स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय होकर, पूर्व के अकार को इकार होने पर क्त बनता है ।

अतः किमिति—ककार से पूर्व के अकार को इकार होता है—कहा गया है ? इसलिये कि 'नौका' में ओकार को इकार नहीं हो प्रत्यय के ककार से पूर्व ओकार है अकार नहीं, नो + क (स्त्रीलिङ्ग टाप्) → नौका ।

प्रत्ययस्थात् किमिति—प्रत्यय का ककार हो ऐसा क्यों कहा है इसलिये कि 'शक्' में अकार को इकार नहीं होता । 'शक्' धातु से पठ् प्रत्यय होकर शक्त उससे टाप् प्रत्यय होकर शक्ता शब्द बनता है । ककार प्रत्यय का नहीं अपितु धातु का है ।

असुपः किमिति—यदि घाप्, मुद् से परे न हो—ऐसा क्यों कहा है इसलिये कि 'बहुरिवाजका' यह विचार को इकार नहीं होता । पठ् धातु से लुप् प्रत्यय होकर परिव्राजक शब्द बनता है । फिर परिव्राजकाः यस्यां (सा नगरी)—इस विग्रह में समास होकर मुद्, क होकर 'बहुरिवाजक' शब्द से टाप् प्रत्यय होकर 'बहुरिवाजका' पद है । यहाँ घाप् (मुष्) मुद् से परे है, अतः अकार को इकार नहीं होता ।

सूर्यादिति—(वा) पुंयोग से देवता क्य स्त्री के अर्थ में वर्तमान शब्द से चाप् प्रत्यय रहना चाहिये ।

[यह 'पुंयोगाश्रयायाम्' से प्राप्त ङीप् का अववाद है । घाप् में अकार रहता है । अकार और पकार की इमंता होकर ओं हो जाता है]

सूर्या—इसका अर्थ है—सूर्य की स्त्री देवता । यहाँ सूर्य शब्द पुंयोग देवता का स्त्री के लिये प्रयुक्त होता है । घाप्, सूर्य शब्द से घाप् प्रत्यय सूर्य + घा → सूर्या ।

ॐ सूर्यागस्त्ययोश्चे च ऊर्धा च ॥

यतोपः । सूरी-कुन्ती, मानुषीयम् ।

५६४ । इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिभारण्यवयवनमातुलाचा-  
र्याणामानुक् ४।१।४६॥ एषामानुगागमः स्यात् ङीप् च । इन्द्रस्य

देवतायां किमिति—देवता धर्म में चाप् होता है—यह धर्म कहा गया है ? इसलिये कि यदि सूर्य की स्त्री देवता न हो तो ङीप् प्रत्यय ही होता है । जैसे सूर्यस्य स्त्री—सूरी (कुन्ती), यह मानुषी धर्मो मनुष्य जाति की है । यहाँ सूर्य + ई (ङीप्) इस वशा में अकार का लोप होने पर—

सूर्यागस्त्ययोरिति (वा)—सूर्य और अगस्त्य शब्द के अकार का लोप होता है वा और ङी प्रत्यय पर होने पर ।

यतोपः—इससे अकार का लोप होता है ।

सूरी—(सूर्य की स्त्री मानुषी-सूरी-कुन्ती) पुंयोग से स्त्री धर्म में वर्तमान 'सूर्य' शब्द में 'पुंयोगावाक्यायाम्' ४।१।४८ के अनुसार ङीप् प्रत्यय होकर सूर्य + ई → अकार लोप (अस्येति च) तथा ऊपर के वातिक से अकार का लोप होने पर सूरी ।

५६४. इन्द्रेति—इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, भारण्य, वय, वयन, मातुल और आचार्य—इन शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है और आनुक् का आगम भी ।

टिप्पणी—(१) सूत्र में श्री 'पुंयोगात्' की अनुवृत्ति धाती है । इन्द्र आदि १ शब्दों और मातुल तथा आचार्य शब्दों से 'पुंयोगात्' का सम्बन्ध होता है अर्थात् से नहीं, क्योंकि सम्भव नहीं है । इस प्रकार इन्द्र आदि शब्दों से ङीप् 'पुंयोग' में सिद्ध ही है, आनुक् का विधान करने के लिये यहाँ इनका ग्रहण किया गया है । ङीप् 'हिम' आदि चार शब्दों से ङीप् तथा आनुक् दोनों का विधान किया गया है । (२) आनुक् में अकार की इत्तया होती है, अकार उच्चारण मात्र के लिये है अतः 'आनु' शेष रहता है जो किर् होने में 'इन्द्र' आदि के अन्त में होता है ।



स्त्री इन्द्राणी । वरुणानी । भवानी । शर्वाणी । रुद्राणी ।  
 \* हिमारण्ययोर्महत्त्वे ॥ महद् हिमं-हिमानी ।  
 अरण्यानी ।

\* यवाद्दोषे ॥ दुष्टो यवो यवानी ।

\* यवनाल्लिप्यास् ॥ यवनानां लिपिः—यवना

\* मातुलोपाध्याययोरानुस्वा ॥ मातुलानी, माद-  
 यानी, यपाध्यायी ।

इन्द्राणी (इन्द्र की स्त्री)—इन्द्र शब्द में पुंलिंग में डीप्, त  
 आगम होकर इन्द्र + घान् + ई → इन्द्रन् + ई → नकार को ह्रां  
 डनी प्रकार बदल की स्त्री 'वरुणानी' । भव, शर्व, रुद्र मूळ  
 नाम है—इन्हें 'भवानी', 'शर्वाणी', 'रुद्राणी', 'मृगानी' ।

हिमारण्ययोरिति (वा)—हिम और अरण्य शब्द में महद्  
 अर्थ में डीप् और आनुक् होते हैं ।

हिमानी (महद् हिमम् अधिक बलं)—हिम + घान् + ई (य  
 अरण्यानी—(महद् अरण्यम् बलं वन)—अर्थ + घान् +  
 यवादिति—दीपवृत्त यव के अर्थ में वर्तमान यव शब्द में  
 नका आनुक् होते हैं ।

यवानी—(दीपवृत्त यव)—'दुष्ट' यव' इस अर्थ में यव श  
 प्रत्यय तथा आनुक् का आगम होकर यव + घान् + ई → यवानी ।

यवनानिति—यवन शब्द में निजि अर्थ में डीप् और आनु  
 यवनानी (यवनों की लिपि)—यवनानां लिपिः—इस अर्थ में  
 में डीप् प्रत्यय और आनुक् का आगम होकर यवन + घान् + ई →

मातुलेति—मातुल और उपाध्याय शब्द में आनुक् विवक्षित में  
 मातुलानी मातुली (माता)—मातुलस्य स्त्री-माया की स्त्री—  
 'मातुल' शब्द में (पुंलिंग में) डीप् प्रत्यय होता है और विवक्षित

❖ आचार्यादणत्वं च ॥ आचार्यस्य स्त्री-आचार्यानी ।

❖ अयंक्षत्रियाम्भ्यां वा स्यात् ॥ अर्याणी, अर्या । क्षत्रियाणी, क्षत्रिया ।

वा आगम होता है → मानुस् + घान् + ई → मानुसानी । मानुस् न होने पर मानुस् + डीप् → मानुस् + ई → अकार लोप (यायेति च) मानुसी ।

इसी प्रकार उपाध्याय की स्त्री—'उपाध्यायानी, उपाध्यायी'

टिप्पणी—ओ स्वयं ही आचार्याका होती है । उसके निचे ली 'उपाध्यायी' वा उपाध्याया शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि चार्तिक है—'वा तु स्वयमेवाध्यायिका लभ वा डीप् बाध्य' ।

आचार्येति—डीप् प्रत्यय और मानुस् का आगम होने पर आचार्य शब्द से परे नकार का लुकार (एत्व) नहीं होता ।

आचार्यानी—आचार्यस्य स्त्री (आचार्य की स्त्री)—इस विग्रह में आचार्य शब्द से पुंलिंग में डीप् प्रत्यय तथा मानुस् का आगम होकर आचार्य + घान् + ई → आचार्यानी—इस अवस्था में नकार को लुकार होता प्राप्त होता है उसका प्रस्तुत चार्तिक से निवेद्य हो जाता है तथा आचार्यानी रूप बनता है । ओ स्त्री रूप ही आचार्य ही उसको 'आचार्या' कहा जाता है ।

अयेति—अयं और क्षत्रिय शब्द से स्वायं में डीप् प्रत्यय तथा मानुस् का आगम होता है दिक्त्व से ।

अर्याणी-अर्या (वैश्य वर्ग की गारी)—अयं (वैश्य) लभ से स्त्रीलिङ्ग में विकर से डीप् प्रत्यय तथा मानुस् का आगम होने पर अयं + घान् + ई → नकार को लुकार अर्याणी । वक्ष में डीप् प्रत्यय (अशाट्ठ्यान्) होकर अयं + घा → अरी रूप बनता है ।

इसी प्रकार क्षत्रियाणी-क्षत्रिय—(क्षत्रिय वर्ग की स्त्री) ।

पुंलिंग में ली (अर्यस्य स्त्री) अर्या तथा (क्षत्रियस्य स्त्री) क्षत्रियी रूप बनते हैं ।

५६५ । क्रीतात् करणपूर्वात् ४।१।५०॥ क्रीतान्त  
करणदेः स्त्रियां ङीप् स्यात् । वस्त्रक्रीती । कवचिन्म-धनक्रीता

५६६ । स्वाङ्गान्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ४।१।

५६५. क्रीतादिति—'क्रीत' शब्द है धन में जिसके तथा करण  
आदि में जिसके ऐसे प्रकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीतिङ्ग में ङीप्  
होता है ।

वस्त्रक्रीती (वस्त्र से खरीदी हुई)—'वस्त्रेण क्रीता' इस विग्रह  
कारकोपपदानां वृद्धिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः, इस परि-  
ग्रनुसार 'क्रीत' से परे सुप् धातु से पहले ही समास हो जाता है  
'वस्त्रक्रीत' शब्द से 'क्रीतात् करणपूर्वात्' सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर  
—ङीप्—प्रकार लोप वस्त्रक्रीतो शब्द बनता है ।

कवचिदिति—कही यह ङीप् नहीं होता, जैसे—धनक्रीता धनेन  
धनक्रीता—'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' में बहुल शब्द के ग्रहण से कही  
'यतिकारक' इत्यादि परिभाषा की प्रकृति नहीं होती, अतएव क्रीत  
पहले सुप् होकर तब सुबन्त के साथ समास होता है और सुप् से पूर्व  
बोधक प्रत्यय टाप् हो जाता है ।

५६६. स्वाङ्गाच्चेति—संयोग नहीं है उपधा में जिसकी ऐसा, उ-  
(गीण) जो स्वाङ्गवाची शब्द, वह जिसके अन्त में हो उस प्रकारान्त  
पदिक से ङीप् प्रत्यय होता है विकल्प से ।

टिप्पणी—स्वाङ्ग शब्द का यौगिक अर्थ 'अपना अङ्ग' (अर्थात्  
अवयव) होता है किन्तु यहाँ इसका पारिभाषिक अर्थ है जैसा कि वाशिक  
बतलाया गया है—(१) अङ्गं मुनिमय स्वाङ्गं प्राणिभयविकारवम् ।

(२) अतत्त्वं तत्र दृष्टं च । (३) तेन चेतसया पुनम् ।

१. कर्तृकरणे कृता बहुलम् ५।१.३२ ।

असंयोगोपधमुपसर्जनं यत् स्वाङ्गं तदन्ताददन्तात् ङीप् वा स्यात् ।  
 केशान् अतिक्रान्ता अतिकेशी, अतिकेशा । चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा ।  
 असंयोगोपधात् किम् ? सुगुल्फा । उपसर्जनात् किम् ? शिखा ।

अर्थात् स्वाङ्ग तीन प्रकार का होता है—(१) जो द्वय (तरल) रूप न हो साकार (मूर्तिमान्) हो, प्राणुबारी में विद्यमान हो और किसी रोग आदि (विकार) के उत्पन्न न हुआ हो, (२) जो इस समय प्राणी में स्थित न हो किन्तु प्राणी में देखा गया हो, जैसे यदि प्राणी के सुन्दर केश किसी गली में पड़े हों तो वहाँ भी उपर्युक्त सूत्र से ङीप् होकर 'मुकेशी मुकेशा वा १८्या' यह प्रयोग हो जायेगा । (३) यदि कोई अप्राणी भी प्राणी में स्थित किसी मङ्ग (स्तन आदि) से उसी प्रकार युक्त हो जैसे प्राणी होता है तो वह अप्राणी का भी स्वाङ्ग कहलायेगा । अतः सुस्तनो मुस्तना वा प्रतिष्ठा—यहाँ भी उपर्युक्त सूत्र के अनुसार विकल्प से ङीप् होता है ।

अतिकेशी अतिकेशा—केशान् अतिक्रान्ता (केशों का अतिक्रमण करने वाली) यहाँ 'अतिकेश' शब्द से 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद् असंयोगोपधात्' सूत्र से विकल्प से ङीप् होकर अतिकेश+ई→अकारलोप अतिकेशी । ङीप् न होने पर (अजायतप्टाप्) टाप् प्रत्यय होकर अतिकेशा शब्द बनता है ।

विशेष—'केशान् अतिक्रान्ता' इस विग्रह में 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इस वाक्य से समास होता है । अतिकेश शब्द में केश शब्द प्रथम प्रकार का स्वाङ्गवाची है यह अद्वय है, मूर्तिमत् है तथा प्राणी में स्थित है । यह उपसर्जन भी है, क्योंकि 'अतिकेश' शब्द में पूर्वपद का अर्थ प्रधान है तथा उत्तरपद का गौण । इस प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ।

चन्द्रमुखी-चन्द्रमुखा—चन्द्र इव मुखं यस्याः (चन्द्र के समान है मुख त्रिमका)।—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होकर चन्द्रमुख शब्द बनता है । उससे 'स्वाङ्गाच्च' इत्यादि सूत्र से विकल्प से ङीप् होकर चन्द्रमुखी । पर में टाप् (अजायतप्टाप्) प्रत्यय होकर चन्द्रमुखा शब्द बनता है ।

असंयोगोपधात् किमिति—जिसकी उपधा में संयोग न हो ऐसा क्यों कहा गया है ? इसलिये कि सुगुल्फा (गोमनी गुल्फी यस्याः) यहाँ ङीप् नहीं होता

५६७ । न क्रोडादिवह्वचः ४११५६॥ क्रोडादेः  
स्वाङ्गात् ङीप् । कल्याणक्रोडा । आकृतिगणोऽयम् । सुजघना ।

५६८ । नखमुखात् संज्ञायाम् । ४११५७॥ न ङीप्

५६९ । पूर्वपदात्संज्ञायामगः ४११५८॥ पूर्वपदस्थानि  
परस्य नस्य एः स्यात् संज्ञायां न तु गकारव्यवधाने । शू  
गौरमुस्या ।

क्योंकि यही उरधा में (फकार के साथ सफार का) सयोग है ।

उपसर्जनात् किमिति—उपसर्जन जो स्वाङ्गवाची—ऐसा क्यों क  
है ? इसलिये कि 'गिष्ठा' शब्द में ङीप् नहीं होता । यही 'गिष्ठा' शब्द  
के प्रति उपसर्जन नहीं है ।

५६७. न क्रोडादीति—क्रोड आदि गण के तथा बह्वच् (जिसमें  
अच् अर्थात् स्वर हो) स्वाङ्गवाची प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय नहीं होता ।

कल्याणक्रोडा—कल्याणी क्रोडा यस्याः (कल्याणकारी है क्रोडा)  
यस्यस्य जिसका ऐसी घोड़ी—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होकर  
'कल्याणक्रोड' शब्द से 'स्वाङ्गवाची' से प्राप्त ङीप् नहीं होता यदि  
(प्रजापतः००००) होकर 'कल्याणक्रोडा' शब्द बनता है ।

आकृतिगण इति—यह (क्रोडादि) आकृतिगण है अर्थात् गणपटिक  
के प्रतिरिक्त अन्य भी ऐसे शब्द हो सकते हैं ।

सुजघना—जोभनं जघनं यस्याः (सुन्दर हैं जघन जिसके)—इस विग्रह  
'सुजघन' बहुव्रीहि समास बनता है । यहाँ 'स्वाङ्गवाची' से ङीप् प्राप्त  
है किन्तु 'जघन' शब्द में बहुत से अच् हैं अतः न क्रोडादिवह्वचः से ङीप्  
निषेध हो जाता है और टाप् प्रत्यय होकर सुजघना शब्द बनता है ।

५६८. नखेति—नख और मुख—इन स्वाङ्गवाचक शब्दों से ङीप्  
प्रत्यय नहीं होता ।

५६९. पूर्वपदादिति—पूर्वपद में विभक्ति निमित्त से परं काले नकार  
एकार हो जाता है संज्ञा में, किन्तु यदि यकार बीच में हो तो नहीं होता ।

शूर्पाङ्गो—शूर्पाङ्ग इव मत्स्यानि यस्याः (शूर्पाङ्ग के समान है मत्स्य 'वि')

१. यस्यानामुरः क्रोडा—सिद्धान्तरीमुदी ।

यां किम् ? ताग्रमुखी कथ्या ।

६०० । जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ४।१।६३॥ जातिवाचि  
च त्रियां नियतमयोपधं ततः त्रियां ङीप् स्यात् । तटी । घृपली ।

‘क राजाभी का नाम (संज्ञा) है अतः ‘स्वाङ्गाच्च०’ से ओ ङीप् प्राप्त होता  
है ‘नलमुक्ताय सज्ञायाम्’ इस गूण से विदेश हो जाता है ओर टाव् प्रत्यय  
तथा ‘पूर्ववशात्संज्ञायाम्’ के अनुसार नकार को एकार होकर ‘मूर्च्छता’  
बनता है ।

गौरमुखी—गौरं मुलं वस्याः (गौर है मुल वियवा) —यहाँ ‘स्वाङ्गाच्च०’  
प्राप्त होता है, किन्तु यह किसी का नाम है अतः ङीप् का उपर्युक्त गूण  
न हो जाता है ओर टाव् प्रत्यय होकर ‘गौरमुक्ता’ रूप बनता है ।

क्षियां किमिति—संज्ञा से ङीप् नहीं होता ऐसा क्यों कहा गया है ?  
। कि ‘ताग्रमुखी कथ्या’ यहाँ ‘स्वाङ्गाच्च०’ ङीप् होता ही है क्योंकि  
मुलं वस्याः सा’ इस विग्रह में बना हुआ ‘ताग्रमुखी’ शब्द योगिक है,  
यै संज्ञा नहीं ।

६००. जातेरिति—ओ जातिवाचक शब्द, स्त्रीविद्ग में नियत न हों तथा  
उपधा में वहार न हो; ऐसे अकाराद्य शब्द से स्त्रीविद्ग में ङीप् प्रत्यय  
।

पपली—यहाँ कानि शब्द पारिवर्तिक हैं । जैसा कि कहा है—

) साहित्यकला आदिः (२) विद्ग नो च न सर्वमाह ।

साहित्यादिविद्गाः (३) योगं च वरणीः सह ॥

अतः यहाँ कानि तीन प्रकार की हैं—(१) ओ साहित्यविशेष से ध्यत  
है, जैसे छंद आदि; साहित्यविशेषगुण अलसमीय का प्रदेश छंद बहुमाना  
। ओ सब विद्गों से न ही तथा एक कालि में करना देने पर ध्यतों में  
प्रत्यय से ग्रहण हो जाये, जैसे वृषभ आदि । (२) योग ध्यतों  
इत्यादि शब्द ओरद्वय इत्यादि, अरुण ध्यतों काका के पढ़ने जाने के  
छ ‘वठ’ आदि । इनके उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

।—छंद आदिवाचक शब्द हैं, यह स्त्रीविद्ग में नियत भी नहीं है,

कठो । बहुव्रीहो । जातेः किम् ? मुष्ठा । अग्नीविषयान्  
बलात् । अयोपधान् किम् ? क्षत्रिया ।

॥ योपधप्रतिषेधे ह्यगवयमुक्त्यमनुष्यमत्स्यानामप्रतिषेधः ।  
हयो । गवयी । मुक्षयी । हस्तस्तद्विनश्येति यज्ञोपः । मनुषी ।

इसकी उच्चा में यकार भी नहीं है अतः इसमें उपसृक्त मूल के अनुस-  
प्रत्यय होकर लट् + ई → यकार सोर लटी गइ बनता है ।

वृषली—(वृषज जानि की स्त्री)—वृषज + डीप् → वृषज + ई →

कठो—(कठ नामा की पढ़ने वाली)—कठेन प्रोक्तमधीयाना कठ-  
जिसका प्रवचन किया गया है (कठेन प्रोक्तम्) वह कठ नामा है । उभय  
को भी कठ कहलाते हैं । कठ नाम को जानिवाचक मानकर उसमें 'अ-  
विषयादयोपधात्' मूल से डीप् प्रत्यय हो जाता है ।

इसी प्रकार 'बहुव्रीहो'—बहुवृचसाक्षामधीयाना—बहुवृचसाक्षा  
वाची । अगवयद्रव्यान्त का उदाहरण है—उपगोरपथं स्त्री 'गोरगो-  
धीनगव लज्ज मे डीप् प्रत्यय होता है । (मिद्धाम्तगोमुनी)

जातेः किमिति—जातिवाची से हो, ऐसा क्यों कहा गया है ? इस  
'मुष्ठा' (मुँही हुई) यहाँ डीप् नहीं होता क्योंकि इसमें उपसृक्त का  
संज्ञा चिह्न नहीं होता ।

अग्नीविषयान् किमिति—जो स्त्रीलिङ्ग में नियत न हो ऐसा क्यों  
कहा है ? इसलिये कि 'वपाका' यहाँ डीप् नहीं होता; क्योंकि वपाका  
स्त्रीलिङ्ग में नियत है ।

अयोपधान् किमिति—जिसकी उच्चा में यकार न हो—ऐसा क्यों  
कहा है ? इसलिये कि 'क्षत्रिया'—यहाँ डीप् नहीं होता ।

योपधेति (वा)—योपध के नियेध में ह्य, गवय, मुक्षय, मनुष्य  
प्रत्यय—इन शब्दों का प्रतिषेध नहीं होता अर्थात् इनसे डीप् होता ही है

हयी (घोड़ी)—'हय' शब्द की उच्चा में यकार है अतः 'जाते  
विषयादयोपधात्' से स्त्रीलिङ्ग में डीप् प्राप्त नहीं था । इस यातिरु के  
डीप् हो जाता है तथा हय + डीप् → हय + ई → यकारसोप हयी शब्द

\* मत्स्यस्य ङ्याम् ॥ यतोऽयः । मत्सी ।

६०१ । इतो मनुष्यजातेः ४।१।६५॥ डीर् । दासी ।

६०२ । ऊङुतः ४।१।६६॥ वदन्तादयोऽप्याग्नमनुष्यजातिबा-

है । इसी प्रकार गवय (गाव जैसा एक पशु) से 'गवयी' और मूषय (पशुविशेष) से 'मुकयी' ।

मनुषी (मारी)—मनुष्य शब्द की उपधा में यकार है फिर भी उपसुक्त वार्तिक के द्वारा डीर्घ प्रत्यय होता है । मनुष्य + ई → इस अवस्था में यकार लोप (यस्येति च) तथा 'हलस्तद्धितस्य' से यकार का लोप होकर 'मनुषी' शब्द बनता है ।

मत्स्यस्येति—'मत्स्य' से यकार का लोप होता है डीर्घपरे होने पर ।

मत्सी (मासी)—'मत्स्य' शब्द की उपधा में यकार है तथापि उपसुक्त वार्तिक के अनुसार डीर्घ प्रत्यय हो जाता है । मत्स्य + ई → इस अवस्था में यकार लोप (यस्येति च) तथा 'मत्स्यस्य ङ्याम्' इस वार्तिक से यकार का लोप होकर मत्स्य + ई → मासी रूप बनता है ।

६०१. इत इति—मनुष्य जातिवाची इकारान्त शब्द से डीर्घ प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—'कातेरस्त्रीविषयादयोऽप्याम्' सूत्र के अनुसार यकारान्त प्रातिपदिक से डीर्घ होता है यतः प्रस्तुत सूत्र द्वारा इकारान्त शब्द से डीर्घ का विधान किया गया है ।

दासी—दशस्यागत्य स्त्री—दश की लगान स्त्री—इस विग्रह में दश शब्द से 'भत दश' से दश प्रत्यय होकर 'दाशि' शब्द बनता है जो मपरय प्रत्ययान्त होने से जातिवाचक है । इससे (इतो मनुष्यजातेः) डीर्घ प्रत्यय होकर दाशि + ई → इकारलोप (यस्येति च) दासी रूप बनता है ।

६०२. ऊङुत इति—यकार है अन्त में जिसके तथा यकार नहीं है उपधा में जिसके ऐसे मनुष्य जातिवाचक प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है ।



चिनः सित्रयामूहस्यत् । कुरुः । अयोपघात् किम् ? अ  
६०३ । पङ्गोरच ४।१।६८॥ पङ्गूः ।

॥ श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च ॥ २६३ ॥

कुरुः—कुरो. प्रपत्य स्त्री—कुरुदेश का राजा कुरु उतकी ।  
यहाँ कुरु शब्द से प्रत्यय अर्थ में अयः प्रत्यय होकर उतकी कुरु  
प्रत्ययप्रत्ययान्त होने से यह मनुष्यव. निवाचक है प्रत्यय इससे उ  
प्रत्यय होकर कुरु + ऊ → सवर्णधीर्घ कुरु रूप बनता है । 'कुरु +

अयोपघान् किमिति—जिसकी उपधा में यकार न हो—ऐ  
गया है । इसीलिये कि सवर्णमुं ब्रह्मणी यहाँ सवर्णमुं शब्द से ऊङ्  
होता; क्योंकि इसकी उपधा में यकार है । 'सवर्णमुं' शब्द 'दीर्घ' के  
के अनुसार जातिवाचक है ।

६०३. पङ्गोरचेति—'पङ्गु' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय  
टिप्पणी—पङ्गु शब्द जातिवाचक नहीं, भन् ऊङ्गुतः से ऊङ्  
या । इसलिये इन सूत्र द्वारा ऊङ् प्रत्यय कहा गया है ।

पङ्गूः (लिंगही)—पङ्गु शब्द से 'पङ्गोरच' सूत्र के अनुसार ।  
ऊङ् प्रत्यय होकर पङ्गु + ऊ → पङ्गू रूप बनता है ।

श्वशुरस्येति—श्वशुर शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय हो

१. कुरुनादयो २२: ४।२ १७२)

२. अर्थवदधातुर-त्वय. प्रातिपदिकम् १।२।४५॥ सूत्र से धातु त  
की छोड़कर अर्थयुक्त शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होती है यतः '।  
ऊङ्गुत शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा न होगी फिर गु धादि -(मु.) ।  
होगे ? क्योंकि वे (सू. धात् प्रातिपदिकात्) डी, धात् प्रत्ययान्त तथा  
संज्ञक से ही होते हैं; तथापि 'प्रातिपदिकग्रहणे. लिङ्गविनिर्दिष्टाया  
(प्रातिपदिक के ग्रहण से लिङ्गबोधकप्रत्ययविनिर्दिष्ट का भी ग्रहण हो  
परिभाषा के अनुसार ऊङ् प्रत्ययान्त में भी 'मु' धादि हो जाते हैं यी  
—कुरु: धादि रूप बनते हैं ।

६०४ । उत्तरपदादीपम्ये ४११६६। उपमानवाचि पूर्वपद-  
मूत्तरपदं यत्प्रोतिपदिकं तामादृष्ट्वा स्यात् । करभोरुः ।  
(६०५) । संविता

६०५ । संहितशफलक्षणवामादेश्च ४१७०॥ अनीपग्यार्थं  
सूत्रम् । संहितोरुः । शफोरुः । लक्षणोरुः । वामोरुः ।

मकार से परे वाले अकार का धोर रेफ (६) से परे वाले अकार का धोर हो जाता है।

इक्षुः (ताम्र) — 'इक्षु' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊर्ध्व प्रथम्य होकर  
 इक्षु + क → इस अवस्था में शकार से पर उकार का तथा रेफ से पर अकार  
 का लोप हो जाना है, इक्षु + क → इक्षु + कु → इक्षुः ।  
 ६०४. ऊरुसरेति —

६०४. ऊरुत्तरेति—उपमानवाची हो पूर्वपद क्रियाका धीर 'ऊरु' शब्द हो तत्पद क्रियाका ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीतिङ्ग से ऊरु प्रत्यय होता है।  
करभोरुः—करभी इव ऊरु पश्याः/करभी के समान ऊरु पश्याः

करभोलः—करभी इव ऊरु यस्याः (करम के समान हैं ऊरु जिसके) —  
 पूर्ववत् 'करम' शब्द है जो उपमानवाची है तथा उत्तरार्ध 'ऊरु' शब्द है  
 यतः प्रस्तुत सूत्र से ऊरु प्रत्यय होकर करभोल + ऊ + लभश्च + यं होकर  
 करभोलः शब्द बनता है।

दिए गयी—हाथ का कलाई (मल्लिकार्जुन) से लेकर कनिष्ठिका तक के हड्डी के निचले भाग को वरम कहते हैं। ऊपर की प्राकृति इय (वरम) के समान है वही दोनों में समानता है अथवा स्निग्धता या कोमलता दोनों का।

६०४. संहिनोति—संहित, रूप, सहाय और बाय बन्द हो पूर्वपद (पाद) जिसका ओर ऊंच ऊंच हो उत्तरपद जिसका ऐसे प्रतिपदिक से भी स्वीकृत के ऊंच, प्रत्यय होता है।  
अनीपस्यासिद्धि

अनीपम्यार्थमिति—यह वृत्त अनीपम्य के लिये है अर्थात् वहाँ पूर्णतः  
अनीपम्य नहीं है वहाँ अनीपम्य के विधान के लिये है।  
सहितोक्त—सहित (सहित)

संहितायुक्तः—संहिता (समिन्धन) ऊपर बताया—मिने हुए हैं ऊपर विषयः।

६०६ <sup>अन्त</sup> शाङ्गं रवाद्यजो डीन् ४।१।७३॥ शाङ्गं रवाद्यजो

योऽकारस्तदन्ताच्च जातिवाचिनो डीन् स्यात् । शाङ्गं रवाद्यजो  
माहारी । नृतरयोर्वृद्धिरुच । नारी ।

इस विग्रह में निष्पन्न 'संहिनोद' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊर्ध्व  
संहिनोद + ऊ → सवर्णदीर्घं संहिनोदः ।

इसी प्रकार 'शफो ऊर्ध्व यस्याः' (संलिप्त<sup>१</sup>) है ऊर्ध्व जिसके  
संशयो ऊर्ध्व यस्याः (शुभ लक्षणयुक्त<sup>२</sup> है ऊर्ध्व जिसके) 'लक्षणं  
ऊर्ध्व यस्याः (सुन्दर है ऊर्ध्व जिसके) 'वायोः' शब्द बनते हैं ।

६०६. शाङ्गं रवेति—शाङ्गं रव आदि शब्दों से तथा घञ् क  
बहु है अन्त में जिसके ऐसे जातिवाचक शब्दों से डीन् प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—'शाङ्गं रव तथा बँद' शब्द अपत्य प्रत्ययान्त हैं ।  
लक्षण डीप् प्राप्त होने पर डीन् प्रत्यय का विधान किया गया है ।  
डीन् में स्वर का भेद है । डीन् प्रत्ययान्त शब्द प्राद्युदात्त होता है ।

शाङ्गं रवी—शृङ्गरोः अपत्यं स्त्री (शृङ्गर की संगतान स्त्री)  
से घण् प्रत्यय होकर शाङ्गं रव शब्द बनता है । उससे प्रस्तुत सूत्र  
डीन् प्रत्यय होकर शाङ्गं रव + ई → अकार लोप (यस्येति च) शा

बँदी—विदस्य अपत्यं स्त्री बँदी । (विद की संगतान स्त्री) विद  
बँद ।<sup>४</sup> अत्रन्त बँद शब्द से डीन् प्रत्यय होकर बँद + ई → अकार लोप

माहारी—माहारा शब्द शाङ्गं रव आदि गण में है ।  
लक्षण डीन् प्राप्त वा । उसे बाध कर प्रस्तुत सूत्र से डीन् होता है ।  
+ ई → माहारी ।

नृतरयोरिति (गणसूत्र)—नृ धीर नर शब्द से स्त्रीलिङ्ग में नृ

१. शफ शब्द का अर्थ सूर होता है, किन्तु यहाँ शफ शब्द से  
सदृश संलिप्त यह अर्थ लक्षण द्वारा प्रकट होता है ।

२. 'लक्षण' शब्द अर्थात् प्रत्ययान्त है जो लक्षणयुक्त के अर्थ

३. जिनत्यादिनित्यम् । ६।१।१६७॥

४. अनुप्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽज् ४।१।१०॥

६०७। यूनस्तिः ४।१।७७। युक्त्वं शब्दात्स्त्रियां ति प्रत्ययः  
स्यात् । युवतिः ।

॥ इति स्त्रीप्रत्ययाः ॥

होता है और इन शब्दों को वृद्धि भी होती है ।

टिप्पणी—(१) नृ के ऋकार को वृद्धि (घाट्) होती है तथा नर शब्द में नकार से पर घकार को वृद्धि (घा) होती है । (२) नृ शब्द से 'ऋन्मेघ्यो ङीप्' से ङीप् प्रत्यय प्राप्त था और 'नर' शब्द से जाति सहाण ङीप् प्राप्त था । उनको बाधकर इससे ङीप् प्रत्यय होता है ।

नारी—'नृ' शब्द से ङीप् होकर ऋकार को वृद्धि (घाट्) होकर नाट् +  
→ नारी तथा 'नर' शब्द से ङीप् होकर नर + ई → घन्त्य घकार का लोप  
या पूर्व घकार को वृद्धि होकर नारी शब्द बनता है ।

६०७. यून इति—'युक्त्वं' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ति प्रत्यय होता है ।

युवती—युक्त्वं शब्द से युनस्तिः सूत्र के अनुसार ति प्रत्यय होकर  
नृ + ति → नकार लोप होकर युवतिः शब्द बनता है ।

टिप्पणी—यह ति प्रत्यय तद्धितसंज्ञक है, अतः 'कृतद्धितसमासाश्च' से  
'ति' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होकर नु यादि प्रत्यय होते हैं ।

ॐ इति स्त्रीप्रत्ययः ॐ

१. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७७॥

## अथ तिङन्तप्रक्रिया

तिङन्तेति—धातुओं से क्रिया पद बनाने के लिये जो 'तिप्' जोड़े जाते हैं, उन्हें तिङ् कहते हैं। तिङ् प्रत्यय जिनके अन्त में हो क्रिया पदों को तिङन्त कहते हैं।

धातु-धातु पाठ में पठित जो 'भू' धादि हैं<sup>१</sup> तथा 'सन्' धादि जो 'चिकीर्षे' इत्यादि बनती हैं, वे धातु कहलाती हैं।<sup>२</sup>

धातुओं से दो प्रकार के प्रत्यय जोड़े जाते हैं—(१) कृतप्रत्यय तिङ् प्रत्यय। इनमें से कृत प्रत्ययों की प्रक्रिया ऊपर बिलसाई जा तिङ् प्रत्यय 'मकार' के स्थान में होते हैं।<sup>३</sup> वाम धादि (Tenu mouls) को प्रकट करने वाली क्रिया की अवस्था की व्याकरण में कहा जाता है। मकार दम है—मट्, मिट्, लुट्, लृट्, मेट्, मोट् ॥ लुट्, लृट्। इनमें से मेट् मकार का प्रयोग केवल केश में ही होता है मकार के दो भेद होते हैं—१. विधिविङ् धीर २. धातोनिङ् इतत्त विवृण विवेचन मकारार्थ प्रक्रिया में क्रिया जायेगा।

तिङ्-मकार के स्थान में होने वाले 'तिप्' धादि १८ प्रत्ययों में १. ओ प्रत्यय परस्मैपद सन्नक होते हैं<sup>४</sup> तथा अन्त के ओ प्रत्यय आत्मनेपद होते हैं।<sup>५</sup> परस्मैपदी धातुओं से परस्मैपद के प्रत्यय, आत्मनेपदी से आत्मनेपद के प्रत्यय लगाये जाते हैं (धातुओं के परस्मैपद धादि का आगे दिया जायेगा।) परस्मैपद धीर आत्मनेपद के तिङ् प्रत्ययों के ओ तीन त्रिक (तीन का समूह) होते हैं जबकी इमत्त प्रथम, मत्थम धीर

१. धुवादयो धातवः १।३-१।

२. मनाद्यन्ता धातवः ३।१।३२

३. मस्य ३।४।३३ तिप्तामृजिमिप्यमृवमिथ्वमृमृगृहाभ्यधासाकीर्षादि

महिङ् ३।१।३८ यहाँ 'ति' से लेकर इ, लट् मिट्, प्रवाहार् बनः

४. मः परस्मैपदम् ३।४।६१।

५. लङानाह्मनेपदम् ३।४।१००।

पुरुष संज्ञा होती है। और प्रत्येक निङ् के तीन प्रत्ययों का क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन में प्रयोग होता है। संक्षेप में तिङ्प्रत्ययों का मूलत्ववचन यह है

| एकवचन            |       |        | द्विवचन |       |        |
|------------------|-------|--------|---------|-------|--------|
| एक०              | द्वि० | बहुवचन | एक०     | द्वि० | बहुवचन |
| प्रथम पुरुष तिप् | तत्   | मि     | त       | आताम् | न्     |
| मध्यम पुरुष सिप् | सिप्  | सिप्   | सिप्    | आताम् | वम्    |
| उत्तम पुरुष मिप् | मिप्  | मिप्   | इट्     | सिद्  | महिद्  |

इन प्रत्ययों का विविध लकारों में कुछ रूप-परिवर्तन हो जाता है। लट् (वर्तमान) में यह रूप परिवर्तन बहुत ही कम होता है। तिङ्प्रत्यय प्रक्रिया को समझने के लिये परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी वाचुषों के (लट् लकार में) सामान्य रूपों का विवेचन उपयोगी होगा। 'भू' लतावाच्य (होना) वाचु परस्मैपदी है इसके लट् लकार में ये रूप होते हैं—

|                  |         |        |
|------------------|---------|--------|
| एकवचन            | द्विवचन | बहुवचन |
| प्रथमपुरुष भवति  | भवतः    | भवन्ति |
| मध्यमपुरुष भवसि  | भवस्यः  | भवस्य  |
| उत्तमपुरुष भवामि | भवामः   | भवामः  |

इन रूपों की सशिष्ट प्रक्रिया इस प्रकार है—

भवति—भू वाचु से 'बभू'वाच्य के ('बहु होता है' इस अर्थ में) लट् लकार प्रथमपुरुष के एकवचन में—'भू+ति' इस दशा में 'ति' की सार्व-वाच्यसंज्ञा (तिङ्प्रतिपत्त्यर्थवाच्यसंज्ञा ३।४।११३) होने पर कारण वाचु और तिङ्

१. तिङ्प्रतिपत्तिर्वाच्य प्रथमपुरुषसंज्ञाः १।४।१०१।

२. साम्येकवचनद्विवचनबहुवचनाभेदः १।४।१०२।

३. वाच्य तीन होते हैं—बभूवाच्य, भववाच्य, भाववाच्य इनका विशेष वर्तमान भाववर्त्मप्रक्रिया में विचार कर दिया।

४. तिप् के व वा सोऽ (ह्रस्वसम्) रूप में ह्रस्वसंज्ञा तथा 'तस्य सोऽ' से लोऽ हो जाता है।

५. वाचु से होने वाले दोनों प्रकार के प्रत्ययों (इप् तथा तिङ्) की दो बातों में रचना मरा है—(१) सार्ववाच्य सार्व- तिङ् तथा तिप् (विशेषाकारण रूप संज्ञक है) परस्मै (तिङ्प्रतिपत्त्यर्थवाच्यसंज्ञा ३।४।११३); (२) सार्व-वाच्य, सार्व-वाचु से होने वाले दोष इप् सार्व परस्मै (सार्ववाच्य संज्ञा ३।४।११४), तिङ् (तिङ् (तिङ् व ३।४।११६) तथा वाच्योत्पत्ति (तिङ्प्रतिपत्ति ३।४।११६)।

के मध्य में वात् (कर्तरि वाप् ३।१।६०) 'विकरण' हो जाता है। रहना है) तथा 'भू + घ + नि' यह द्विवचन हो जाती है। यहाँ गुण (घ) होकर भो + घ + ति इस दशा में 'घों' को 'घप् घ' है तथा भव् + घ + नि → भवनि यह क्त बनता है।

भवतः—'भू + तम्' (प्रथम पु० द्विवचन) इस दशा में 'भव' ही सब कार्य होकर 'स्' को व (१) तथा 'ट्' को विसर्ग होकर

भवन्ति—'भू + णि' यहाँ (प्रथम पु० व बहुवचन में) आदेश (भो०प्रतः ७।१।१३) होकर तथा टप्, गुण और भव् ॥ अकार को वरुण = (घ + घ = घ) हो जाता है।

इसी प्रकार मध्यम पु० के तीनों रूप—भू + घ + ति → घ + घस् → भू को व तथा विसर्ग होकर 'भवघः' और भू + घ + तिष्ठ होने हैं।

उत्तम पु० के एकवचन में भू + घ + मि → भव् + घ + मि इस अवस्था में 'भव' के अन्तिम अकार को दीर्घ होकर होता है।

इसी प्रकार द्विवचन में—भू + घ + वस् = 'भवावः', बहुवचन भू + वस् = 'भवामः'।

१. वात् और तिष्ठ के बीच में जो 'घप्' आदि सन्देशों को 'विकरण' कहलाते हैं। ये विकरण केवल सार्वधातुक।

सोट्, लट् और विधितट्) सकारों में ही होते हैं।

२. सार्वधातुकार्यधातुकयोः (७।१।८४) सार्वधातुक तथा आदेश परे होने पर इयन्त भङ्ग को गुण होता है।

३. यतो गुणे ६।१।६७॥

४. यतो दीर्घो यत्रि ७।३।१०१ यच् है आदि में जिसके ऐसा प्रत्यय परे होने पर अकारान्त भङ्ग को दीर्घ होता है।

भारतनेपदी धातुओं की सामान्य प्रक्रिया

एष वृद्धी (वृद्धा) धातु भारतनेपदी है। इसके रूप लट् लकार में हल र होते हैं :—

|            | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|------------|-------|---------|--------|
| प्रथमपुरुष | एषते  | एषेते   | एषन्ते |
| मध्यमपुरुष | एषसे  | एषेधे   | एषध्वे |
| उत्तमपुरुष | एमे   | एषावहे  | एषामहे |

इन रूपों की संक्षिप्त प्रक्रिया निम्नलिखित है :—

एषते—'एष् + त' इस वधा में 'त' की सार्वधातुक सज्ञा होने पर धातु प्रत्यय के मध्य में तप् होकर 'एष् + त + त' यहाँ 'त' के त् को 'ए' हो ३ है तथा एष् + त + ते = एषते रूप होता है।

एषेते—'एष् + ञ + आताम्' इस वधा में 'आताम्' के आ को इष् आदेश र 'एष् + त + इष् + ताम्' इस वधा में 'त + इ' = ए (गुण) तथा 'य्' लोप होकर एष् + ए + ताम् यहाँ पर ताम् के 'आम्' (टि) को एकार आता है तथा एषेते रूप बनता है।

एषन्ते—एष् + त (तप्) + ञ (ञ् को 'अन्त' आदेश होकर) 'एष् + त + अन्त' अन्त के अन्तिम 'त' (टि) को एकार तथा तप् के त् का अन्त के त् के साथ वरक्य होकर एष् + त + अन्ते = एषन्ते रूप होता है।

एषसे—'एष् + त + आत्' इस अवस्था में आत् के स्थान में 'से' आदेश तः में ३।४।८०) होकर एष् + त + से = एषसे।

एषेधे—'एष् + त + आधाम्' इस अवस्था में (आ को इष् त + इ + ए) 'आधाम्' के आम् को 'ए' आदि) सब कार्य 'एषेते' के समान होते हैं।

एषध्वे—'एष् + त + ध्वम्' यहाँ ध्वम् के धम् (टि) को ए हो जाता है।

१. टिल भारतनेपदानां टे रे ६।४।७६।

२. धातो इति ७।२।८१।

३. लोपो व्योर्विति ६।१।६६।



## अथ व्यन्तप्रक्रिया

६०८ । स्वतन्त्रः कर्ता १।४।१४। क्रियायां  
विचक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् ।

६०९ । सत्प्रयोजको हेतुश्च १।४।१५। कर्तुः  
हेतुसंज्ञः कर्तृसंज्ञश्च स्यात् ।

एषे—एष् + घ + इ (इट्) इस वगैरे में 'इ' को एकार  
+ ए यद्वा घ + ए = ए (घतो गुणे ये परस्पर) हो जाता है ।

एषावहे—एष् + घ + वहि (इ को ए होकर) 'एष् + घ +  
दीर्घ' होकर एष् घा + वहे → एषावहे । इसी प्रकार एष् + घ +  
महे' यह रूप बनता है ।

व्यन्तप्रक्रिया आदि में धातुओं के रूप बनाने के लिये उपर्युक्त  
ध्यान में। रहना चाहिए । अन्य लकारों में जो विशेष कार्य हैं  
समास्थान निरूपण किया जायगा ।

अथ व्यन्तेति—एषि (एषिष् या एषिङ्) प्रत्यय है अन्त में अि  
(णि + अन्त) कहलाता है । व्यन्त धातुओं की रूप सिद्धि के  
प्रकारण में विवेचन किया जा रहा है ।

६०८. स्वतन्त्र इति—क्रिया में जिसको स्वतन्त्र रूप से कहना  
(विचक्षित = वक्तुम् इष्टः) वह वस्तु या व्यक्ति (अर्थ) कर्ता कहलाता है ।

अभिप्राय यह है कि 'कर्ता होना' विवक्षा के अधीन है ।  
व्यक्ति जिसे क्रियासिद्धि में स्वतन्त्र बनाना चाहता है वही कर्ता  
'देवदत्तः पचति' 'अग्निः पचति' तथा 'वाष्पानि पचन्ति'—इत्यादि  
इत्यादि के अनुसार तीनों ही प्रयोग हो सकते हैं ।

६०९ सत्प्रयोजक इति—उप (कर्ता) के प्रयोजक की हेतु  
कर्तृ संज्ञा (धोनी) होती है ।

६१० । हेतुमति च २।१।२६॥ प्रयोजकव्यापारे प्रेरणादौ  
राच्ये घातोर्णिच् स्यात् । भवन्त प्रेरयति भावयति ।

टिप्पणी—कर्त्ता दो प्रकार का होता है—एक किसी कार्य को करने वाला  
और दूसरा किसी कार्य को कराने वाला प्रेरित करने की प्रेरणा देने वाला ।  
नी व्यक्ति कार्य करने वाले को प्रेरणा देता है वह प्रेरक कहलाता है वहीं  
प्रयोजक कर्त्ता है तथा उसकी हेतु' सज्ञा भी होती है । जिसे प्रेरणा दी जाती  
है वह 'प्रयोग्य' कर्त्ता कहलाता है । जैसे व्याचार्य जी देवदत्त को पढ़ाते हैं ।  
उही 'व्याचार्य जी' प्रयोजक कर्त्ता हैं और देवदत्त प्रयोग्य कर्त्ता है । यहाँ 'प्रेरणा'  
देना ही प्रयोजक कार्य है । यही प्रयोजक का व्यापार कहा जाता है ।

६१०. हेतुमति चेति—प्रयोजक का व्यापार प्रेरण इत्यादि (प्रेरणा)  
कहना ही तो भातु से णिच् प्रत्यय हो जाता है ।

[णिच् से शकार और चकार का लोप हो जाता है केवल 'इ' लोप रहती है]

भावयति—'भवन्त प्रेरयति' (होने वाले को प्रेरित करता है)—इस  
विग्रह में 'भू' भातु से हेतुमति च' भूच के अनुसार 'णिच्' प्रत्यय होता है ।  
'भू+इ—यहाँ णिच् प्रत्यय के पितृ (ए है इतज्जक जिसका) होने से  
झकार को (अर्थात् झिति ७।२।११५) वृद्धि (वी) होकर 'घो' की भाव हो  
जाता है → भी+इ=भाइ+इ=भावि—इस निजन्त रूप की भातु' समा  
होती है तथा लट् लकार में 'भावि+ति' इस पक्षा में भातु तथा प्रत्यय के  
सम्बन्ध में 'घ' (घ) हो जाता है । भावि+अ+ति इस अवस्था में 'इ' की  
शुण (ए) तथा 'ए' की 'अ' आदेश होकर भाव्+अप्+अ+ति → भावयति  
रूप सिद्ध होता है ।

टिप्पणी—(१) यह णिच् प्रत्यय प्रेरणा अर्थ में होता है अतः भावयति  
इत्यादि प्रेरणार्थक क्रियायें कहलाती हैं । चोरयति (चूर्+णिच्) आदि में  
जो णिच् प्रत्यय होता है, वह स्वार्थ में होता है, वहाँ प्रेरणा अर्थ नहीं होता ।  
किन्तु रूप दोनों के समान ही होते हैं । (२) भावयति' के 'भवति' के

१. उताग्रन्ता पाठकः ३।१।३२।

२. कर्त्तरि षप् ३।१।६८।

६११ । ओः पुण्यज्यपरे ५४७०॥ सति वं  
यमाभ्यासोकारस्य इत्यथात् पवर्गमणुजकारेण्ववर्गपरेषु ॥

समान समस्त सकारों में रूप बनते हैं उदाहरण।पं प्रत्येक स  
रूप इस प्रकार है—सङ्—भावयति । लिट्—भावयामा  
भावयाञ्चकार । लुट्—भावयिष्ठा । लृट्—भावयिष्यति ।  
सङ्—अभावयत् । विधिलिङ्—भावयेत् । आशिषि लिङ्—  
अबोधयत् (जिसकी सिद्धि प्रागे की जा रही है) । लृङ्—  
(३) लिङ्गन्त पातुओं के रूप परस्मैपद तथा आत्मनेपद दोनों  
धतः 'भावयते' आदि भी रूप होंगे ।

६११. शोरिति—[यहाँ 'भृजामित्' ७।४।६६। से 'इ' तथा 'स' सन्ति—इन पदों की अनुवृत्ति होती है] सन् प्रत्यय परे ह उसके अवयव भ्रम्यात् के उकार को इकार हो जाता है, जिनके ऐसे पदार्थ, यण (य, ष, र, ल) तथा अकार परे हों ।

अथोभयत्—भू+णिच्+लुङ् (प्रथम पुरुष एकवचन)।  
 भट् का आगम, लुङ् के स्थान में तिप् होकर 'ति' का इक  
 तथा भू+इ+त्→इत् यथा ये लुङ् परे होने से नि  
 स्थान में चङ् (घ) होकर भू इ भ ट् इस अवस्था में  
 द्वित्व होकर 'भ भू भू इ भ ट्' यहाँ पर पहले 'भू' की आ  
 सते सम्प्रासकार्य—(भकार को बकार) (जस) तथा 'ऊ' को लृ  
 'भ भू भू भट्' इस अवस्था में परे वाले 'भू' के ऊ को वृ  
 भाव् भादेश होकर 'भ भू भाव् भ ट्'→णिच् का लोभ  
 के आकार को ह्रस्व हो जाता है। भ भू भव् भ  
 में सन्वन्भाव (सन् प्रत्यय के समान कार्य) होकर 'भोः

- |                                      |              |
|--------------------------------------|--------------|
| १. जुह्वत्तुः सुदृक्वद्वात्तः ७।४।६१ | २. चित्तं तु |
| ३. लिपिद्रुप्त्यः कर्तरि षड् ३।१।४८  | ४. चङि ६     |
| ५. अग्नासे चर्च ८।४।२४।              | ६. ऐरनि      |
| ७. गौ षड्भुषायाः ह्रस्वः ७।४।१।      |              |
| ८. सन्वस्तधूनि षड्परैजामोपे ७।४।६१   |              |

पठः गतिनिवृत्तौ—

६१२ । अतिह्रीव्लोरीकृयीक्ष्माय्यातां पुङ् एौ ७।१।१६॥  
स्यापयति ।

६१३ । तिष्ठतेरित् ७।४।१॥ तपाधाया इहादेशः स्याच्चवृपर-  
णौ । अतिष्ठितम् ।

उकार को हकार होता है तथा उसे 'हीर्षो मयोः' ७।४।६४ से हीर्ष होकर 'धवीमवत्' रूप सिद्ध होता है ।

धेति—पठः वायु कटना या लड़ा होना धयं मे है । पठः के लकार को लकार होकर स्वां रूप हो जाता है उससे चिच् प्रत्यय होने पर स्वा+इ इस अवस्था में—

६१२ अतीति—हृ, ह्री, श्री, री, वृषी, क्ष्मायी तथा धनारात् वायुयो को पुङ् आगम होता है 'मि' वरे होने पर ।

(स्वा वायु अवस्थाम् है अतः इस सूत्र में स्वा के धाये पुङ् हो जाता है । पुङ् में उकार तथा ककार का लोप हो जाता है और ए लोप रहता है ।)

स्वापयति—स्वा+लिच्→स्वा+इ इस अवस्था में पुङ् का आगम होकर स्वा ए इ=स्वापि एण्यन्त वायु होती है । उससे लट् लकार प्र० पु० एक० में स्वापि+ताप्+नि→गुण्य और धय् वादेश होकर स्वापयति ।

इसी प्रकार—अर्पयति, हृषयति, धेययति, रेपयति, वनोरयति' दवाप-  
यति इत्यादि ।

६१३, तिष्ठतेरिति—स्वा वायु को तपाधा की हकार आदेश होता है चट् है धाये मितके ऐवा रि वरे होने पर ।

अतिष्ठितम्—स्वा+लिच्=लृट् (प्रथम पुङ् एवचन) धवीमवत् के लक्षण 'य स्वाप् इ धत्' यठ अवस्था हो जाने पर स्वाप् को टिप् होकर अन्ध्याम में 'य' मात्र टोप रहता है तथा 'य य स्वाप् इ धत्' इस अवस्था में

१. वात्तादेः यः सः ७।१।६४॥

२. हृय् और दमाय् के ह् का लोप हो जाता है ।

३. धर्षुर्वाः सयः ७।४।६१ से लय् धर्षन् 'वा' टोप रहता है और 'वा' को ह्रस्वः ७।४।६६ से ह्रस्व होकर 'व' मात्र टोप रहता है ।

घट चेष्टायाम्—

६१४ । मितौ ह्रस्वः ६।४।२२॥ घटादीनां ह्रस्वात्  
ह्रस्वः स्यादणौ घटयति ।

ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च । ज्ञ पयति । अजिज्ञपत् ।

॥ इति अयन्तप्रक्रिया ॥

‘तिष्ठतेरित्’ से स्वाप् के आकार (उपधा) को इकार हो कर  
स्थिप् इ भत् यही पर सम्बद्धाव होकर ‘य’ के आकार को इकार  
यकार को उकार<sup>१</sup> (चत्वं) होकर ‘म ति स्थ प इ भत्’ यही प  
स्थि के स् को य और ष् को ठ् (ब्दुस्व) होकर अतिष्ठितत् रूप

६१४. मितामिति—घट आदि और जप् आदि वातुर्मा  
ह्रस्व हो जाना है एि परे होने पर । (घट् आदि और जप् आ  
संज्ञक हैं ।)

घटयति—घट + एिच् = घटि—इस अवस्था में आकार  
ह्रस्व होकर ‘घटि’ एिजम्भ वातु होती है । ‘घटि’ से ति  
भप् आदि होकर घटयति रूप बनता है ।

(मुष्ट लकार में ‘अजीघटत्’ रूप बनता है)

ज्ञप् इति—ज्ञप् वातु ज्ञानमा और ज्ञान कराना भर्ष में

[यह चुरादि गण की वातु है इससे प्रेरणार्थक एिच् कर

एिच् का ऐरिति ६।४।२१ से लोप हो जाता है]

ज्ञपयति—ज्ञप् + एिच् = ज्ञावि—इस अवस्था में आकार  
ह्रस्व होकर ‘ज्ञावि’ एिजम्भ वातु होती है । इससे ज्ञपयति रूप ।

अजिज्ञपत्—ज्ञप् + एिच् + मुष्ट (प्रथम पुरुष, एकवचन)  
+ घन् इस दशा में क्रिञ्, अम्यासकार्य<sup>१</sup>, एि लोप होकर अजि

१. सम्पन्नः ७।४।७. यही अजीघटत् के समान दोषों  
नहीं होता, क्योंकि ‘तयोमे गुरु’ के अनुसार ‘ति’ गुरु है मपु नहीं

२. अम्यासे वर्ष ७।४।२४॥

३. सम्पन्नः ७।४।७ से अकार को इकार होता है ।

## अथ सन्नन्तप्रक्रिया

६१५ । धातोः कर्मणः समानतृकादिच्छायां वा ३।१।३।  
इपिकर्मण इपिगैककर्तृकाद्धातोः सन्न प्रत्ययो वा स्यादिच्छायां  
पठ् व्यक्तायां—वाचि

६१६ । सन्न्यङोः ६।१।६।। सन्नन्तस्य यङ्-तस्य च धातोर्-

टिप्पणी—इसी प्रकार अन्य धातुओं से भी लिङ्गन्त (प्रेरणाधक) रूप  
लाये जा सकते हैं। कुछ प्रतिष्ठित धातुओं के लिङ्गन्त रूप निम्न प्रकार के हैं।

गम्-गमयति । दा-दापयति । हुम्-दशयति । पा (पीना)-पापयति  
(पातना)-पासयति-लभ-लभयति । भस् (होना)-भावयति यङ्-  
हयति । भम्-भमयति, नामयति । हुन्-धातयति । नी-नाययति । भी-भाषयति-  
पयते । धृ (धुनना)-धावयति । कृ-कावयति । मृ-मारयति । कृ-  
रयति । रञ्ज-रञ्जयति । सह-रोहयति-रोषयति । सिष्-साधयति, मेध-  
यति । इत्यादि ।

॥ इति व्यक्तप्रक्रिया ॥

सन्न्यतेति—सन् प्रत्यय है अन्त में जिसके वह सन् + अन्त = सन्नन्त धातु  
प्राप्ती है । सन्नन्त धातु की प्रक्रिया = सन्नन्त प्रक्रिया ।

६१६. धातोरिति—[गृष्टिज्जिह्वस्य. सन्न ३।१।५ से सन् की अनुवृत्ति  
होती है] जो इच्छा का कर्म हो तथा इच्छा किया की समानतृका (अर्थात्  
इच्छा किया का कर्ता ही है कर्ता जिसका ऐसी) हो उस धातु से इच्छा एवं व  
विकल्प से सन् प्रत्यय होता है ।

यद्-धातु व्यक्तशाली (स्पष्ट उच्चारण या धटना) अर्थ में है । इससे  
सन् प्रत्यय होता है, 'सन्' में स शेष रहता है ।

६१६. सन्न्यङोरिति—[एकाचो द्वे प्रथमतः ६।१।१. अत्रादेशेऽनीपस्य  
६।१।२ की अनुवृत्ति हो रही है] जिसका द्वित्व न हुआ हो (अव्ययस्य)  
ऐसी सन् प्रत्ययान्त धातु यद् प्रत्ययान्त धातु के प्रथम एकाच को द्वित्व होता

अभ्यासस्य प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेशु द्वितीयस्य । सन्  
मिच्छति विपठिषति । कर्मणः क्विप् ? गमनेनेच्छति । स

है, जिस धातु के आदि में अच् (स्वर) हो उसके लो द्वितीय अ होता है ।

टिप्पणी—एकाच् का अर्थ है एक अच् है जिसमें, जैसे वही पर 'पठ्' एकाच है, क्योंकि इसमें 'अ' ही एक अच् है । होकर पठ् + पठ् + स → अभ्यासकार्यं प + पठ् + स इस अवस्था सन्त्यतः इति—अभ्यास के अकार को इकार हो जाता है स होने पर । [इसमें अभ्यास के 'प' के स्थान पर 'वि' हो जाता है

विपठिषति—पठितुमिच्छति' (पढ़ने की इच्छा करता है) में 'मातोः कर्मणः' इत्यादि सूत्र से पठ् धातु से सन् प्रत्यय ही सूत्र के अनुसार पठ् धातु को द्वित्व होने पर पूर्व पठ् (अभ्यास) रहता है तथा 'सन्त्यतः' से उक्त 'प' के अकार को इकार हो जाता है इस अवस्था में स (सन्) को इद् (इ) का आगम होकर अकार होता है । इस प्रकार 'विपठिष' यह सम्मिलित धातु बनने लट् लकार के एकवचन में तिप्, षप् होकर विपठिष + अ + ति + स = अ) विपठिषति ।

कर्मण इति—इच्छा की कर्मण धातु से सन् प्रत्यय होता कहा गया है ? इसलिये कि 'गमनेन इच्छति'—यही गमन क्रिय कर्म नहीं प्रयुक्त करण है । अतः 'गम्' धातु से सन् प्रत्यय नहीं

१. यहाँ 'इच्छति' क्रिया का कर्ता जो देवदत्त आदि है वही का कर्ता है । अतः पठ् धातु इच्छा, क्रिया की एककृतक है तथा इच्छा का कर्म भी है इसलिये पठ् धातु से सन् प्रत्यय होता है ।

२. पठ् पठ् स—यहाँ 'इत्यादि' शेषः अ० १६०१ के अनुसार रहता है ।

३. धात्वधातुकरणेभ्यसादेः ७।२।३५॥

४. सनाद्यन्ताः धातवः ३।१।३२॥

किम् ? शिष्याः पठन्तिवतीच्छति गुरुः । वापइयाद् वाक्यम् ।  
सुहृसनोर्ध्वम् ।

समानेति—जो इच्छा का कर्ता है वही उस (जिससे सन् करना है) का भी कर्ता होना चाहिये, यह क्यों कहा गया है ? इसलिये कि 'पठन्तु' इति इच्छति गुरुः—यही वर पठन क्रिया इच्छा का कर्म है, जो दोनों क्रियाओं के कर्ता भिन्न भिन्न हैं—'पठन्तु' का कर्ता 'शिष्याः' है इच्छति का कर्ता 'गुरुः' है । इसलिये दोनों क्रियाओं समानकर्तृक नहीं यही पठ् धातु से सन् प्रत्यय नहीं होता ।

आप्तह्लासिति—'यातोः कर्मणः'—इत्यादि सूत्र में 'वा' (विक्त्वा) शब्द का ग्रहण किया गया है इसलिए (पक्ष में) 'पठितुम् इच्छति' इस वा की भी प्रयोग होता है । यकता की इच्छा के अर्थ में है कि वह 'वा' चाहता है—इस अर्थ को प्रकट करने के लिए पठ् धातु से 'सन्' प्र जोड़कर विपठिषति' शब्द का प्रयोग करे अथवा 'पठितुम् इच्छति' इस वा का प्रयोग करे ।

टिप्पणी—(१) धातुएं दो प्रकार की हैं—सेद् और भनिद् । धातुओं से परे यतादि (य की छोड़कर कोई व्यञ्जन जिसके आदि में है) आधेधातुक प्रत्यय होने पर उस प्रत्यय से पहले इ (इद्) आ जाता । सेद् (स+इद्) हैं । जिससे इद् नहीं आता वे भनिद् (न+इद्) हैं । धातु सेद् है, उससे परे 'सन्' प्रत्यय को इद् हो जाता है, जैसा कि 'विपठिषति' में हुआ है; किन्तु जो धातु भनिद् है वही इद् नहीं होता जैसे 'विकीर्षति' (२) जो धातु सन् प्रत्यय न होने पर परस्मैपदी या आत्मनेपदी जैसी है सन् प्रत्ययान्त होने पर भी उभी पद् में रहती है अतः 'विपठिषति' में परस्मै होता है तथा 'विकीर्षति—विकीर्षते'—यही उभयपद होते हैं । (विपठिषति—इस सम्बन्ध धातु के भी पठति' के समान सभी लकारों में निम्न प्रकार रूप होते हैं :—

सह—'विपठिषति' । लिट्—'विपठिष्यान्वकार' पपठिष्यान्वब्रूव', रिप् 'आमाप्त' । लृट्—'वपठिषिता' । लृट्—'विपठिषिष्यति' । लोट्—'विपठिष्यत्' । विविषिद्—'विपठिष्येत्' । आशिषि लिट्—'विपठिष्यात्' । लृट्—'वविपठिष्यत्' । लृट्—'वविपठिषिष्यत्' ।

सुहृ इति—सह धातु से सन् प्रत्यय करने पर 'सुहृसनोर्ध्वम्' २।४।३



६१७ । सः स्यार्धधातुके ७।५।४६॥ सस्य  
 धार्धधातुके । अत्तुमिच्छति जिघत्सति । एकाच् इति  
 ६१८ । अजम्भनगमां सनि ६।५।१५॥ अजः  
 देशगमेश्च दीर्घो मजादी सनि ।

इस सूत्र से यह के स्थान में यस् (यत्) आदेश हो  
 स' इस व्यवस्था में—

६१७. स इति—(सः + ति + धार्धधातुके) सकार क  
 है 'स' है आदि में जिसके (साथी) ऐसा धार्धधातुक प  
 'यम्' के म् को ल होता है)

जिघत्सति—यत्तुमिच्छति (माना चाहता है), इस  
 से सन् प्रत्यय होने पर यद् को यस् आदेश हो जाता है 'यन्'  
 में 'सः स्यार्धधातुके' से सकार को तकार होकर 'यत्स'-  
 धातु के य को ज तथा स्यत्स' से ज के प्रकार को इकार  
 सम्बन्धित वातु बनती है । उससे सद् अकार में तिप्, वाप्  
 क्य होता है ।

एकाच्—एकाच् उपदेशानुशातात् ७।२।१०॥

इस सूत्र के अनुसार 'यम् वातु में यरे (सन् आदि) प  
 नहीं होगा । क् वातु से सन् प्रत्यय होने पर—

६१८. अजम्भनेति—अच् (स्वर) है प्रभु में जिसके ऐगि  
 और अजम्भेय यम् वातु (यत्ति इत् आदि वातु के स्थान में  
 वातु) —इनको दीर्घ बोना है अजम्भेय सन् यरे होने पर ।

विगल्यो—(१) सूत्र में जो यच् है वह यच् का भी विने  
 है यन्: 'अजम्भेययश्च' यह यर्ध दिया गया है । इससे इत्  
 वातु के स्थान में जो यच् आदेश होगा है उनका प्रमाण होगा है  
 इच् से कर्मवाच्य में विगल्यने लका अविगल्यमान्यते—में 'य' को

१. यन्वाच्य में तो इनसे यरे यन् को इच् हो जाता है य  
 नहीं विगल्य तथा विगल्यति, अविगल्यति—ने का हो

६१६ । इको भल् १।२।६॥ इगन्ताञ्मलादिः सन् कित्  
रयात् । ऋत इदधातो । कर्तुमिच्छन् चिकीर्षति ।

६२० । सनि ग्रहगुहोदच ७।२।१२॥ ग्रहेर्गुहेरुगन्ताच्च सन्  
इण न स्यात् सुभूपति ।

इति सन्नन्तप्रिया

तथा इट् के कर्तृ वाच्य रूप 'अभिजिगामते' में भी । (२) जब सन् प्रत्यय को  
इट नहीं होता तब वह भलादि (भल् है आदि में जिसके) होता है । इट होने  
पर तो उसके आदि में 'इ' (अच्) होना है, यतः वह भलादि नहीं रहता ।

६१६. इक इति—इयन्त के घाये भलादि सन् कित् हो जाता है । (सन्  
के कित् हो जाने से क को गुण नहीं होता) क्+सन् यहाँ क को दीर्घ होकर  
क्+सन् इस वया में—

ऋत इति—ऋत इदधातोः ७।१।१००॥ इस सूत्र के द्वारा उरण् रपरः  
१।१।२१॥ के सहकार से ऋकार के स्थान में इट् होता है ।

चिकीर्षति—कर्तुमिच्छति (कृणा चाहता है), इस विग्रह में क् घातु से  
सन् प्रत्यय होकर क्+स इस वया में इट् न होने पर 'अभिनयमी सनि' से  
क को दीर्घ होकर गुण के समान में 'ऋत इदधातोः' से ऋ का इट् होकर  
कित्+स इस अवस्था में 'हलि च' से इकार को दीर्घ होकर कीट्+स ऐसी  
वया में द्वित्व अग्रासकार्य तथा सकार को एकार 'चिकीर्ष' सन्नन्त घातु  
बनती है उससे 'चिकीर्षति' रूप बनता है ।

६२०. सनीति—ग्रह, गुह, घोर उगन्त (उक् अर्थात् उ घोर ऋ है यन्त  
में जिसके) घातु से परे 'सन्' प्रत्यय को इट नहीं होता ।

सुभूपति—अवितुमिच्छति (होना चाहता है) इस विग्रह में भू घातु से सन्  
प्रत्यय होकर 'सनिग्रहगुहोदच' से इट् का निवेश होता है । 'इको भल्' से सन्  
कित् हो जाता ॥ तथा गुण नहीं होता भू+स इस अवस्था में द्वित्व,

१. एकाच उपदेशेऽर्जुनात्तात् ६।२।१०॥

२. 'इको भल्' से सन् कित् हो जाता है तथा 'चिकीर्षति च' सूत्र से गुण  
का निवेश हो जाता है ।

## अथ यदन्तप्रक्रिया

६२१ । घातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे य

पौनःपुन्ये भृशार्थे च घोस्ते घातोरेकाचो हलादेर्यङ् भ्याः

६२२ । गुणो यङ्सुकोः ॥४४८२॥ अघ्यासस्य

अघ्यासकर्म<sup>१</sup> तथा सकार को षकार होकर बुभुष सम्मन्त भातु सङ् प्रथमपुरुष एकवचन में बुभुषति ।

टिप्पणी—कुछ प्रसिद्ध धातुओं के सम्मन्त रूप इस प्रकार हैं।  
 छाप्-ईप्सति । गम्-जिगमिपति । घ्रा-जिघ्रासति । बि-बिभीषति ।  
 जि-जिगीपति । जा-जिजासते । वा-दिशति । हृ-दिहसते ।  
 पा-विपासति । भुष्-बुभुषते । ब्रू-ब्रूवति । भुङ्-बुभुक्षते । मृ-  
 यज्-मिषदाति-ते । लम्-लिप्सते । वृ-विरासति । धृ-  
 धृष्टपते । शृ-शृष्टपति । स्मृ-मुस्मृपते । स्वप्-मुपुप्सति । हन्-  
 हा (स्यामहा) —जिहासति ।

॥इति सम्मन्तप्रक्रिया ॥

यङ्गतेति—यङ् प्रत्यय है अन्त में जिसके यह पङ्क्त भातु है ।  
 प्रक्रिया=यदन्तप्रक्रिया ।

६२१. घातोरेति—क्रिया का बार बार होना या अधिक हं पुन्ये + भृशार्थे = क्रिया समभिहारे<sup>२</sup> इस अर्थ को प्रकट करने के ।  
 धातु से, जिसमें एक ही स्वर हो तथा जिसके धादि में व्यञ्जन हं होता है । यिङ् प्रत्यय में 'य' शेष रहता है, भू धातु जो एा हलादि है उससे क्रियासमभिहार में यङ् प्रत्यय होकर 'सम्पद्यो' १ दित्व हो जाता है और 'भू भू य' इस अवस्था में—]

६२२. गुण इति—अघ्यास को गुण हो जाता है । यङ् प्रत्यय पर तथा यङ् का सुक् हो जाने पर ।

१. 'भू' को दित्व होकर पूर्व भाग (अघ्यास) के ऊकार को उकार तथा षकार को बकार (जस्व) हो जाता है ।

२. पौनः पुन्यं भृशार्थे च क्रियासमभिहारः । सिद्धान्तकोमुदी ।

यङ्लुकि च परतः । द्वित्वात्त्वादात्मनेपदम् । पुनः पुनरतिशयेन वा  
भवति बोभूयते । बोभूयाञ्चकं । अबोभूयिष्ट ।

[इससे अभ्यास को गुण होकर 'बोभूय' यहाँ अभ्यास के 'भ' की 'व' होकर  
'बोभूय' यह यङ्गन्त वातु बनती है ।]

द्वित्वात्त्वादिति—यङ् प्रत्यय के द्वित् (इकार है इसलिये जिसमें) होने से  
यङन्त वातु से आत्मनेपद होता है ।

बोभूयते—पुनः पुनः अतिशयेन वा भवति (बार बार या अधिक होता है)—  
इस विग्रह में 'बू' वातु से यङ् प्रत्यय होने पर द्वित्व होकर 'बू भू य' इस अवस्था  
में अभ्यास को गुण (गोकार) तथा अकार को अकार (अक्षर) होकर 'बोभूय'  
यह रूप होता है । इसकी 'सनाद्यन्ताः घातवः' से वातु सञ्जा होकर तथा द्वित्  
होने से आत्मनेपद होने के कारण लट् लकार में बोभूय + ते → घप् होकर—  
बोभूय + घ + ते → य के अकार का घप् के अकार से परक्य होकर बोभूयते  
रूप बनता है ।

द्विपत्नी - (१) क्रियासमग्रिहार यर्च में यङ् प्रत्यय विक्षेप से होता है  
अतः पक्ष में वाक्य भी होता है जैसे—पुनः पुनः भवति अथवा अतिशयेन  
भवति (बोभूयते) । (२) यङन्त वातु के रूप सभी लकारों में होते हैं जैसे—  
लट्—बोभूयते । लिट्—बोभूयाञ्चकं । लुट्—बोभूयित्वा । लृट्—बोभूयिष्यते  
लोट्—बोभूयताम् । लङ्—अबोभूयत । बिबिनिङ्—बोभूयेद् । आनिवि  
लिट्—बोभूयिषीष्ट । लुङ्—अबोभूयिष्ट । लृङ्—अबोभूयिष्यत् । इनमें से  
बोभूयाञ्चकं तथा अबोभूयिष्ट की लिटि का प्रकार नीचे दिखलाया जा  
रहा है—

बोभूयाञ्चकं—(यु + यङ् + लिट्)—बोभूय + लिट् इस अवस्था में प्रत्य-  
यान्त वातु होने से घाम् प्रत्यय होकर बोभूय + घाम् + लिट्—यहाँ लिट्

१. अभ्यासे यर्चं ८।४।१८॥

२. सनाद्यन्ताः घातवः १।१।३२।

३. अनुदादित आत्मनेपदम् १।३।१२॥

४. कान्प्रत्ययाशममन्त्रे लिटि २।१।३३॥

६२३ । नित्यं कीटित्ये गती ३१।२३ गत्यर्थः  
यद् स्यान्न तु क्रियासमभिहारे ।

६२४ । दीर्घोऽकितः ७।४.८३॥ अकितोऽभ्यास  
यद्भुकोः । कूटिलं प्र.ति वाग्रज्यते ।

का तुक्' जो जाने पर तथा कृष् का अनुप्रयोग' होने पर क  
लकार में जो घागनेपद' का रूप होता है (चके घादि) वह जोड़ा  
बोभूयाम् + चके → बोभूयाञ्चके घादि रूप बनने हैं ।

अबोभूविष्ट—(भू + यङ् + लुङ्) बोभूय + लुङ् → बोभूय +  
त के मध्य में 'चित्' होकर उसको सिच् हो जाता है—बोभूय +  
को इट् (इ) घायम होकर बोभूय + इ + लृ + त यङ् के अकार  
तथा लृ को घटने पर बोभूविष्ट' रूप बनता है ।

६२३. निरधमिति—वर्षर्षक धातु से कीटित्य अर्थ में ही यङ्  
है बार बार करने या अधिक अर्थ में नहीं ।

६२४. दीर्घ इति—अकित् अभ्यास को दीर्घ होता है यङ् प  
तथा यङ् का लुक् होने पर ।

टिप्पणी—चित्तका ककार दसजग होता है वह कित् कह्यात  
अभ्यास को लीक् (लृ + लृणीपत्यते) तथा लुक् (लृ + लृज्ज्यते) घादि  
हो जाता है वहाँ लीक तथा लुक् के कित् होने के कारण अभ्यास  
कहलाता है । जो कित् नहीं है वह अकित् कह्याता है ।

वाग्रज्यते—कूटिलं अकित् (देड़ा बनता है)—इस विग्रह में लृ  
धातु से यङ् प्रत्यय होता है । यङ् + यङ्, डित् होकर तथा अभ्यास  
रह जाने पर 'य + यङ् + य' इस अवस्था में अभ्यास के अकार  
(लकार) होकर 'वाग्रज्य' यङ्ग धातु बनती है । इससे लृ प्र

१. घागः २।४।८३॥

२. कृष्णानुसङ्गने तिङि ॥

३. घाग्यलपयञ् कृत्रोऽनुसङ्गोपपत्ति १।३।३॥

४. अती मोः ६।४।४८॥

६२५। यस्य हलः ६।४।४६ यस्येति संघातग्रहणम्। हलः परस्य यशब्दस्य लोप आर्षधातुके। आदेः परस्य। अतो लोपः। वादजाञ्चक्रे। वादजिता।

एकवचन में वाच्यते रूप बनता है।

वाच्य + लिट् → वाच्य + भाम् + चक्रे इस दशा में—

६२५. यश्वेति—अञ्जन (हल्) से परे 'य' शब्द का लोप हो जाता है आर्षधातुक परे होने पर।

(सूत्र में) 'यस्य' यह यकार (य्) तथा यकार (य् + ञ = ञ) के समुदाय ग ग्रहण किया गया है।

आवेरिति—आदेः परस्य १।१।१४ के अनुसार 'य' समुदाय के आदि भाग (वल यकार) का लोप होता है।

अत्र इति—अतो लोपः ६।४।४८। (अर्षात् आर्षधातुक के उपदेश काल) जो महन्त अञ्ज उसके यकार का लोप होता है आर्षधातुक परे होने पर) यकार का लोप हो जाता है।

वादजाञ्चक्रे—(वञ् + चञ् + लिट्)—वाच्य + लिट्, लिट् परे होने भाम् प्रत्यय होता है तथा लिट् का लोप होकर क् चातु के लिट् लकार के चक्रे का अनुप्रयोग होकर वाच्य + भाम् + चक्रे—यहाँ पर 'आदेः परस्य' महापक्षा से 'यस्य हलः' सूत्र के द्वारा यकार का लोप तथा 'अतो लोपः' से र का लोप होकर वादजाञ्चक्रे रूप बनता है।

वादजिता—(वञ् + यञ् + लुट्)—वाच्य + ताम् + डा' इस दशा में को इट् का भाग्य होता है तथा उपयुक्त रीति से यकार और यकार का होकर वाच्य + इ + ताम् + डा यहाँ 'आत् (टितञ्जक) का लोप' हो

१. लुटः प्रथमस्य द्वारोरसः २।४।८५॥ सूत्र के अनुसार लुट् के प्रथमपुरुष एकवचन में तिप् के स्थान में 'डा' हो जाता है तथा 'स्मृतासी' मूलुटोः ३।॥ से धातु और प्रत्यय के बीच 'ताम्' आ जाता है।

• 'डा' में धा शेष रहता है और इसके 'डि' होने से ताम् के आत् भाग (डि) का लोप हो जाता है।

६२६ । रीगृदुपधस्य च ७।४।६०॥ गृदुपधस्य  
रीगागमो यङ्यङ्लुकोः । वरीवृत्यते । वरीवृताञ्चक्रे

६२७ । क्षुम्नादिषु च ८।४।३६॥ एत्व न  
षरीगृह्यते ।

॥ इति षट्शतप्रक्रिया ॥

आने पर वाचन + इ + तु + मा → वाचनिका रूप बनता है ।

६२६. रीगिति—ऋकार है उपा में त्रिगके ऐमी धातु ।  
रीक् का आगम होता है यङ्, परे होने पर तथा यङ्, लुक् होने ।  
वरीवृत्यते—पुनः पुनः प्रतिशयेन वा वर्तते (बार बार या  
होता है)—इस विग्रह में वृत् धातु से यङ्, प्रत्यय होकर द्वित्व ही  
वृत् + य—इस अवस्था में अभ्यास की रीक् का आगम होता है  
भेद रहता है) तथा 'वरीवृत्य' यह यङन्त धातु बन जाती है । इस  
में 'वरीवृत्यते' रूप बनता है ।

वरीवृताञ्चक्रे—(वृत् + यङ् + लिट्) वरीवृत्य + आम् + च  
प्रार भकार या (उपसृक्त रीति से) सौप होकर वरीवृताञ्चक्रे ।

वरीवृतिता—(वृत् + यङ् + लुट्) वरीवृत्य + ताप् + ता → व  
समान वरीवृतिता रूप बन जाता है ।

६२७. क्षुम्नावित्विति—क्षुम्न आदि शब्दों में एत्व अपार  
लंकार नहीं होता ।

टिप्पणी—'क्षुम्न आदि शब्द गण पाठ में दिये गये हैं । उनमें  
नियम के अनुसार नकार को एकार प्राप्त होता है उसका इस सूत्र  
किया गया है ।

वरीवृत्यते—पुनः पुनः प्रतिशयेन वा वर्तते (बार-बार या अधिक  
है)—इस विग्रह में वृत् धातु से यङ्, प्रत्यय होता है । द्वित्व तथा भेद  
रीक् का आगम होकर 'वरीवृत्य' के समान ही 'वरीवृत्य' यङन्त धातु  
है । यहाँ रेफ से घागे होने के कारण 'वृत्य' के नकार को एकार, होने

अथ यहलुकप्रक्रिया।

६२८ । यङोऽचि च २।४।७४॥ यङोऽचि प्रत्यये लुक् स्यात्  
षकारात्तं विनापि क्वचित् । अनेमिस्तिकोऽयम् अन्तरङ्गत्वादादौ भवति ।

होता है' किन्तु दुस्मादिषु च ते उत्सका निषेध हो जाता है। नरीश्रुत्य से सद-  
सकार के प्रथम धरण एकचबन में नरीश्रुत्यते।

जरीगृह्यते—पुनः पुनः प्रतिजनेन वा गृह्यति (बार बार या अधिक ग्रहण करता है) इस विग्रह में ग्रह, धातु से यच्, प्रत्यय होकर द्वित्व तथा धम्यात्—कार्यं होकर जरीगृह्य' सञ्जत धातु बनती है उससे जरीगृह्यते ।

टिप्पणी—बुद्ध शब्द प्रसिद्ध धातुओं के यङन्त रूप इस प्रकार होते हैं—  
 मद्-मडात्मने । कृ-क्रेजीयते । गम्-जङ्गम्यते । या-येजीयते । घा-घेजीयते ।  
 पि-पेजीयते । बद्-बज्ज्बुज्यते । जि-जेजीयते । बन्-बाजायते । दा-देदीयते ।  
 घा-वेजीयते । वत्-वनीपत्यते । षट्-पाषट्यते । प्रष्टु-परीपृष्ट्यते । वस्-  
 वावस्यते । शी-शाशम्यते । स्मृ-सास्मयते । हृ-हेहीयते । ह्य-हेहीयते ।  
 इत्यादि ।

॥ इति ब्रह्मसूत्रप्रक्रिया ॥

यद् मुक् इति - यद् प्रत्यय का मुक् हो जाने पर भी प्रत्यय लक्षण से तानाबान्त मानकर जिसकी धातु लक्षा हींदी है वही यद्मुक् धातु है। यद्, मुक् की प्रक्रिया को यद्मुक् प्रक्रिया कहा जाता है।

६२८. यह इति—अय् प्रत्यय परे होने पर यह् का सोंप हो जाता है ।

वकारादिति—यूष में 'य' (=भी) कहने से उय (यय् प्रात्यय) के बिना भी नहीं यड् का सोंग हो जाता है।

१. मट्ठुप्याहनुम्यवायेति ॥१२॥  
 २. मन्मास मे वकार को जकार (कुहोम्बु ७४।६२) भी हो जाता है ।  
 ३. यहाँ 'ग्रहिण्यायविष्ण्विषाष्टिविधवृत्तत्रिपृच्छनिमुञ्जतीनां टिति च'  
 ६।१।१६ इस सूत्र से रेफ के स्थान में ककार (सम्प्रसारण) हो जाता है ।



ततः प्रत्ययलक्षणैर्न यदन्तत्वाद्द्वित्वम् । अभ्यासकार्यम् ।  
दयः । शेषात् कर्तरीति परस्मैपदम् । चर्करीतं चेत्यदादौ पा

६२६ । यङो वा ७।३।६४॥ यङ्लुगन्तात्परस्य  
सार्वधातुकस्येड् वा स्यात् । भूसुबोरिति गुणनिषेधो यङ्लु

अर्नैमित्तिक इति—यह यङ् का लुक् (लोट) बिना किसी  
है अतएव यह अन्तरङ्ग है तथा अन्तरङ्ग होने से (किसी अन्य प्र  
से) पहले ही हो जाता है ।

तत इति - तब (यङ् का लोट होने पर) प्रत्ययलोपे  
१।१।६२॥) अर्थात् प्रत्यय का लोट हो जाने पर उस प्रत्यय पर क  
जाता है) इस सूत्र के अनुसार द्वित्व हो जाता है । फिर अभ्यास  
तथा यातुमंज्ञा होने पर सद् आदि होते हैं ।

शेषादिति—शेषात् कर्तरि परस्मैपदम् १।३।७८॥ इसके  
(यङ्लुक् में) परस्मैपद होता है ।

चर्करीतमिति—अदादि गण में 'चर्करीतं च' यह पढ़ा न  
'चर्करीतं' यङ् लुक् हो कहने हैं) अतएव यङ् लुक् में शप् का लो  
जाता है ।

६२६. यङोवेति—यङ् लुगन्त से आने ऐसे सार्वधातुक प्रत्यय  
आदि में हन् हो तथा चित्तक। प्रकार इत्सञ्ज्ञक हो विरल से एद् क  
जाता है । [ 'निप्' ऐसा ही सार्वधातुक है ]

भूसुबोरिति—भूसुबोरिति ७।३।८८ । अर्थात् भू और मू धातु  
गण्युक्त तिङ् परे होने पर गुण नहीं होता । इसके अनुगार यङ्लुक्  
एतु निषेध नहीं होना, क्योंकि 'बोभूनु तेनिके' इत्यादि के द्वारा वे

१. सनाद्यन्तः धातवः ३।१।३२॥

२. कर्तरि शप् ३।१।६८॥

३. अदिप्रभृतिभ्यः शतः २।

४. तिङ् जित्सार्वधातुकम् ३।४।११३॥

५. दावतिर्यङ्तिर्यङ्तिबोभूनुतेनिके ७।४।६४॥

बोभूतुतेतिक्ते' इति छन्दसि निपातनात् । बोभवीति, बोभोति । बोभूतः ।  
अदभ्यस्तात् । बोभुवति बोभवाञ्चकार-बोभवामास । बोभवति बोभ-

नियेष का निपातन क्रिया क्या है । [यदि 'भुगुवोस्तिदि' सूत्र से यङ्-सुक् में गुण-नियेष हो जाता तो इस निपातन की आवश्यकता नहीं थी । यह गुण-नियेष वेद में ही दिखलाया गया है । अतः इससे सूचित होता है कि भाषा में गुण हो ही जाता है] ।

बोभवीति-बोभोति - पुनः पुनः अतिशयेन वा भवति (बार बार वा अधिक होता है) इस विग्रह ने 'भू' धातु से यह होकर उसका 'यङोऽन्वि च' से सुक् हो जाता है । तब सुप्त प्रत्यय के निमित्त से इसे घट्न्त मानकर 'भू' शब्द का द्विव और अभ्यास कार्य होकर 'बोभू' यह यङ्-सुप्न्त धातु बनती है । इससे परस्मैपद के लट् लकार में 'बोभू + ति' यह व्यवस्था हो जाती है । यही जो लप् प्राप्त होता है उसका लुक् हो जाता है तथा मङो वा' से विकृति से ईट्, उत्तर भाग को गुण' (उ को घो) तथा 'धव्' धादेश होकर 'बोभवीति' रूप बनता है 'ईट्' न होने पर 'बोभोति' रूप होता है ।

बोभूतः—बोभू + तस् (ईट् तथा गुण के सम्भाव में) बोभूतः ।

टिप्पणी—यिद् सार्वधातुक् को ही ईट् का धाषप होता है किन्तु तस् यिद् नहीं है अतः ईट् नहीं होता । यिद् न होने से ही तस् द्विव के समान हो जाता है । और उसके परे होने पर गुण नहीं होता ।

अदभ्यताविति—अदभ्यस्तात् ७।१।४॥ अभ्यस्त से आगे ल् को भव् धादेश होता है ।

बोभुवति—यङ्सुप्न्त 'बोभू' धातु से प्रथम पुरुष के बहुवचन में 'बोभू + ति' इस व्यवस्था में ल् को भव् धादेश होकर 'बोभू + भति' यह स्थिति

१. अभ्यास को गुणो यङ्सुकोः ७।४।८२ से गुण हो जाता है ।

२. सार्वधातुकाधेधातुकोः ७।१।८४॥

३. सार्वधातुक्रमणिव् १।२।४॥

४. निङिति च १।१।१॥

विप्यति । बोभवीतु-बोभोतु-बोभूतात् । बोभूताम् । बोभुव

है । यहाँ बोभूतः के समान ही ईद् तथा गुण नहीं होते और ऊकार (उव्) होकर बोभुव् + अति → बोभुवति रूप बनता है ।

बोभवाञ्चकार-बोभवामास—यङ्लुगन्त बोभू प्रत्ययान्त धातु 'भाप्' हो जाता है तथा कृ के परस्मैपदी रूप 'वकार' होकर बोभवाञ्चकार रूप बनता है । अस् धातु का अनुसर्ग होने मात्र रूप होता है ।

बोभविता—भू + यङ्लुक् + लोट् → बोभू + ताम् + डा । ईद् तथा धातु के ऊकार को गुण (भो) और अवादेश होकर बनता है ।

बोभविष्यति—भू + यङ्लुक् + लोट् → बोभू + स्य + ति । अवादेश होकर बोभव् + इ + स्य + ति तथा सकार को पकार बो

बोभवीतु-बोभोतु—(भू + यङ्लुक् + लोट्) बोभवीति-बोभोति धातु कार्य होता है ति प्रत्यय के इ को (एकः ३।४।५६ सं) उ बोभवीतु-बोभोतु रूप बनते हैं ।

बोभूतात्—भू + यङ्लुक् + लोट् (भातिपि)—बोभू + तु—इस ई तु को भातिपि अर्थ में तात् प्रादेश होकर बोभूतात् रूप बनता है ।

बोभूताम्—यङ्लुगन्त बोभू से लोट् प्रथम पुरुष के द्विवचनः तात् इस अवस्था में तत् को ताम् प्रादेश होकर बोभूताम् रूप बनता है ।

बोभुवतु—(बोभू + लोट् प्रथम पुरुष बहुवचन)—बोभू + मि तात् से झ की अत् तथा 'एकः' से इकार को उकार होकर बोभू + वत्सा में ऊकार को उवङ् होकर बोभुव् + अतु → बोभुवतु रूप होता है ।

१. प्राचिनृपातुध्रुवां खोरियङ्वज्जी ६।४।७७।।

२. तुङ् योस्तातङ् भातिप्यन्यतरस्याम् ७।१।२५।।

३. तस्यस्यपिप्रां तात्तन्तापः २।४।१०-११।।

बोभवानि । अबोभवीत्-अबोभोत् । अबोभूताम् । अबोभवू । बोभूयात्  
बोभूयाताम्, बोभूयुः । बोभूयात्, बोभूयास्ताम्, बोभूयासुः । गतिस्थे

बोभूहि—(बोभू + लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन)—बोभू + सि → सि को  
आदेश होकर बोभूहि रूप बनता है ।

बोभवानि—(बोभू + लोट् उत्तमपुरुष एकवचन)—बोभू + मि → मि को  
(मितिः ३।४।८६) आदेश होकर बोभू + नि—यही पर नि को (आहुतमस्य पि  
३।४।८२) से आद् वा आगम होता है । आद् पितृ है अतः यह द्वित्व न  
होता तथा ऊकार को गुण और अच् आदेश होकर बोभच् + आ + नि—  
बोभवानि रूप बनता है ।

अबोभवीत्-अबोभोत्—(बोभ + लट् प्र० पु० एक०) अ + बोभू +  
विकल्प से ईद् का आगम होकर गुण तथा अच् आदेश होते हैं और अबोभव  
रूप बनता है । ईद् न होने पर अबोभोत् रूप होता है ।

अबोभूताम्—(बोभू + लट् प्र० पु० द्वि०)—अ को भू + तम् → अयो  
ताम् (यही लृच् भणित् सार्वधातुक है अतः उसे द्वित्व हो जाने से ऊ को गु  
नही होता) ।

अबोभवूः—(बोभू + लट् प्र० पु० बहु०)—अ बोभू + भि इस अवस  
में भि को सिजम्प्यस्तविदिष्यश्च ३।४।१०६ इस सूत्र के अनुसार जुस् पा  
हो जाता है तथा जुति च ७।३।८१ से गुण होकर अच् आदेश हो जाता है अ  
अबोभवूः रूप बनता है ।<sup>१</sup>

बोभूयात्—(बोभू + विधिलिट् प्र० पु० एक०)—बोभू + यास (याम्  
+ त् इस अवस्था में 'लिटः सन्तोषोऽनन्त्यस्य' ७।२।७६। इससे 'यास' के त्  
सोप होकर बोभूयात् रूप बनता है ।

बोभूयाताम्—(बोभू + विधिलिट् प्र० पु० द्वि०)—बोभू + यास् + त  
स सोप होकर बोभूयाताम् रूप बनता है ।

१. सेह/पितृ ३।४।८७। हि के भणित् होने से द्वित्व हो जाने के बा  
गुण नहीं होता ।

२. यही 'अबोभवूः' रूप शुद्ध नहीं । 'अबोभवूः' यही प्रामाणिक पाठ है ।

सिचो लुक् । यङो वेतीद् पक्षे गुणं वाधित्वा नित्यत्व-  
वीत्-अबोभोत्, अबोभूताम्, अबोभूवुः । अबोभविष्यत् ।

॥ इति यङनुकप्रक्रिया ॥

**बोभूयुः**—(बोभू + विधित्तिङ् प्र० पु० बहु०)—बोभू +  
अवस्था में मि को भोजुंस् ३।४।१०८ से जुस् आदेश हो  
सकार का लोप होकर बोभू + या + उत् इस अवस्था में  
१।१।१६ से या' के आकार को पररूप होकर बोभूयुः रूप बनता है ।

**बोभूयात्**—(बोभू + आशिषि लिट् प्र० पु० एक०) —  
इस अवस्था में (स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' ८।२।२६) सकार  
बोभूयात् ।

**बोभूयास्ताम्**—(बोभू + घा० लिट् प्र० पु० द्वि०) बोभू +  
यहाँ सकार का लोप नहीं होता । ('निलटः ततोपोऽन्यस्य' १०।१।१०)  
ही लोप होता है और 'आशिषि लिट् आर्यपातुक्' है) तथा बनता है ।

**बोभूयामुः**—(बोभू + घा० लिट् प्र० पु० बहु०) बोभू +  
बोभू + यात् + उत् → बोभूयामुः ।

**नातिरचेति**—(बोभू + तिच् + लुट्—इस अवस्था में) नाति-  
रचिः परस्मैपदेषु २।४।७७ इस मूल में 'तिच्' का लुक् (लोप) हो

गृह्यति—यहो वा ७।३।६४ से ईट् होने के पक्ष में (भाष्य-  
कयोः से प्राप्त) मूल को बाध कर नित्य होने के कारण लुट् हो

**अबोभूवीन्-अबोभूवुः**—(बोभू + लुट् प्र० पु० एक०)—  
तिच् + त इस अवस्था में तिच् का लुक् होकर विभक्त्य में

१. निहाश्रिषि ३।४।११६। इसकी आर्यपातुक् लक्षा होती है ।

२. मूलो लुको नियम्यान्, यह महाभाष्य ॥ ४४४ ॥ आश्रिषि

लिट् परे होने पर मूल करने या न करने पर दोनों

प्राप्त होता है अतः यह नियम है (इनाहमप्रसिद्धं नियमः)

## अथ नामधातवः

होता है अबोधू + ई + व यहाँ गुण को वाचकर बुक् हो जाता है तथा अबोधू व् + ईव → अबोधूवोव रूप बनता है। ईद न होने पर गुण होकर अबोधोव रूप होता है।

अबोधूताम्—(बोधू + लुट् प्र० पु० द्वि०) —अबोधू + सिच् + ताम् → सिच् का लोप होकर अबोधूताम् रूप बनता है।

अबोधूवुः—(बोधू + लुट् प्र० पु० बहु०) अबोधू + सिच् + मि + सिच् का लोप होकर मि को (सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च से) जुस् होकर ॥ अबोधू + जम् इस अवस्था में बुक् का घागम होकर अबोधूवुः रूप बनता है।

अबोधोमविध्यत्—(बोधू + लृट् प्र० पु० एक०) अ + बोधू + इद् + स्य + त् इस अवस्था में छकार को गुण, भव् भावेश होकर अबोधव् + इ + स्य + त् → स् को व् अबोधोमविध्यत् रूप बनता है।

दिप्यसी—इसी प्रकार कुछ अन्य धातुओं के यङ्मुबन्त रूप इस प्रकार होते हैं—

दा—दादाति, दादेति । मुद्—भोमुदीति, भोमोति । कृषं—चोकृषीति, चोषूति । गम्—जङ्गमीति, जङ्गन्ति । हन्—जङ्घनीति, जङ्घन्ति । चर्—चञ्चुरीति, चञ्चूति । हा—जाहेति, जाहाति । रवप्—सास्वरीति, सास्वन्ति । कृ—चकरीति, चरिकरीति, चरीकरीति, चकंति, चरिकन्ति, चरीकन्ति । इत्यादि ।

### ॥ इति यङ्लुक् प्रक्रिया ॥

नामधातव इति—नाम धर्मात् प्रातिपदिक या सुबन्त से प्रत्यय जोड़कर जो धातु बनाई जाती है वे नामधातु कहलाते हैं। इन धातुओं के विविध भर्ष होते हैं क्योंकि प्रातिपदिक या सुबन्त से अनेक धर्षों में प्रत्यय किये जाते हैं। जैसे—

१. भुवो वर्त्मन लिटोः १/४/५५५ धर्मात् अजादि लुट्, धौर लिट् परे होने पर भू होता है। बुक् में व् शेष रहता है।

६३० । सुप् आत्मनः क्यच् ३।१।१८॥ इ।  
सम्बन्धिनः सुवन्तादिच्छायामर्थे क्यच् प्रत्ययो वा स्यात् ।

६३१ । सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २।४।७१॥ ए  
सुपो लुक् ।

६३२ । क्यचि च ७।४।३१॥ भवर्णस्य ईः ।  
मिच्छति पुत्रीयति

६३० सुप् इति—इच्छा का कर्म तथा इच्छा के कर्ता से  
वाला जो सुबन्त उससे इच्छा धर्म में विकल्प से क्यच् होता है ।

टिप्पणी—‘आत्मनः पुत्रम् इच्छति’—भपना (भपने लिये,  
है यहाँ इच्छा का कर्म है—पुत्र तथा वह चाहने वाले से सम्ब  
न्धित। चाहने वाला भपना पुत्र चाहता है; इसलिये ‘पुत्र’ श  
प्रत्यय होता है । यदि कोई दूसरे का पुत्र चाहता है तो वहाँ ‘  
क्यच्’ प्रत्यय नहीं होता । क्यच् में ‘य’ शेष रहता है । क्यच् प्रा  
परस्मैपदी होती है ।

पुत्र + भम् + य (क्यच्) इस भवस्था में ।

६३१ सुपो मातिवति—धातु और प्रातिपदिक के भवयव सु  
हो जाता है । [पुत्र + भम् + य’ की सनाद्यन्ताः धातवः ३।१।३  
संज्ञा होती है अतः यहाँ भम् का लुक् हो जाता है और पुत्र +  
जाता है ]

६३२ क्यचीति—क्यच् प्रत्यय परे होने पर भवर्ण का ई हो  
इससे पुत्र के अकार को ईकार होकर ‘पुत्रीय’ नामधातु बनती है ।  
यद् सकार में तिप्, शप् होकर पुत्रीयति ।

पुत्रीयति—पुत्रमात्मनः इच्छति (भपना पुत्र चाहता है)—इस श  
ब्द से क्यच् प्रत्यय होकर पुत्र + य इस भवस्था में अकार को ईकार  
और ‘पुत्रीय’ नामधातु बन जाती है । उससे लट् प्रथमपुरुष के ए  
लीय + य (शप्) + ति → य + अ = अ (‘भवतो गुरो’, से परस्मैप  
दी बनता है ।

टिप्पणी—नामधातु के रूप सब सकारों में इस प्रकार होते हैं—

६३ ने नः क्ये १।४।१५॥ क्यचि क्यडि च नान्तमेव पद  
नाग्यत् । नलोपः । राजीयति । नान्तमेवेति किम् । वाच्यति । हलि  
च । गीर्यति । पूर्यति धातोर्हित्येव नेह—दिवमिच्छति दिव्यति ।

सद्-पुत्रीयति । लिट्-पुत्रीयाञ्चकार इत्यादि । लुट्-पुत्रीयिता । लृट्-पुत्री-  
यिष्यति । लोट्-पुत्रीयतु । लट्-अपुत्रीयत् । विधित्तिट्-पुत्रीयेत् । धातिनि  
विट्-पुत्रीय्यात् । लुट्-अपुत्रीयोत् । लृट्-अपुत्रीयिष्यत् ।

६३६. न इति—क्यच् घोर कण्ठ प्रत्यय परे होने पर लकारान्त शब्द  
ही पद संज्ञक होता है वाच्य महा ।

न लोप इति—‘राजन् + क्यच्’ इस अवस्था में ऊपर के सूत्र से ‘राजन्’  
की पद सज्ञा होने से ‘नः लोपः प्रातिपदिकान्तस्य’ ८।२।७ से नकार का लोप  
हो जाता है

राजीयति—राजानमात्मनः इत्यति (अपना राजा चाहता है) इस अर्थ  
में राजन् + भम् + य (क्यच्) इसको ‘सनाद्यन्ता धातवः’ ३।३।३ से धातुसज्ञा होकर  
भम् का लोप होता है तथा ‘नः क्ये’ से राजन् की पदसज्ञा होकर नकार का  
लोप हो जाता है ‘राज् + य’ इस दशा में ‘क्यचि च’ से अकार को ईकार हो-  
कर ‘राजीय’ नामधेय बनती है । उससे सद् लकार प्रथमपुरुष के एकवचन  
में ‘राजीयति’ रूप बनता है ।

नान्तमेवेति—नान्त की ही पदसज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा गया  
है ? हमलिये कि वाच्यति, यहाँ पर ‘वाच्’ शब्द की पदसज्ञा नहीं होती ।  
वाचमात्मनः इत्यति इस अर्थ में ‘वाच् + य (क्यच्)’ इस दशा में ‘वाच्’  
की पदसज्ञा न होने से लकार को ‘घोः कृः’ ८।२।३० से कृत्व (बहार) नहीं  
होता ‘भवा जज्ञोते’ ८।२।६२ से जज्ञत्व भी नहीं होता और ‘वाच्यति’ रूप  
निरा है ।

हलि चेति—गिह् + य, पुह् + य—इस अवस्था में हलि च ८।२।७  
जिस धातु के अन्त में रेफ या बहार होता है, उसकी उपमा को दीर्घ हो  
जाता है) इस सूत्र से गिह् के इकार - - - - - दीर्घ होता है ।

गीर्यति ।

)-इस अर्थ में



६३४ । वयस्य विमाया ६।४।१०॥ हलः परस्य लोपो धार्धधातुके । आदेः परस्य । अतो लोपः । तस्य धूपधगुणो न । समिधिता । समिध्यिता ।

निर्+धम्+य (वयच्) यहाँ धम् का लोप होकर 'हलि' दीर्घ (ईकार) हो जाता है तथा 'गीर्ध' नामधातु बनती है रूप होता है ।

पूर्वेति - पुरमात्मनः इच्छति, (अपना नगर चाहता है) प्रा-  
धातोरिति—'हलि च' इस सूत्र से धातु की उपधा को ।  
निर्' और 'पुर्' शब्द 'नृ निगरणे' तथा 'पृ पालनपूरणयोः'  
प्रत्यय होकर बने हैं तथा यह सिद्धान्त है कि क्विप् प्रत्ययान्त  
का त्याग नहीं करते (क्विप्विजन्ता न धातुत्वं जहति) अतः गी  
दीर्घ हो जाता है । किन्तु 'दिवमात्मनः इच्छति' → 'दिव्यति'  
होता, क्योंकि यहाँ 'दिक्' विवन्त या विजन्त नहीं हो सकता  
ही प्रातिपदिक है । इसलिये यहाँ 'दिक्' धातु नहीं कहला सकती ।

६३४. वयस्येति—हल् (व्यञ्जन) से परे वयच् और वयड  
से लोप हो जाता है, धार्धधातुक परे होने पर ।

आदेरिति—आदेः परस्य १।१।१४॥ के अनुसार यह लोप  
के आदि अर्थात् मकार का होता है ।

अत इति—अतो लोपः ६।४।४८ से शेष अकार का लोप हो  
तस्येति—उस अकार के लोप को स्थानिवद् भाव होने से  
ही होता अर्थात् समिष्+इ+ता' इस अवस्था में समिष् के  
एण प्राप्त है । समिध्य+इ+ता, इस दशा में घकार से आगे  
य लोप हुआ है उसको लोप न हुआ सा मान लिया जाता है  
शब्द नहीं रहता (क्योंकि उपधा में घकार दिखाई देता है और गुण

समिधिता-समिध्यिता—समिधमात्मनः इच्छति (समिधा म-  
)—इस अर्थ में 'समिष्' से वयच् प्रत्यय होकर समिध्य' नाम  
। इससे लुट् सकार के प्रथम पुरुष के एकवचन में समि

६३५। काम्यञ्च ३।१।६॥ उक्तविषये काम्यञ् स्थात् । पुत्र-  
मात्मन इच्छति पुत्रकाम्यति । पुत्रकाम्यता ।

६३६। उपमानादाचारे ३।१।१०॥ उपमानात् कर्मणः

डा→समिध्य+ता→इद् होकर समिध्य+इ+ता इस प्रकार के 'वयस्य विनाया' से विकल्प से उकार का लोप और 'अतो लोपः' से अकार का लोप होकर समिधिता रूप बनता है । यकार का लोप न होने पर अकार का लोप होकर 'समिधिता' रूप होता है ।

६३५. काम्यञ्चेति—वयञ् के अर्थ में ही काम्यञ् प्रत्यय होता है ।

['काम्यञ्' में चकार का लोप हो जाता है और काम्य लोप रहता है काम्यञ् प्रत्ययान्त धातु परस्मैपद में होती है ।]

पुत्रकाम्यति—पुत्रमात्मनः इच्छति, इस अर्थ में काम्यञ् प्रत्यय होता है, पुत्र+अन्+काम्य इसकी 'सनाद्यन्ताः धातवः' से धातु संज्ञा होकर 'अम्' का लोप होता है और 'पुत्रकाम्य' यह नामधातु बन जाती है । इससे लट् के प्रथमपुरुष एकवचन में पुत्रकाम्यति ।

पुत्रकाम्यता—पुत्रकाम्य+लुट् प्रथम पुरुष एकवचन । पुत्रकाम्य+इ (इद्)+ता →काम्य के अन्तिम अकार का लोप (अतो लोपः) होकर पुत्र-काम्यता ।

विशेष—इच्छार्थ वयञ् और काम्यञ् प्रत्यय करने वाले धम्य शब्दों के रूप भी इसी प्रकार बन जाते हैं, जैसे—मात्मात्मात्मनः इच्छति मात्मीयति तथा मुनीयति, साधूयति, कवीयति । आत्मात्मनः इच्छति—आत्मीयति । भस्त्रीयति । वृषीयति इत्यादि । काम्यञ्—धनमात्मनः इच्छति—धनकाम्यति । इसी प्रकार यशस्त्रायति, सगिष्ठाभ्यति, स्वः काम्यति इत्यादि ।

६३६. उपमानादिति—उपमान रूप कर्म सुबन्त से आचार अर्थ में यञ् प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—आचार का अर्थ है व्यवहार करना । जो सुबन्त उपमान होता तथा आचार का कर्म होता है उससे यह वयञ् होता है । यह आचार-वयञ् इलाहा है, 'मुप आत्मनः वयञ्' से बतलाया गया वयञ् इच्छा-वयञ् है । नो के अर्थ में ही भेद होता है, रूप दो समान ही होते हैं ।

सुवन्तादाचारेऽर्थे वयच् । पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति छात्र-  
द्विजम् ।

\* सर्वप्रातिपदिकेभ्यः विवद्वा वयतठ्यः ॥

कृष्ण इवाचरति कृष्णति । स्व इवाचरति स्वति । सस्य-

पुत्रीयति छात्रम्—छात्रं पुत्रमिवाचरति (छात्र से पुत्र  
करता है)—इस अर्थ में 'उपमानादाचारे' से वयच् प्रत्यय हो

वयच् → 'पुत्रीय' नामधातु बनती है । उससे पुत्रीयति रूप बन

विष्णुयति द्विजम्—द्विजं विष्णुमिवाचरति (ब्राह्मण से विष्णु  
सम्यक्करण करता है)—इस अर्थ में आचार अर्थ में वयच् प्रत्यय हो

य' इस अर्थ में 'वयत्तुमावपातुमोदीयः' ७।४।२५ इस श्रुति  
धीर् होकर 'विष्णूय' नामधातु बनती है । उससे विष्णुयति रूप बन

सर्वेति—(या) सब प्रातिपदिकों से आचार अर्थ में वि-  
प्रत्यय हो जाता है, यह कहना चाहिये ।

टिप्पणी—(१) विय् प्रत्यय में ककार की 'लघवत्तद्धित'  
इकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' १।३।२ से घोर पकार की 'ल'

से इत्यन्ता होकर लोप हो जाता है । लोप बंधे विय् प्रकार  
९।१।१७ से लोप होता है । इस प्रकार समस्त विय् का लोप

को सर्वान्तर कहलाता है (२) 'उपमानादाचारे' श्रुति के अ-  
न्वये वयच् प्रत्यय होता है किन्तु 'पर्वप्रतिपदिके' श्रुति के अनुसार उपमानवाची कर्ता प्रातिपदिक से विय्

येह दोनों का अन्तर है ।

कृष्णति—कृष्ण इवाचरति (कृष्ण के समान आचरण क-  
अर्थ में कृष्ण प्रातिपदिक से विय् होकर विय् का लोप हो

जाता है । अब कृष्ण की 'गनादग्लः घञश्च' से घानु मत्ता हो-  
मि कृष्ण + घ (वय्) + ति इस अन्वये में 'यतो घृति' से कृष्ण

'कार का वय् के अन्तर में वयत्तुमावपातुमोदीयः' श्रुति के अनुसार उपमानवाची कर्ता प्रातिपदिक से विय्

इति—अब इस आचरति (इति) शब्द के अन्तर में आचरण कर्ता

६३७ । अनुनासिकस्य विवभ्रलोः विडति ६।४।१५॥

अनुनासिकान्तस्योपधाया दीर्घं स्यात्, क्वो भ्रलादी च विडति ।  
इदमिवाचरति इदामति । राजेव राजानति । पन्था इव पथीनति ।

ये 'स्व' प्रातिपदिक से क्विप् प्रत्यय होकर उसका लोप हो जाता है तब 'स्व' नामधातु बनती है और इससे सद् प्रथम पुरुष एकवचन में 'स्वति' रूप बनती है ।

संखी—क्विप् प्रत्ययान्त नामधातु 'स्व' से सिद् सवार प्रथम पुरुष एकवचन में स्व + क्विप् (घ) 'स्व' के ध्वार को वृद्धि (धावार) होकर 'स्वा + घ' इस अवस्था में क्विप् के स्थान में 'घी' २ हो जाता है । स्वा + घी — यही द्वित्व, धाभ्यास बाध होकर स + स्वा + घी → (घा + घी = घी) स + घी → सखी यह रूप बनता है ।

६३७. अनुनासिकस्येति—अनुनासिक है अन्त से जिसके ऐसे (मज्ज) की उपधा की दीर्घ होता है किन्तु लघा भ्रलादि बिना क्विप् प्रत्यय परे होने पर ।

इदामति—इदमिवाचरति (इसके समान आचारण करता है)—इस धर्म में 'इदम्' प्रातिपदिक से क्विप् प्रत्यय होकर इदम् + क्विप्, यही अनुनासिकस्ये' इस लृङ् में इदम् की उपधा (धर्मात् ध्वार से पर ध्वार) की दीर्घ हो जाता है तथा क्विप् का लोप हो जाने पर 'इदम्, यह नामधातु बनती है । इसने सद् सवार में इदम् + घ (क्विप्) + नि → इदामनि रूप बनता है ।

राजानति—राजेव आचारनि (राजा के लुप् धाधारण करता है) इस धर्म में राजन् + क्विप् → दीर्घ होकर 'राजान्' नामधातु बनती है । इससे राजाननि रूप बन जाता है ।

पथीनती—पन्था इव आचरति (पार्थ के समान आचरण करता है)—इस धर्म में पथिन् + क्विप् → उपधा की दीर्घ होकर 'पथीन्' यह नामधातु बनती है ।

नियोज—यही धाधाधार्य में दो प्रत्यय बननाये गये हैं—(१) क्विप् और (२) क्विप् । इन प्रत्ययों में धन्य वृद्धि शब्दों के पर इस ध्वार होते हैं—

१. क्विप्विडति ७।२।११॥

२. धान घी गुनः ७।१।१५॥

६३८ । कष्टाय क्रमणे ३।१।४॥ चतुर्थ्यं  
दुस्ताहेऽयं वयङ् स्यात् । कष्टाय क्रमते कष्टायते ।  
इयर्थः ।

६३९ । शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेधेभ्यः करणे

वयङ्—(प्रधिकरणे में)—कुट्या प्राप्तादे इवाचरति-प्रा-  
पिभुः । इसी प्रकार कुटीयति प्राप्तादे राजा । विवृ-  
माप्ताति । पितृव आचरति पितरनि इत्यादि । इनके प्रतिरि-  
वयङ् प्रत्यय भी होना है, जैसे—दृष्ट्वा इव आचरति कु-  
आचरति कुमारीयते इत्यादि ।

६३८. कष्टायतेति - चतुर्थ्यन्त कष्ट शब्द से उत्साह प्र-  
होता है ।

टिप्पणी—(१) वयङ् प्रत्यय में ककार धीर डकार के  
सोप हो जाता है और 'य' शेष रहता है । (२) कष्ट (क-  
जिसका) होने से 'वयङ्' प्रत्ययान्त नाम धातु धातुमनेपवी होती

कष्टायते—कष्टाय क्रमते (पाप करने को उत्साह करता  
में चतुर्थ्यन्त कष्ट शब्द से वयङ् प्रत्यय होकर कष्ट + डे + वय-  
में धातु संज्ञा होकर 'डे' का सोप होता है तथा 'कष्ट' शब्द  
को दीर्घ' होकर कष्टाय नाम धातु बनती है इससे सङ् लकार  
रूप बनता है ।

पापमिति—कष्टायते का प्रर्थ है—पाप करने को उत्सा-  
ह है कि यही कष्ट शब्द से उसके साधन 'पाप' का ग्रहण  
प्रर्थ होता है उत्साह (क्रमणमुत्साहः—तत्त्वबोधिनी) । मत  
उपयुक्त प्रर्थ हो जाता है । ।

६३९. शब्देति—शब्द, वैर, कलहा, भ्रम, कण्व, मेध  
स्थित इन शब्दों से 'करोति' (करता है) इस प्रर्थ में वयङ्

एभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे कश्च् स्यात् । शब्दं करोति-शब्दायते ।  
'तत्करोति तदाचष्टे' इति शिच्

प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिच्छवच्च । प्रातिपदिकाद्  
धात्वर्थे णिच् स्यात्, इच्छे यथा प्रातिपदिकस्यपुनश्च भावरभाव-  
दिसोप-विन्मत्सुलोप-यणादिसोप-अस्यस्काद्यादेश-भसञासु तद्धृणावपि  
स्युः । इत्यत्सोपः घट करोत्याचष्टे वा घटयति ।

॥ इति नाम धातवः

शब्दायते—शब्दं करोति (शब्द करता है)—इस अर्थ में 'शब्द + य +  
कश्च्' इस अवस्था में यम् का लोप होकर शब्द + य → शब्द' के अन्तिम अक्षर  
को दीर्घ होकर 'शब्दाय', यह नामधनु बनती है । इससे शब्दाय + भ (शप्) +  
ते → शब्दायते रूप बनता है ।

तत्करोतीति—'उत्ते करता है' या 'उत्ते रहता है' इस अर्थ में प्रातिपदिक  
से शिच् प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—'तत्करोति' इत्यादि धातु पाठ में पठित नग्नम है । इससे  
'करने' और 'रहने' के अर्थ में कर्मवाची शब्द से शिच् प्रत्यय होता है ।

प्रातिपदिकादिति—प्रातिपदिक से धातु के अर्थ में बहुधा शिच् प्रत्यय होता  
है और वह (शिच्) इच्छन् प्रत्यय के समान होता है अर्थात् इच्छन् प्रत्यय पर  
होने पर जैसे प्रातिपदिक को भुवद्भाव, रभाव (र होना), दिसंज्ञक वा लोप,  
और मनुष्य प्रत्यय वा लोप, यण् है आदि में जिस धातु के उत्पत्ति लोप, स्व  
तथा एक आदेश तथा भसंज्ञा होती है, उसी प्रकार शिच् प्रत्यय पर होने पर भी  
ये कार्य होते हैं ।

इत्यत्सोपः इति—इस प्रकार इच्छन् प्रत्यय के समान होने से 'घट + शिच्'  
हो पर घट की भसंज्ञा हो जाती है तथा 'यत्तेति च' ६।५।१४८ से अन्तिम  
कार वा लोप हो जाता है ।

घटयति—घटं करोति, घटाचष्टे वा (घट को बनाता है या घट को रहता  
है) इस अर्थ में घट शब्द से शिच् प्रत्यय होकर घट + शिच्—इस अवस्था में  
के अन्तिम अक्षर वा लोप हो जाता है और घट् + इ → 'चटि' यह नाम-

अथ कण्डूवादयः

६४० । कण्डूवादिभ्यो यक् ३।१।२७। एम्  
यक् स्यात् स्वार्थे । कण्डूप्, गात्रविधरणे । कण्डू  
इत्यादि ।

॥ इति कण्डूवादयः ॥

धातु बन जानी है । इगमे लट् लकार प्रथमपुरुष एकवचनता है ।

टिप्पणी—(१) इष्टवन् होने से पुंवद्भाव आदि के उदाहृत हैं । पुंवद्भाव—पट्वीमाचष्टे पठयति [‘भस्याङे तद्धिने’ (४) रभाव—दूहं करोति दधयति (२ ऋतो हलादेशलोपः ६।४।१६१) टिलोप—पटुमाचष्टे पठयति (ट ६।४।१६५॥) । विष्णुक् छत्रयति । मनुप्—नुक्—धीमन्तं करोति धापयति (विष्मते मणादिलोप—स्थूलमाचष्टे स्थवयति, दूर करोति दधयति मिप्रभुद्राणा मणादिपरं पूर्वस्य च गुणः ६।४।१६६) । प्र-प्रापयति, स्थ-आदेश—स्थिरं करोति स्थापयति; स्थ-आदेश स्थापयति (प्रिप्रस्थिरस्फिर ६।४।१६७) । भसंज्ञा का उदाहृत गया है ।

॥ इति नामधातु ॥

कण्डूवादयः—कण्डू’ आदि गणपाठ में पड़े गये शब्द हैं । उनसे बनने वाली क्रियाओं का उल्लेख किया गया है ।

६४०. कण्डूवादिभ्य इति—कण्डू आदि धातुओं ॥ नित्य है, स्वार्थ में ।

टिप्पणी—यहाँ ‘धातुभ्यः’ (धातु से) इस विशेषण का प्रयोग कण्डू आदि प्रातिपदिकों से यक् प्रत्यय नहीं होता । कण्डू’ आदि हैं—धातु तथा प्रातिपदिक । इनमें धातुओं से ही यक् प्रत्यय ॥ ७० ॥ से नहीं ।

## अथात्मनेपदप्रक्रिया

कण्डूज्—धातु 'जुजताम्' धर्म में है ।

कण्डूयति-कण्डूयते—कण्डू धातु से 'यक्' होकर 'कण्डूय' ऐसा रूप बनता है । इसकी धातु 'संज्ञा' होकर लट् लकार के परस्मैपद में कण्डूयति तथा आत्मनेपद में कण्डूयते रूप बनते हैं ।

दिप्पलौ—(१) 'कण्डूय' धादि धातुओं के सब लकारों से इस प्रकार रूप होते हैं—लट् कण्डूयति-कण्डूयते । लिट्—कण्डूयाञ्चकार-कण्डूयाञ्चके । लुट्—कण्डूयिता । लृट्—कण्डूयिष्यति—ते । लोट्—कण्डूयतु—ताम् । लङ्—अकण्डूयस्—त । विधिलिट्—कण्डूयेत्—त । धातिपि लिट्—कण्डूय्यात्—कण्डूयिषीष्ट । लृट्—अकण्डूयीत्—अकण्डूयिषीष्ट । लृङ्—अकण्डूयिष्यत्—त । (२) कण्ड्वादि के कुछ व्यवहारोपयोगी निम्नरूप इस प्रकार हैं—

सपर—सपयति । भिषज्—भिषज्यति । इषुष्—इषुष्यति । केसा, सेसा—केसायति, सेसायति । मही—महीयते । पयस्—पयस्यति । सुख—सुख्यति । कण्ड्वादि आकृतिगण है ।

॥इति कण्ड्वादि ॥

आत्मनेपदेति—जैसा कि तिङन्त प्रक्रिया के प्रारम्भ में बतलाया गया है लकार के स्थान में होने वाले प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं—

१. परस्मैपद और २. आत्मनेपद । किन् धातुओं से परस्मैपद प्रत्यय लगाने पाते हैं और किनसे आत्मनेपद, यह बतलाने वाले तीन सामान्यसूत्र हैं । उनके अपवाद रूप ही अन्य सूत्र परस्मैपद या आत्मनेपद का विधान करते हैं । वे सामान्य सूत्र ये हैं—

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १।३।१२॥—जिसका अनुदात्त ङि (स्वर) हो (अनुदात्तेङ्) ङयवा ङकार इत्संज्ञक (ङित्) हो ऐसी धातु से आत्मनेपद

१. सनाद्यन्ता धातवः ३।१।३२॥

२. 'यण्ट्' धातु 'ङित्' (ङकार है इत्संज्ञक त्रिवर्ग) है अतः उभयपरी है । (देखिये आत्मनेपद प्रक्रिया)



होता है। जैसे—एष वृद्धो, इसका धकार से आगे वाला अनुदात्त है अतः इससे आत्मनेपद (एषते) होता है। इसी प्रकार 'शीङ्' इत्संज्ञक है अतः इससे आत्मनेपद (शीते) होता है। कौन धातु कौन 'छिप्' है—इसका ज्ञान धातुपाठ से होता है।

२. स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले १।३।७२॥—जिस इत् हो (स्वरितेत्) अथवा जिसका अकार इत् हो (जिः) उस पद होता है यदि क्रिया का फल कर्ता को प्राप्त होता है (कर्तृगामी) 'पच' धातु का धकार से आगे वाला स्वरित अकार इत्संज्ञक स्वरितेत् है। यदि कहना है कि 'देवदत्त अपने लिए भोजन पका' 'पचति' क्रिया का फल कर्ता को प्राप्त होगा (कर्तृगामी) अतः पचते यह (आत्मनेपद) प्रयोग होना चाहिये और यदि कहना (दूतगो के लिये) भोजन पकाता है' तो यही 'पचति' क्रिया का अन्य को प्राप्त होता है (परगामी) अतः पाचकः भोजन (परमैपद) प्रयोग होना चाहिये। इसी प्रकार 'कृन्' धातु जो कर्तृगामी क्रियाफल में आत्मनेपद तथा परगामी क्रियाफल होता।

टिप्पणी—परमैपद और आत्मनेपद के प्रयोग का यह नियम क्रिया जाता है। उक्कटोटि के संस्कृत कवियों ने भी सामान्यरूप से प्रयोग किया है किन्तु दत्तकुमारचरित तथा कादम्बरि ऐसे स्थल हैं जहाँ दोनों पदों का नियमित प्रयोग मिलता है।

३. शेषात्पतंरि परमैपदम् १।३।७८॥—जिस धातु में नेमित्त नहीं होगा वह जोय कही गई में, उसमें कर्तृवाच्य में परमैपद धन सूचो से कर्तृवाच्य में ही आत्मनेपद आदि की ध्येयवा ताव तथा कर्म में तो भावकर्मणो १।३।१३ के अनुसार आत्मनेपद प्रयोग करने में सामान्य नियम यह है—

१. विभाइये—M. R. Kale, A Higher Sanskrit पाठटिप्पणी मेरठ १९११.

६४१ । कर्तरि कर्मव्यतिहारे १।३ १४॥ क्रियाविनिमये द्योत्ये  
कर्तर्यात्मनेपदम् । व्यतिलुनीते । अन्यस्य योग्यं लघनं करोतीत्यर्थः ।  
६४२ । न गतिहिंसार्थेभ्यः १।३।१५॥ व्यतिगच्छन्ति ।  
व्यतिघ्नन्ति ।

६४३ । नेविशः १।३।१७॥ निविशते ।

आत्मनेपद—(क) अनुदात्तवृ, द्विव धातुभो से (ख) स्वर्तितवृ, द्विव धातुभो  
से कर्तृगामी क्रियाफल मे (ग) कर्मवाच्य तथा भाववाच्य मे होता है ।  
परस्मैपद—तेषाधातुभो से केवल कर्तृवाच्य मे परस्मैपद होता है इस नियम

के कुछ अपवादो का आगे निरूपण किया जा रहा है ।

६४१ कर्तरि—क्रिया का विनिमय यद्यत् कार्यों की बदला-बदली को  
प्रकट करने के लिए कर्तृवाच्य मे आत्मनेपद होता है ।

टिप्पणी—जब एक के नियत कर्तव्य को दूसरा करता है तो वह कर्म-  
व्यतिहार (क्रियाविनिमय) कहलाता है । यह कर्मव्यतिहार वि+अति उपसर्गो  
द्वारा प्रकट होता है ।

व्यतिलुनीते—दूसरे के योग्य काटने के कार्य को करता है, यह, अर्थ है ।  
यहाँ वि, अति उपसर्ग पूर्वक ध्रुन् (काटना) धातु से कर्मव्यतिहार को प्रकट  
करने के लिये आत्मनेपद होता है । वि अति+ध्रु+ना (क्वा)+ते→व्यतिलु  
नीते ।

६४२ नीति—गति और हिंसा है अर्थ जिनका ऐसी धातुभो से क्रिया  
विनिमय अर्थ मे आत्मनेपद नहीं होता (पूर्व सूत्र १।३।१४ का अपवाद) ।

व्यतिगच्छन्ति—(एक दूसरे के गन्तव्य स्थानों को जाते हैं) वि+अति+  
गच्छ+न्ति । यहाँ क्रियाविनिमय अर्थ प्रकट होता है तथापि वाच्यार्थक धातु  
होने के कारण आत्मनेपद नहीं होता है । इसी प्रकार—

व्यतिघ्नन्ति—वि+अति+हन्+न्ति । यहाँ हिंसावर्क धातु होने से  
क्रियाविनिमय अर्थ मे भी आत्मनेपद नहीं होता है ।

६४३ नेविशदिति—नि पूर्वक विश् धातु से आत्मनेपद होता है ।

१. यहाँ ई ह्रस्वपोः ६।४।११३ से क्वा के आकार को ईवार होता है ।  
तथा प्वादिना ह्रस्वः से ध्रु के ऊवार को ह्रस्व (जवार) हो जाता है ।

६४४ । परिव्यवेभ्यः कियः १।३।१८॥  
विक्रीणीते । अवक्रीणीते ।

६४५ । विपराम्याजेः १।३।१९। विजयते ।

६४६ । समवप्रविभ्यः स्थः १।३।२२ सन्ति  
प्रतिष्ठते । वितिष्ठते ।

निविशते—सामान्यतः विश् परस्मैपदो है ।  
अनुसार नि उपसर्ग पूर्वक विश् धातु से आत्मनेपद हो जाता  
अ (श') + ते ।

६४४. परोति—परि, वि और अव उपसर्ग पूर्वक 'क्री'  
होता है । 'दुहोर् इव्यविनिमये' दूयादिगण की धातु है  
कर्तृगामी क्रियाफल में आत्मनेपद सिद्ध ही है । इन उप  
क्रियाफल में भी आत्मनेपद का विधान करने के लिये यह सू

परिक्रीणीते—(वेतन द्वारा नियत काल के लिए रखता  
पूर्वक क्री धातु से आत्मनेपद होकर परि + क्री + मा (ता)  
इसी प्रकार 'विक्रीणीते' (बेचना है) अवक्रीणीते ।

६४५. विपराम्यामिति—वि, परा पूर्वक 'जि' धातु से

विजयते—(विजय प्राप्त करता है) वि पूर्वक जि  
धातु से उपयुक्त मून के अनुसार आत्मनेपद होकर वि +  
ते—'जि' के इ की गुण (ए) तथा अय् होकर विजयते । इस  
हारता है । प्रकर्मक) हराता है । सकर्मक) ।

६४६. समवेति—(सम्, अव प्र, वि उपसर्ग पूर्वक स्था  
होता है ।

सन्तिष्ठते—अश्रद्धा तरह ठहरता है, साध रहना  
पूर्वक स्था (ठहरना) धातु से समवप्रविभ्यः स्थः मून से

१ यह तुदादिगण की धातु है अतः 'तुदादिभ्यः नः'  
होता है ।

६४७ । अपह्लवे ज्ञः १।३।४४॥ शतमपजानीते । अपलपतीत्यर्थः ।

६४८ । अकर्मकाच्च १।३।४५॥ सपिपो जानीते । सपिपोपायेन प्रवर्तते इत्यर्थः ।

६४९ । उदश्चरः सकर्मकात् १।३।४६॥ धर्ममुच्चरते । उल्लङ्घ्य गच्छतीत्यर्थः ।

है तथा सम् + स्वा + भ (शप्) + ते → स्वा को तिष्ठ आदेश होकर सन्तिष्ठते । इसी प्रकार भवतिष्ठते (रहता है) प्रतिष्ठते (प्रस्थान करता है), वितिष्ठते (विशेष प्रकार से स्थित रहता है) इत्यादि ।

६४७ अपह्लवे इति—ज्ञा धातु से द्विपदा अर्थ में आत्मनेपद होता है । (ज्ञा भवबोधने 'ज्ञ्यादिगण की उभयपदी धातु है । प्रस्तुत सूत्र से परगामी त्रिपदा में भी अपह्लव' अर्थ में आत्मनेपद ही होता है ।

शतमपजानीते—धी (दपये) की द्विपदा (नटता) है यह अर्थ है यही उपसृक्त सूत्र से आत्मनेपद हो जाता है—अप + ज्ञा + ता (श्वा) + ते → ज्ञा के स्थान में 'या' होकर अपजानीते ।

६४८ अकर्मकाच्चेति—अकर्मक ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है ।

[ इस सूत्र में भी परगामी त्रिपदा में आत्मनेपद कहा गया है । ]

सपिपो जानीते—धृत के द्वारा प्रवृत्त होता है, यह अर्थ है । इस अर्थ में भी ज्ञा धातु सकर्मक है । अतः 'अकर्मकाच्च' से आत्मनेपद होकर ज्ञा + ज्ञा + ते → जानीते ।

६४९ उदश्चर इति—उद् उपसर्ग पूर्वक सकर्मक चर् धातु से आत्मनेपद होता है । [ 'चर् नतिभगणयो.' ज्ञ्यादिगण की वरश्मपदी धातु है । इससे आत्मनेपद का विधान किया गया है । ]

धर्ममुच्चरते—उत्तरण करके चमत्ता है, यह अर्थ है । यही उद् उपसर्ग पूर्वक चर् धातु है जो सकर्मक है अतः उपसृक्त सूत्र से आत्मनेपद होकर उद् + चर् + भ (शप्) + ते → उच्चरते ।

१. आननोर्वा ७।३।७६॥

६५० । समस्तृतीयायुक्तात् १।१।५४॥ रघेः

६५१ । दाणश्चेति १।१।५५॥

यान्तेन युक्तायुक्त रघात् तृतीया चञ्चलुष्यर्थे । दा

६५२ । पूर्ववत्तनः १।१।५६॥ तनः पूर्वो

समन्तादप्यारम्भेपद स्यात् । एदिधियते ।

६५० तम इति—तम् अतिसंग्रहक तृतीयाविभक्त्यन्त  
मातु से आत्मनेपद होगा है ।

रघेः सञ्चरने—(रघ से प्रमाण करना है) यही मन्  
तृतीयात् 'रघेः' से उसका मोष भी है मतः प्रस्तुत सूत्र  
सम् + चर् + घ(गप्) + ते → सञ्चरते ।

६५१ दाणश्चेति—सम् पूर्वक दाण् धातु यदि तृती  
यह तृतीया विभक्ति चतुर्थी के भयं में हो तो उससे आत्मने

टिप्पणी—प्रशिष्ट व्यवहार में दाण् धातु के प्रयोग में  
भयं में तृतीया हो जाया करती है (प्रशिष्ट व्यवहारे व  
तृतीया—कारक प्रकरण) । दाण् जाने आदिगण की परस्मैप

दास्या सपञ्चते कामी—(कामी दासी के लिए कुछ ।  
पूर्वक दाण् धातु दास्या' इस तृतीयान्त शब्द से युक्त है तब  
निदिष्ट वातिक के अनुसार चतुर्थी के भयं में तृतीया वि  
शणश्चेति० सूत्र के अनुसार आत्मनेपद हो जाता है । सम्  
+ ते → दाण् की यच्छ' आदेश होकर सपञ्चते रूप बनता

६५२ पूर्ववदिति—सन् प्रत्यय से पूर्व जो धातु (म  
रमान् सन् प्रत्ययान्त धातु से भी आत्मनेपद होता है ।

एदिधियते—(बढ़ना चाहता है) —'एष् वृद्धी' यह श

१. पाश्चात्त्यास्थानादाण् दृश्यतिसतिशदपदा । विवजिद

६५३ । हलन्ताच्च १।२।१०॥ इवसमीपाद् हल परो भलादिः सन् कित् । निविविधते ।

इससे 'एधितुमिच्छति' इस अर्थ में सन् प्रत्यय होकर 'एध् + स' इस अवस्था में सन् को इद् का भाग्य होकर तथा सकार को पकार होकर 'एधिय' यहाँ 'धि' को द्वित्व होकर एधि धि प → सम्प्रास के पकार को दकार होता है तथा 'एदिधिय' यह सन्नन्त धातु बन जाती है । इससे 'पूर्ववत् सनः' सूत्र के अनुसार आत्मनेपद होकर एदिधियते रूप बनता है ।"

६५३. हलन्ताच्चेति—इद् (इ, उ, ऋ, ए) के समीप जो हल् (अ, इ, उ) उससे परो भलादि (भल प्रत्याहार का वर्ण है आदि में जिसके) सन् कित् हो जाता है ।

टिप्पणी—सन् प्रत्यय को जहाँ इद् नहीं होता वहाँ यह भलादि है, क्योंकि सकार भल प्रत्याहार में है । इद् हो जाने पर तो 'इ + स'—यह सन् का रूप होता है अतः यह भलादि नहीं रहता ।

निविविधते—(निवेश करना चाहता है) 'निवेदितुम् इच्छति' इस अर्थ में निपूर्वक विष् धातु से सन् प्रत्यय होता है । 'वि + विष् + स', यहाँ सन् को इद् का भाग्य नहीं होता अतः सन् भलादि है और वह कित् हो जाता है । कित् हो जाने से 'विष्' के 'इ' को गुण नहीं होता । द्वित्व होकर निविविष् + स इस अवस्था में विष् के सकार को पकार तथा उसे रकार हो जाता है और सन् के सकार को पकार होकर 'निविविध' यह सन्नन्त धातु बनती है अतः; क्योंकि 'निविधः' के अनुसार निपूर्वक विष् धातु से आत्मनेपद होता है इसलिये सन् प्रत्ययान्त से भी 'पूर्ववत् सनः' के अनुसार आत्मनेपद होकर निविविधते रूप बनता है ।

१. एध् धातु के भादि में अच् (स्वर) है अतः 'अच्चेदितोयस्य' ६।१।२॥ के अनुसार द्वितीय एकाच् धि को ('सन्धोः' ६।१।६) द्वित्व होता है ।

२. वरचभस्जसृजमृजयजराजघ्राजच्छाया यः ॥२।३६॥

३. पडोः काः सि ॥२।४१॥

६५४ । गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिव  
 पयोगेषु कृञः १।३।३२। गन्धनं सूचनम् । उत्कु  
 भवक्षेपणं भर्त्सनम् । श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते-भर्त्स  
 कुरुते-सेवते इत्यर्थः । परदारान् प्रकुरुते तेषु-सा  
 कस्योपस्कुरुते-गुणमाधत्ते । कथाः प्रकुरुते-प्रक  
 प्रकुरुते-धर्माय विनियुङ्क्ते । एषु किम् ? कटं करं

६५५ । भुजोऽनवने १।३।६९ भोदनं भुङ्क्ते  
 महीं भुनक्ति ।

॥इत्यात्मनेपदप्रक्रिया॥

६३४. गन्धनेति—गन्धन (गूचन, शिकायत  
 (=भर्त्सन, कटकारना), सेवन (सेवा ० रना), साहसि  
 प्रतिपत्ति (मुणों का आधान), प्रकथन (विशेष ढंग से  
 आदि में लगाना)—इन अर्थों में कृञ् धातु से आत्मनेपद

टिप्पणी—डुङ्क् करण धातु जित है मत कर्तृगामी  
 आत्मनेपद होता ही है । इन सूत्र से गन्धन आदि अर्थों में  
 से आत्मनेपद का विधान किया गया है ।

उत्कुरुते—इसका अर्थ है सूचित करता है धर्मादि शिष्य  
 उत्पूर्वक कृञ् धातु से गन्धन (गूचन) अर्थ में आत्मनेपद हो

श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते—इसका अर्थ है—बाज बटेर  
 उद्-भा उपसर्ग पूर्वक कृञ् धातु भर्त्सना (भवक्षेपण)  
 गन्धनेत्यादि सूत्र से आत्मनेपद होता है । इसी प्रकार—

हरिमुपकुरुते—इसका अर्थ है हरि की सेवा करता है  
 धातु सेवन अर्थ में है ।

परदारान् प्रकुरुते—इसका अर्थ है परस्त्रियों में साह  
 है । यहाँ प्रपूर्वक कृञ् धातु 'साहसिष्य' अर्थ में है ।

एषोऽनवने उपकुरुते—इसका अर्थ है—काष्ठ ज

## अथ परस्मैपदप्रक्रिया

६५६। अनुपराभ्यां कृजः १।३।७६।। कर्तृगे च फले गन्ध-  
नादौ च परस्मैपदं स्यात् । अनुकरोति । पराकरोति ।

गुण उत्पन्न करता है । यहाँ उपपूर्वक कृ धातु प्रतिव्यञ्ज (=गुणाधान) धर्म में है ।

कथाः प्रकुरुते—इत्यत्र धर्म है कथा कहता है । यहाँ प्र पूर्वक कृ धातु प्रकथन धर्म में है ।

शतं प्रकुरुते—इत्यत्र धर्म है धर्म के लिये सैकड़ों समानता है । यहाँ प्र पूर्वक कृ धातु उपयोग (धर्म धादि में समानता) धर्म में है ।

अतः यहाँ सर्वत्र 'आत्मनेपद' भूत से आत्मनेपद हो जाता है ।

एषु किमिति—इन (गन्धन धादि धर्मों) में कृ धातु से आत्मनेपद होता है, ऐसा क्यों कहा गया है ? इसलिये कि 'कट करोति' धादि में आत्मनेपद नहीं होता । यहाँ 'कटाई करता है' यह धर्म है जो श्रुत्युक्त धर्मों से भिन्न है ।

६५५. भुज इति—भुज धातु से पालन (=भक्षण) से भिन्न धर्म में आत्मनेपद होता है ।

टिप्पणी—भुज वाननाभ्यवहारयोः (पामन तथा भोजन) मह दधादिषण की धातु है । इससे पालन भिन्न अर्थान् 'भोजन करना' तथा 'भोग्य' धर्म में आत्मनेपद होता है, भोजन मुद्रां । पामन धर्म में परस्मैपद होता है यही भ्रुनक्ति ।

घोचन मुद्रात्—(भोजन खाता है)—यहाँ भुज धातु पालन से भिन्न धर्म में है अतः 'भुजोन्नयने' के अनुसार आत्मनेपद होता है ।

अनयने इति—पालन से भिन्न धर्म में आत्मनेपद हो यह क्यों कहा गया है ? इसलिये कि 'नही भ्रुनक्ति' (श्रुत्यो का पालन करता है) यहाँ पर 'भ्रुनक्ति' में परस्मैपद होता है आत्मनेपद नहीं ।

॥ इति आत्मनेपदप्रक्रिया ॥

अथेति—यह च स्मैपद प्रक्रिया का आरम्भ किया जाता है ।

६५६. अनुवर्तेति—अनु और परा उत्तर में पूर्वक कृ धातु से कर्तृशरीर विनश्यत से तथा पक्षय धादि धर्म में भी परस्मैपद होता है ।



६५७ । अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः १।३।८०॥  
स्वरितेन । अभिक्षिपति ।

६५८ । प्राद्वहः १।३।८१ ॥ प्रवहति ।

६५९ । परेमृषः १।३।८२॥ परिमृष्यति ।

६६० । व्याङ्परिभ्यो रमः १।३।८३ ॥  
विरमति ।

६६१ । उपाच्च १।३।८४॥ यश्चदत्तमुपरमति  
त्यर्थः । अन्तर्भावित्यर्थोऽयम् ।

॥ इति परस्मैपदप्रणिमा ॥

अनुकरोति—यहाँ अनु पूर्वक कृञ् धातु से सर्वत्र परस्मैपद  
हीँ भी आत्मनेपद नहीं । इसी प्रकार पराकरोति ।

६५७. अभि—अभि, प्रति और अति उपसर्ग पूर्वक  
परस्मैपद होता है ।

क्षिप्—क्षिप् (फेंकना) धातु (तुदादि) स्वरितेव है, अतः  
स सूत्र से कर्तृगामी क्रियाफल में भी परस्मैपद का विधान ।  
ह फल है ।

अभिक्षिपति—अभि पूर्वक क्षिप् धातु से परस्मैपद ही होता  
आत्मनेपद नहीं । इसी प्रकार प्रतिक्षिपति, अतिक्षिपति ।

६५७. प्राविति—‘प्र’ उपसर्ग पूर्वक ‘वह’ धातु से परस्मैपद होता  
टिप्पणी—वह धातु (भ्यादि) स्वरितेव है अतः उभयपदी है  
कर्तृगामी क्रियाफल में भी परस्मैपद का विधान किया गया है ।

प्रवहति—प्र पूर्वक वह् धातु से परस्मैपद ही होता है, आत्म  
६५९. परेमृष इति—परि उपसर्ग पूर्वक मृष् धातु से परस्मैपद

टिप्पणी—‘मृष् तितिक्षायाम्’ (दिवादि) स्वरितेव धातु है ।  
कर्तृगामी क्रियाफल में भी परस्मैपद का विधान किया गया है ।

परिमृषति—परि पूर्वक मृष् धातु से परस्मैपद ही होता है, आत्म

## अथ भावकर्मप्रक्रिया

६६०. व्याङ् इति—वि, माह, परि उपसर्ग पूर्वक रम् धातु से परस्मैपद होता है ।

रमु—‘रमु क्रीडायाम्’ (भ्यादि) अनुदासत् है, धतः आत्मनेपदी है । इस सूत्र से वि, माह, परि पूर्वक रम् से परस्मैपद का विधान किया गया है ।

विरमति—(रकता है) वि पूर्वक रम् धातु से उपयुक्त सूत्र के अनुसार परस्मैपद होता है । इसी प्रकार आरमति, परिरमति ।

६६१ उपाचवेति—उप उपसर्ग पूर्वक रम् धातु के परस्मैपद होता है ।

यजदत्तमुपरमति—इसका अर्थ है—यजदत्त को रोकता है । यहाँ उप पूर्वक रम् धातु से परस्मैपद होता है ।

अन्तरिति—(यजदत्तमुपरमति में उपरमति का अर्थ ‘उपरमयति’ किया गया है) यह (रम् धातु) अन्तर्भावित है एति का अर्थ जिसमें ऐसी हैं अर्थात् इस रम् धातु में एति प्रत्यय का अर्थ प्रेरणा अन्तर्निहित है ।

टिप्पणी—‘उपाचव’ १।१।८३॥ इस सूत्र द्वारा यहाँ परस्मैपद होता है जहाँ उप पूर्वक रम् धातु सकर्मक होती है । जहाँ यह अकर्मक होती है वहाँ तो ‘विभाषाऽकर्मकात्’ १।१।८३॥ इस सूत्र से विकल्प से परस्मैपद होता है ।

॥ इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥

अथ भावकर्मैति—अथ भाववाच्य और कर्मवाच्य क्रियाओं का प्रकरण आरम्भ किया जाता है ।

विशेष—धातु दो प्रकार की हैं—सकर्मक और अकर्मक । सकर्मक धातुओं से कर्ता तथा कर्म में सकार होते हैं और अकर्मक धातुओं से कर्ता तथा भाव में । (१) सकर्मक और अकर्मक को समझने के लिये यह ध्यान रखना आवश्यक है कि धातु के अर्थ में दो अर्थ होने हैं—फल और व्यापार । जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिये क्रिया की जाती है वह फल है और उस फल की सिद्धि के लिये क्रिया के लिये जो कार्य किया जाता है वह व्यापार कहलाता है । यह (धातु-वाच्य) फल

## ६६२ भावकर्मणोः १।३।१३ तस्यात्मनेपद

जिसमें रहता है, वह कर्म है और व्यापार जिसमें रहता है 'देवदत्तः ओदनं पचति'—यहाँ पर चावलों को पकाने के की जाती है अतः पकना-गलना (= विक्षिप्ति) 'पचति' इसका आशय 'ओदन' कर्म है। इस पाक के लिए पत्तीसी कर चूल्हे पर बड़ाना से लेकर उतारने तक के जो काम क्रिया के व्यापार कहलाते हैं, उनका आशय 'देवदत्त' का प्रकार—

सकर्मक धातु—ये धातु कही जाती हैं जिनके फल भी पृथक् पृथक् होता है। जैसे पचति' इत्यादि।

अकर्मक धातु—ये धातु कही जाती हैं जिनके फल भी एक ही होता है, जैसे 'गच्छति' यहाँ अप्रिम प्रदेश में पहुँचने की जाती है अतः 'उत्तरदेशसंयोग' गमन क्रिया का फल व्यापार है। ये दोनों एक ही कर्ता में रहते हैं अतः यह धातु

(२) संस्कृत में तीन वाच्य होते हैं—कर्तृवाच्य भाववाच्य, कर्तृवाच्य में ऊपर के विवरण के अनुसार और आत्मनेपद होते हैं। बिस्तु कर्मवाच्य तथा भाववाच्य ही होता है। कर्मवाच्य तथा भाववाच्य के रूपों की प्रक्रिया रही है।

६६२. भावेति—भाव और कर्म में लकार के स्थान में होते हैं।

१. संक्षेप में सकर्मक धातु ये कही गई हैं—

सज्जासत्तास्थितिजागरणं वृद्धिदामभयजीवितमरणम्  
शयनव्रीडारुचिदीप्यर्थे धातुगणान्तमकर्मकमाहुः ॥

२. फलव्यापारयोः सामानाधिकरण्याद् भवत्यादिरकर्मकः  
व्यात् करोत्यादिः सकर्मकः।

६६५ । सार्वधातुके यक् ३।१।६७ धातोर्यक् भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके । भावः क्रिया । सा च भावार्थकसकारेणाद्यनूते । युष्म-  
दस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याभावात् प्रथमः पुरुषः । तिङ्वाच्यक्रियामा-  
श्रद्ध्यरूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादि किं त्वेकवचनमेवोत्सर्गतः ।

६६३. सार्वधातुक इति—धातु से यक् प्रत्यय होता है भाववाचक तथा कर्मवाचक सार्वधातुक परे होने पर ।

टिप्पणी—धातु से विधान क्रिये गये तिङ् तथा शित् प्रत्यय सार्वधातुक कहलाते हैं तथा धातु से विहित शेष प्रत्यय आर्थधातुक कहे जाते हैं ।<sup>१</sup>

भाव इति - (भावकर्मणो. आदि मे) भाव का अर्थ है क्रिया और उस क्रिया का भावार्थक सकार से अनुवाद किया जाता है ।

अभिप्राय यह है कि (भाववाच्य) में सकार भाव में आता है अर्थात् वह क्रियामात्र को प्रकट करता है; किन्तु क्रिया तो प्रत्येक धातु का वाच्यार्थ है अतः उस धातुवर्ष क्रिया का सकार द्वारा अनुवाद<sup>२</sup> किया जाता है अर्थात् धातु के वाच्यार्थ क्रिया को ही भावार्थक सकार प्रकट करता है ।

युष्मदिति युष्मद् (तुम) और अस्मद् (हम) से (भाव का) सामानाधिकरण्य न होने से भाववाच्य की क्रिया में केवल प्रथमपुरुष ही होता है, मध्यमपुरुष या उत्तमपुरुष नहीं ।

भाव यह है कि जहाँ सकार कर्ता और कर्म में होता है वहाँ सकार का अर्थ (कर्तृत्व और कर्मत्व) युष्मद् तथा अस्मद् के साथ एक अर्थ में स्थित रहता है अर्थात् उनका युष्मद् और अस्मद् के साथ सामानाधिकरण्य होता है; किन्तु भाववाच्य में तो सकार क्रियामात्र को प्रकट करता है और भाव का युष्मद् तथा अस्मद् के साथ सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता अर्थात् क्रिया (भाव) न 'तुम' हो सकती है, न 'हम' हो सकती है ।

तिङ् वाच्येति—तिङ् की वाच्य जो क्रिया है वह द्रव्य रूप नहीं है अतः

१. तिङ् शित् सार्वधातुकम् ३।१।१३।।, आर्थधातुकं शेषः ३।१।१४

२. अनुवाद का अर्थ है—जात (प्राप्त) अर्थ का पुनः कथन ।

एवमा एवमन्वयं न भूषणे । वभूवे ।

६६४ : स्यासिच्सीयुट्तासिपु भावकर्मर  
ग्रहदशां वा चिण्डदिट् च ६।४ ६२॥ उपदेशे

उपदेशे द्वित्व आदि (सकृता) की प्रतीति नहीं होनी । इस द्वित्वचन आदि नहीं होने, दिङ् लु माणाग्यनः विहित एकवचन टिप्पणी—‘बहुषु बहुवचनम्’ १।४।२१॥, इ। १।४।२२॥ अष्टाध्यायी में इस प्रकार दो सूत्र हैं । इनके द्वारा तथा गिनने के प्रयोग द्वित्व आदि के वाचक शब्दों में प्राप्त होता, धनः महाभाष्यकार के अनुसार ये सूत्र इस प्रकार ‘एकवचनम्’ द्वित्वद्वोद्वित्वचनबहुवचने—देगा होने पर एक बड़ा गया है वह सिंगी सकृता की अपेक्षा नहीं रमता अनए में भी एकवचन हो जाता है । अंगे—

एवमा एवमन्वयं भूषणे—(तुमने, मुझने और अन्य ० है) —‘भू’ धातु भवमंक है अतः ‘लः कर्मणि०’ इत्यादि के । में सकृता (सट्) हुआ है । भावकर्मणोः १।३।१३॥ से आत्माने भू+ते’ इस अवस्था में ‘सावंधातुके यक्’ से यक् होकर ‘भू’ यह रूप बनता है ।

टिप्पणी—उपयुक्त विवरण के अनुसार भाववाच्य में सकृता में केवल प्रथमपुरुष के एकवचन का ही रूप बनता है, भाव में सकृता हुआ है अतः कर्ता अनुक्त है तथा कर्ता (स्वयं) तृतीया विभक्ति होती है ।

वभूवे—भू+लिट् (भाववाच्य) प्रथमपुरुष एकवचन । भू लिट् होकर आत्मनेपद होने से भू+ए द्वित्व और आत्मास ए→वृक् का आगम होकर व+भू+व् (वृक् + ए→वभूवे

६६४. स्यासिज् इति—उपदेश में जो अच् वह है धन धातुओं और हन् आदि धातुओं को चिण् के समान मङ्ग कार्य

हनादीनां च चिणीवाङ्मकार्यं वा स्यात्स्यादिषु भावकर्मणोर्गम्यमानयो-  
र्यादीनामिडागमश्च । चिण्वद्भावपक्षेऽयमिड् । चिण्वद्भावाद् वृद्धिः ।  
भाविता, भविता । भाविष्यते, भविष्यते । भूयताम् । अभूयत । भूयेत ।

से 'स्य' घादि ('स्य' भिच् सीयुट् घौर तासि) परे होने पर, जबकि भाव और  
कर्म गम्यमान होते हैं (अर्थात् भाव और कर्म से उकार होता है) तथा 'स्य'  
घादि को इट् का आगम भी हो जाता है ।

टिप्पणी—'चिण्' का विवरण आगे दिया जा रहा है । चिण्, परे रहते  
जैसे भङ्ग को वृद्धि घादि हो जाती है इसी प्रकार यहाँ चिण्, वद्भाव होने से  
भी हो जाती है ।

चिण्वदिति—चिण्वद्भाव (अर्थात् चिण्, के समान कार्य) होने के पक्ष में  
ही यह इट् होता है (जब चिण्वद्भाव नहीं होता तो इट् भी नहीं होता) । चिण्,  
के समान कार्य होने से वृद्धि हो जाती है । जैसे—

भाविता-भविता—भू + तुट् (भाववाच्य) प्रथमपुरुष एवचन । भू +  
तास् + डा' इस अवस्था में चिण्वद्भाव होने से तास् को इट् का आगम तथा  
ऊकार को वृद्धि (घो) होकर घो की भाव् हो जाता है 'भावि तास् डा' यह  
भास् (टि) का स्रोत होकर 'भाविता रूप बनता है ।

पक्ष में चिण्वद्भाव न होने पर 'आर्षधातुकस्येड्वतलादेः' २।१।३५ ने इट्  
होकर ऊकार को गुण (घो) तथा घब् घादेश होकर 'भविता' रूप होता है ।

भाविष्यते भविष्यते—भू + लृट् (भाववाच्य) प्रथमपुरुष एवचन । भू +  
स्य + ते—चिण्वद्भाव होने से स्य की इट् का आगम तथा उकार की वृद्धि  
(घो) और घो की भाव् होकर भाविष्यते । चिण्वद्भाव न होने पर भविष्यते  
भूयताम्—भू + लोट् (भाववाच्य) प्र० पु० एक० । भू + य (यच्) + ताम् ।

अभूयत—भू + लङ् (भाववाच्य) प्र० पु० एक० । अ + भू + य (यच्) + त ।

भूयेत—भ + विधिविड् (भाववाच्य) प्र० पु० एक० । भू + य (यच्) + ई  
(सीयुट्) + त ।

भाविपीष्ट, भविपीष्ट ।

६६५ । चिण् भावकर्मणोः ३।१।६६॥ चले

भावकर्मवाचिनि तशब्दे परे । अभावि । अभाविष्यत्  
अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात् सकर्मकः । अनुभूयते आनन्दश्च

भाविपीष्ट भविपीष्ट — भू + घातिपि लिट् (भाववाच्य) प्र०  
भू + सोयुद् + लुट् + त → भू + सी + स् + त — यहाँ चिण्दभाव  
सोयुद् को इट् का घानम तथा वृद्धि होकर भाविपीष्ट तथा चिण्  
पर भाविपीष्ट रूप होगा है ।

६६५ चिण् इति — चित् के स्थान में चिण् होता है भा  
शब्द परे होने पर ।

टिप्पणी—लुट् लकार में यात् तथा 'त' आदि प्रत्यय के  
लुटि ३।१।४३॥ सूत्र के अनुसार 'चि' हो जाता है उसके स्थान  
'चिण्' आदेश होता है ।

अभावि—भू + लुट् (भाववाच्य) प्र० पु० एक० । 'अ' प्र  
इस दशा में चिण् भावकर्मणोः में चि के स्थान में चिण्  
'चिण्' में इ शेष रहता है तथा 'पिणो मुक्' ६।४।१०४॥ मूर्त  
सोप हो जाता है । 'अ भू + इ' इस अवस्था में ऊकार को वृ  
भात् होकर अभावि ।

अभाविष्यत्-अभविष्यत्—भू + लुट् (भाववाच्य) प्र० पु० एक०  
+ स्व + त → निष्यद्भाव होने पर अभाविष्यत् । न होने पर अभवि

अकर्मक इति—(भू यात्) अकर्मक होने हुए भी (अनु) उपसर्ग  
सकर्मक हो जाती है ।

टिप्पणी—(१) उपसर्ग के द्वारा यात् के अर्थ में परिवर्तन हो  
अतः अनुपूर्वक भू यात् का अर्थ होता है 'अनुभव करना' और इस  
अकर्मक होती है । सकर्मक होने से कर्म में भी क्रिया के रूप लाने  
(२) कर्म में लकार होने पर कर्म उत्पन्न होता है, यातः कर्म में प्रथम  
और वता अनुक्त है अतः उगम मृतीया होती है । (३) कर्मवाच्य

१. लुट् पिणोः ३।४।१०४॥

च । अनुभूयेते । अनुभूयन्ते । त्वमनुभूयसे । अहमनुभूये । अन्वभावि  
अन्यमाविपाताम्, अन्वभविपाताम् । णितोषः । भाव्यते भावमाञ्ज  
का अर्थ कर्म होता है । उस कर्म का युष्मद् अस्मद् से सामानाधिकरण्य होता  
है तथा उसमें द्वित्व आदि सख्या की भी प्रतीति होती है इसलिये कर्मवाच्य  
की क्रिया तीनों पुरुषों तथा तीनों वचनों में होती है । जैसा कि उदाहरणों में  
स्पष्ट है—

अनुभूयते—आनन्दवर्षत्रेण त्वया मया च (चित्र के द्वारा, तुझ से और  
मुझ से आनन्द का अनुभव किया जाता है)—अनुपूर्वक भू धातु 'अनुभव करना'  
अर्थ में सकर्मक है । इससे कर्म में लकार होकर अनु भू + य (यक्) + ते →  
अनुभूयते ।

टिप्पणी—कर्मवाच्य की क्रिया के पुरुष और वचन कर्म के अनुसार होते  
हैं । यहाँ कर्म 'आनन्द' है जो प्रथमपुरुष तथा एकवचन है अतः 'अनुभूयते' में  
प्रथमपुरुष का एकवचन होता है । इसी प्रकार—

अनुभूयेते—अनु भू + लट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० द्वि० । अनु भू + य +  
माताम् ।

अनुभूयन्ते—अनु भू + लट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० बहु० । अनु भू + य +  
न्त (भक्त) ।

त्वमनुभूयसे—अनु भू + लट् (कर्म०) म० पु० एक० । अनु भू + य + से ।  
यहाँ कर्म 'त्वम्' है अतः कर्मवाच्य की क्रिया में मध्यम पुरुष का एकवचन होता  
है । इसी प्रकार द्विवचन में युवाम् अनुभूयेथे, बहु० में यूयम् अनुभूयध्वे ।

अहमनुभूये—अनु भू + लट् (कर्म०) उ० पु० एक० । अनु भू + य + इ ।  
कर्म 'अहम्' है अतः कर्मवाच्य की क्रिया में उत्तमपुरुष का एकवचन होता  
है । इसी प्रकार द्वि० में 'आवाम् अनुभूयावहे' (हम दोनों को अनुभव किया जाता  
है), वयम् अनुभूयामहे ।

अन्वभावि—अन भ  
सिद्धि होती है

अभावि के समान रूप

(कर्म०) प्र० पु० द्वि०



भाषयाम्यभूवे, भाषयामागे । चिण्वदिट् भाविता, भाभी

अनु भद् + भू + विच् + घाताम् → चिण्वदिट् भाविता होने पर इट् ।

घाट् घादेन होकर घञ्भाविताम् । चिण्वदिट् न होने पर इ  
घो) तथा घट् घादेन होकर घञ्भाविताम् ।

लिमोः—अन्त भू धातु (भावि) से कर्मवाच्य में ह  
भावि + व + ते इस दशा में 'गेरनिटि' ६।४।२१॥ 'गि  
जाता है ।

भाष्यते—भू + लिच् + तद् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक०  
से इस अवस्था में लि (इ) का सोप होकर भाट् + व + ते  
बनता है ।

भाषयाम्यभूवे भावि + लिट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । भ  
भट्टे लि ने द्वार को गुण (ए) तथा घट् घादेन होकर भाषयाम्य  
इसी प्रकार 'भू' का अनुप्रयोग होने पर भाषयाम्यभूवे तथा ॥  
प्रयोग होने पर 'भाषयामागे' रूप होता है ।

भाविता-भाषयिता—भावि + लुट् (कर्म०) प्र० पु० एक०  
तात् + डा → भावि + ता इस अवस्था में चिण्वद् भाव से इट् होता  
इ + ता' यही 'असिद्धवदभावात्' ६।४।२२॥ इस मूल के अनुस  
हृए के समान (असिद्धवत्) हो जाता है । इसलिये इस इट् के आगे  
'गेरनिटि' से लि का सोप हो जाता है तथा 'भाविता' रूप बनता है  
जब चिण्वद्भाव से इट् नहीं होता तब 'आर्धघातुकस्मैट् बल  
होता है वह 'इट्' असिद्ध के समान नहीं है अतः लि का सोप नहीं  
इकार (लि) को गुण अट् घादेन होकर भाषयिता' रूप बनता है ।

टिप्पणी—'असिद्धवदभावात्' ६।४।२२। मूल से लेकर 'अस्य'  
मूल तक अन्तका विधान किया गया है वे आभीय (भ पवन्त होने व

१. च्ले: सिच् ३।१।४५॥ इससे च्लि के स्थान में सिच् हो जाता
२. जिसके घादि में इट् न हो ऐसा आर्धघातुक प्रत्यय पर रहने  
सोप हो जाता है ।

णिलोपः । भावयिता । भाविष्यते, भावयिष्यते । अभाव्यत । भाव्ये  
भावयिषीष्ट, भावयिषीष्ट । अभावि । अभावयिषाताम्, अभावयिषाताम्

कहलाते हैं । यदि किसी निमित्त से एक आभीय कार्य किया जा चुका हो  
उसी निमित्त से दूसरा आभीय कार्य प्राप्त हो तो पहला किया कार्य असिद्ध  
(न हुए के समान) हो जाता है । जैसे 'भावि + इ + ता' वहाँ तास् के निमित्त  
से 'असिद्ध' ६।४।६२ इस मूल से विश्वदिद् होता है जो आभीय है । कि  
आर्धधातुक प्रत्यय तास् के निमित्त से ही 'ऐरनिटि' ६।४.५१ से एिलो  
प्राप्त होता है वह भी आभीय है । इसीलिये असिद्धवद्वामाद् के अनुसार इ  
असिद्ध सा हो जाता है ।

किन्तु 'भावयिता' में जो 'आर्धधातुवरयेद्बलादेः ७।२।३५' से इद् होता  
है वह 'आभीय' प्रकरण का नहीं है । अतः यह इद् असिद्ध नहीं होता और  
आर्धधातुक के आदि में इद् होने के कारण 'ऐरनिटि' से एिलोप नहीं होता ।  
इसी प्रकार अन्य रूपों में भी जब विश्वदिद् होता है तो एिलोप होता  
है, अन्यथा नहीं ।

भावयिष्यते-भावयिष्यते—भावि + मुद् (कर्म०) प्र० पु० एक० । भावि  
+ इद् + स्य + ते विश्वदिद् होकर एिलोप हो जाता है भाविष्यते । अन्यत्र  
भावयिष्यते ।

अभाव्यत—भावि + लद् (कर्म०) प्र० पु० एक० । अ + भावि + मर्  
+ त । एिलोप ।

भाव्येत—भावि + विषित् (कर्म०) प्र० पु० एक० । भावि + य (यक्)  
+ ई (सीमुद्) + त । एिलोप भाव् + य + ई + त भाव्येत ।

भावयिषीष्ट-भावयिषीष्ट—भावि + धातिषि लिट् (कर्म०) प्र० पु० एक० ।  
विश्वदिद् के पक्ष में एिलोप होता है । केव भाविषीष्ट (भाव०) के समान ।

अभावि—भावि + मुद् (कर्म०) प्र० एक० । अभावि + इ (चिर)  
+ त त का लोप होकर तथा विष् के परे रहते 'एिष्' लोप होकर अभावि  
रूप बनता है ।

अभावयिषाताम्-अभावयिषाताम्—भावि + मुद् (कर्म०) प्र० पु० द्वि०

बुभूष्यते । बुभूषाञ्चक्रे । बुभूषिता । बुभूषिष्यते । व  
 भक्तुत्सावंधातुकयोर्दाघः स्तूयते विष्णुः स्ताविता, स्तौ

अभावि + मिच् + घाताम् → विष्ण्वद्भाव से इद् होने पर एि ।  
 अन्यत्र एि (इ) को गुण ए) यप् आदेश होकर अभावयिप्

बुभूष्यते—बुभूष + लट् (भाव०) प्र० पु० एक० ।  
 (बुभूष) से भाववाच्य में लट् होकर बुभूष + ते → यक् होकर  
 यहाँ यकार से धागे वाले मकार का लोप होकर बुभूष्यते ।

बुभूषाञ्चक्रे-बुभूष + लिट् (भाव०) प्र० पु० एक० । बु  
 बुभूषिता—बुभूष + लृट् (भाव०) प्र० पु० एक० । बु

इद् का आगम तथा सन् के मकार का लोप होकर बुभूषिता

बुभूषिष्यते—बुभूष + लृट् (भाव०) प्र० पु० एक० ।  
 त्य को इद् का आगम तथा सन् के म कार का लोप होकर  
 बनता है ।

टिप्पणी—अकर्मक धातु सन्तन्त होकर भी अकर्मक ही  
 भाव में लकार होता है ।

बोभूष्यते - भू + यङ् + लट् (भाववाच्य) प्र० पु० एव  
 भू (बोभूष) धातु से भाववाच्य, लट् लकार प्रथम पु  
 बोभूष + ते इस अवस्था में यक् होकर बोभूष + यते → यह  
 का लोप हो जाता है तथा बोभूष्यते रूप बनता है ।

बोभूष्यते—भू + यङ्लुक् + लट् (भाववाच्य) प्र० पु०  
 भू + (बोभू) धातु से भाववाच्य के लट् लकार प्रथमपुरुष के  
 + य (यक्) ते → बोभूष्यते रूप बनता है ।

अकृविति—अकृत्सावंधातुकयोर्दाघः ७।४।२५। कृत् मी  
 यकारादि प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को दी  
 < 'स्तु + य + ते' यहाँ 'स्तु' के लकार को दीर्घ होता है

१. अतो लोपः ६।४।४८॥

२. अतो लोपः ६।४।४८॥

## भावकर्मप्रतिष्ठा

स्योप्यते । अस्तावि । अस्ताविपाताम्, अस्तोपाताम् । अ  
तिंति गुण । अयंते । स्मृ स्मरथे । स्मर्यते । स्मरते ।

स्तूपते विष्णु—(विष्णु की स्तुति की जाती है) 'स्तु' धातु, लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में धातुनेपद होकर 'स्तु' होकर स्तु+य+ते इस अवस्था में 'अष्टसावधातुकयोर्दाधे' । दीप् (उकार) होकर स्तूपते रूप बनता है ।

स्ताविता-स्तोता—स्तु+लोट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एव० ।  
-डा→स्तु+ता इस अवस्था में 'स्वसिच्०' इत्यादि से विकृत्य  
तथा इट् होकर स्तु+इ+ता वृद्धि स्तौ+इ+ता-  
ताविता । विष्वद्भाव न होने पर उकार को गुण (घो) होकर  
नता है (स्तु धातु मनिट् है मत. यहाँ इट् नहीं होता) ।

स्ताविष्यते स्तोप्यते—स्तु+लुट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एव० ।  
-ते→विष्वद्भाव इट् वृद्धि धातु आदेश होकर स्ताविष्यते  
स्तोप्यते ।

अस्तावि—स्तु+लुट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । अट्  
-त→स्तु की वृद्धि धातु आदेश तथा 'त' लोप होकर अस्तावि ।

अस्ताविपाताम्-अस्तोपाताम्—स्तु+लुट् (कर्म०) प्र० पु०  
-स्तु+सिच्+पाताम्→विष्वद्भाव इट्, वृद्धि, धातु होकर  
-त में—उकार को गुण (घो) होकर अस्तोपाताम् रूप बनता है ।

अयंते—अत्यर्थक अट् धातु से कर्मवाच्य लट् लकार प्रथम  
वचन में 'अ+य (यङ्)+ते, इस अवस्था में गुण  
'अ+य+ते' इस सूत्र से अ की गुण (घर्) होकर अर्+य+ते  
नता है ।

स्मर्यते—स्मृ+लट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । स्मृ  
-यंते धातु होने से 'गुणोऽत्रिसंयोगोऽधो' से गुण होकर स्मर्यते ।

स्मरते—स्मृ+लिट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । स्मृ  
-रते धातु होने से 'गुणोऽत्रिसंयोगोऽधो' से गुण होकर स्मरते ।

चिष्वदिट् आरिता, अर्ता । स्मारिता, स्मर्ता । अर्ति  
सोपः—सस्यते । इदितस्तु नन्दते । सम्प्रसारणम् इज्यः

उपदेशेति—(स्पष्टिच्० इत्यादि सूत्र में) उपदेश या  
चिष्वद्भाष तथा इट् हो जाता है । [ भाव यह है कि ऋ + त  
में पर तथा नित्य होने से पहले गुण हो जाता है और ऋ + त  
में ऋ अजन्त नहीं है फिर भी चिष्वद्भाष तथा इट् होत  
'स्पष्टिच्०' इत्यादि सूत्र में 'उपदेश' शब्द का प्रहण किया या  
अर्थ है—'उपदेश में जो अच् तदन्त धातु को चिष्वदिट् होता ।  
उपदेश अवस्था में अजन्त ही है । ]

आरिता-अर्ता—ऋ → सुट् (कर्मवाच्य प्र० पु० एक० । य  
→ ऋ + ता → गुण (ऋ को ऋ) होकर ऋ + ता चिष्वद्भाष  
बुद्धि (य को आ) होकर आरु + इ + ता = आरिता । चिष्वद्भाष  
न होने पर अर्ता ।

स्मारिता-स्मर्ता—रभृ + लुट् (कर्म०) प्र० पु० एक० । स्मारित

अनिदितामिति—अनिदिता ह्य उपधायाः विजिति ६।४।  
नकार का सोप होता है ।

सस्यते—स्य (निरता) सट् (भाववाच्य) प्र० पु० एक० ।  
(यक्) + त → इस अवस्था में 'अनिदिताम्' इत्यादि से नकार (।  
स्वार के रूप में है। वा सोप होकर सत् + य ते → सस्यते ।

इदितइति—इति धातु का इत् (इकार) इत् सत्क होता है उ  
= इकारः इत् = इत्सङ्गः यस्य तस्य) नकार का सोप नहीं होता  
सूत्र में 'अनिदिताम्' कहा गया है) । इसलिये 'दुर्ताः समृद्धौ' धातु  
वाच्य सट् प्र० पु० एक० में 'नन्दते' रूप बनता है । वही न सोप सट्

६६६ । तनोतेर्यकि ६।१।४४ अकारोऽन्तादेशो वा स्यात्, तायते, तन्यते ।

६६७ तपोऽनुतापे च ३।१।६५॥ तपश्च्लेशिचण् न स्यात्, कर्मकर्तामनुतापे च । अन्वतप्त पापेन । धुमास्येतीत्वम् । दीयते । धीयते ।

तद् + य + ते → न न् (नम्) । द् + य + ते न्यते ।

सम्प्रसारणम्—'यञ् + यक् + ते' यहाँ यञ् धातु के यकार को 'वर्धन-विप्रादीनां किति' ६।१।६५॥ से सम्प्रसारण (इकार) हो जाता है ।

इयते—'यञ् + धातु' ॥ कर्मवाच्य तद् प्रथम पुरुष के एवबचन में यञ् + यक् + ते → सम्प्रसारण (यकार को इकार) इन् य ते → इयते ।

६६६ तनोतेरिति—तन् धातु के अन्त (नकार) को अकार आदेश होता है बिबल से, यक् परे होने पर ।

तायते-तन्यते—तन् (विस्तार करना) + तद् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । तन् + यक् + ते → अन्त को विकल्प से आहार होकर ता + य + ते → तायते । यत् में तन् + य + ते → तन्यते ।

६६७ तप इति—तप धातु से परे च्लि को च्लि नहीं होता कर्मकर्ता और अनुनास अर्थ में । अनुपात का अर्थ है परवाताप ।

अन्वतप्त पापेन—(पाप से दुखी बिया गया) धनु + तप् + मुद् कर्म-वाच्य । धयका 'पापेन पुंसा अन्वतप्त' (पानी पुरुष के द्वारा परवाताप किया गया) इस प्रकार 'पाप' शब्द का अर्थ पानी होता है तथा अरमक होने से पाप में मुद् होता है ।

अन्वतप्त—धनु + तप् + च्लि + त → च्लि के स्थान में भिर् होने का । इतिनो मुम् चातोः ७।१।२८॥ जिस धातु का ह्रस्व इकार इच्छक होता है उसे मुम् का आसम होता है ।

२. पापमत्पातोक्ति पापः । धर्मे आदिष्योऽ ३।२।१२७ से धक् प्राप्य । मही अन्वतप्त का अर्थ परवाताप करना है ।

३. च्लि आवकर्मणो ३।१।६६॥ से च्लि को च्लि प्राप्य होता है ।

ददे ।

६६८ । आतो युक् चिण्कृतोः ७।३।३१।  
युगागमः स्याच्चिणि ङिति कृत्ति च । दायिता, दाता  
दासीष्ट । अदायि । अदायिपाताम् । भग्यते ।

निषेध हो जाने से चिन् को सिच् होकर अनु+अ+तप्+सिच्  
भ्रति ८।२।२६॥ से सिच् का लोप होकर अनुत्तप्य रूप बनता है

युमास्वेति—युमास्यापापाजहातिसां हति ६।४।६६॥ (इत  
को ई होता है हनादि णिच् ङिच् धाव्यधातु परे रहने) इम म्  
+ते' यहाँ 'दा' के अकार को ईकार होता है । दा धातु  
(दाधाद्यदाप् १।१।२०) ।

धीयते—दा+तद्(कर्मवाच्य) प्रथम पुरुष एकवचन । दा  
'युमास्यापापाजहातिसां हति' से अकार को ईकार होकर  
बनता है ।

धीयते—धा (धारण, पोषण करना)+तद् (कर्मवाच्य) प्र०  
धा+अ+ते ।

ददे—दा+तिद् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक । दा+ए (ए  
अभ्यासकर्म द दा+ए-अकार) का लोप होकर द द्+ए-  
बनता है ।

६६८. आत इति—आकारान्त धातुओं को युक् का भाग्य हो  
तथा त्रिच् छित् कृत्प्रत्यय परे होने पर ।

दायिता-दाता—दा+तुद् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एङ० । दा+  
→दा+ता यहाँ 'स्वसिच०' इत्यादि से चिण्वद्भाव तथा इट् होने ।  
युक् चिण्कृतो' से युक् का भाग्य हो जाता है दा+युक्+इट्  
दायिता । पञ्च में दाता' रूप बनता है ।

दायिषीष्ट-दासीष्ट—दा+दायिषि लिङ् (कर्मवाच्य) प्र० पु०  
चिण्वदिट् होने पर 'युक्' का भाग्य दायिषीष्ट । पञ्च में दासीष्ट ।

१. आतो लोप इति च ६।४।६४॥

६६६ । भञ्जेश्च विष्णि ६।४।२३॥ नलोपो वा स्यात् ।  
प्रभाजि, प्रभञ्जि । सम्पत्ते ।

६७० । विभाषाचिष्णमुलो ७।१।६६॥ लभेर्नुमागमो वा  
स्यात् । प्रलम्भि प्रलाभि ।

॥ इति भावकर्मप्रक्रिया ॥

प्रदायि—दा + मुद् (बभं०) प्र० पु० एक० । य दा + णि + त → णि  
के स्थान में विष्णु (विश्रभावकर्मणोः) और विष्णु परे होने पर मुद् का धातु  
होकर य दा + मु + इ + त → त वा मुक् होकर प्रदायि ।

प्रदायिषाताम्—दा + मुद् (बभं०) प्र० पु० द्वि० । य दा + म् (सिष्)  
+ प्राताम् । विश्रद्भाव, इद् होकर मुद् का धातु हो जाता है य दा य इ म्  
प्राताम् → प्रदायिषाताम् । विश्रद्भाव न होने पर 'स्याध्वोरिभ्य' से धातु  
की हकार होकर यदिषाताम् (सिद्धाग्र बभुदी) ।

भग्यते—भञ्ज (तोड़ना) धातु से बभंवाच्य लट् लकार प्रथमपुरुष के  
एकवचन में भञ्ज + व + ते → नलोप होकर भग्यते रूप बनता है ।

६६६. भञ्जेश्चेति—भञ्ज धातु के लकार का लोप होता है विष्णु परे  
होने पर विफल से ।

प्रभाजि प्रभञ्जि—भञ्ज + मुद् (बभंवाच्य) प्र० पु० एक० । य भञ्ज  
+ णि + त → विफल से लकार का लोप होकर य भञ्ज + इ + त उपमा  
(भञ्ज के लकार) की वृद्धि तथा 'त' का लोप होकर य भाञ्ज + इ + प्रभाजि ।  
य लकार का लोप नहीं होता तब 'प्रभञ्जि' यह रूप बनता है ।

सम्पत्ते—सम् + मद् (बभं०) प्र० पु० एव० । सम् + म + ते →  
सम्पत्ते यह रूप बनता है ।

६७०. विभाषेति—सम् धातु की विफल में नुम का धातु होता है, विष्णु  
और मून् होने पर ।

१. चतिरिति इति उपधायाः भिदति ६।४।२४॥

२. यत् उपधायाः ७।१।६६॥



## अथ कर्मकृतृ प्राक्तन्या

यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितं तदा सकर्मकाणाम्  
कर्तरि भावे च सकारः॥

एषमुन् का उदाहरण है—ताभ मादम्, तम्म तम्मम् )

असन्नि-अस्तानि—नम् + गुप् नमं०) प्र० पु० एक० ॥

+ तः निभाया चिण्णमुसो. के अनुगार नुम् का आगम होकर  
भू + चिण् + त → 'त' का लोप होकर अ ल न् भू + इ → नकार  
तथा परसवणं (मवार) होकर अन्निभ रूप बनता है । जब  
तब उपधा (अकार) री वृद्धि होकर अन्निभ रूप बनता है ।

टिप्पणी—मसूत साहित्य में कर्मवाच्य का प्रचुर प्रयोग दृष्टि  
है । कुछ अन्य धातुओं के कर्मवाच्य के रूप निम्न प्रकार से होते हैं

दृ-क्रियते । वै-वीयते । ग्रह-गृह्यते । प्रा-प्राप्यते । वि-  
चोष्यते । जि-जीयते । नी-नीयते । पा-(पीना)-पीयते । पा-(रक्ष)  
पायते । पू-पूयते । पृच्छ-पृच्छ्यते । मा-मीयते । वद्-उप्यते ।  
बह्-उक्ष्यते । वस्-उप्यते । वद्-उद्यते । वच्-उच्यते । शी-शाम्यते  
शिष्यते । हन्-हन्यते । इत्यादि ।

॥ इति भावकर्मप्रक्रिया ॥

मवेति—जब कर्म को ही कर्ता के रूप में कहना अभीष्ट हो  
सकर्मक धातुओं के भी अकर्मक हो जाने से (उनसे) कर्ता तथा भाव  
होते हैं ।

भाव यह है कि जब क्रिया अत्यन्त सरलता से हो जाती है अ  
सौकर्यातिशय होता है तो इस भाव को प्रकट करने के लिये कर्ता के  
कथन नहीं किया जाता, अपितु अन्य कारकों को ही कर्ता के रूप  
किया जाता है, क्योंकि वे अपने कार्य में स्वतन्त्र हैं, अतः वे ही कर्ता  
हैं । जैसे—'अग्निः क्षिपति' अर्थात् तत्तवार से थोड़ा क्या काट रहा है  
स्वयं काट रही है । यहाँ 'अग्नि' करण है यह कर्ता बन गया है और

६७१ । कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रिय- ३।१।८७। कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्त्ता कर्मवत् स्यात् । कार्यातिदेशोऽयम् । तेन यगात्मनेपदविश्वदिट् स्युः । पच्यते फलम् । भिद्यते वाष्टम् । अपाचि । अभेदि । भावे तु भिद्यते काष्ठेन ।

॥ इति कर्म वर्तु प्रक्रिया ॥

सकार होता है । इस प्रकार जब कर्म को छोड़कर अन्य कारको को कर्त्ता के रूप में प्रकट किया जाता है तो कर्त्ता में लकार होता है ।

किंतु कर्म में विशेषता है । जब कर्म को कर्त्ता के रूप में कहना अभीष्ट होता है सकर्मक धातु भी अकर्मक हो जाती है और उससे कर्त्ता तथा भाव में फार होते हैं । कर्त्ता में लकार होने पर भी कुछ धातुओं के रूप कर्मवाच्य के माने जाते हैं । यह धामे दिसलाया जा रहा है—

६७१. कर्मवदिति—कर्म में स्थित (कर्मस्थ) क्रिया के समान है, क्रिया जिसकी ऐसा कर्त्ता कर्मवत् (कर्म के समान) हो जाता है—

दिग्गणो—कर्मस्थ क्रिया नहीं मानी जाती है जहाँ कर्म में क्रिया के द्वारा की गई कोई विशेषता दिखलाई देती है, जैसे पके हुए चावलों में या फटी हुई लकड़ियों में कुछ विशेषता हो जाती है । जहाँ क्रिया कर्मस्थ है तथा जब कर्म को कर्त्ता बना दिया जाता है, तब भी उसमें वही क्रिया रहती है जो कर्मदशा में थी । अतः एव बहु कर्त्ता कर्म के तुल्य क्रिया माना होता है और उसे कर्मवद्भाव हो जाना है । किन्तु गमन क्रिया से तो ग्राम आदि में कोई विशेषता उत्पन्न होती नहीं । अतः ऐसी क्रियाओं के कर्त्ता को कर्मवद्भाव नहीं होता ।

कार्यातिदेश इति यह कार्यातिदेश है । इसलिये कर्मवाच्य के समान यक्, धात्मनेपद और विश्वदिट् (ये कार्य) यहाँ भी होने हैं । यह उसके समान होवे, इस प्रकार वतलाना अतिदेश कहनाता है । 'कर्म के तुल्य क्रिया माना कर्त्ता कर्मवत् हो' यह कहना अतिदेश है । इसके दो अर्थ हो सकते हैं—(१) कर्मवाच्य में क्रिया का रूप बनाने में जो सूत्र (शास्त्र) लगने हैं वे ही इसका कर्मवर्तु क्रिया रूप बनाने में लगाये जाने हैं—यह आशयानिदेश होया । (२) का क्रिया रूप बनाने में जो जो कार्य होने हैं वे ही इसका क्रिया रूप बनाने

## अथ लकारार्थप्रक्रिया

होते हैं—यह कार्यातिदेश होना । यद्यपि शास्त्रातिदेश से भी सिद्धि हो सकती है तथापि मुख्य होने से कार्यातिदेश ही माना  
पच्यते फलम्—(फल स्वयं ही पक रहा है)—‘कालः  
फल कर्म है किन्तु पाकक्रिया के सौकर्यातिशय की प्रशंसा करने ।  
काल क्या पका रहा है फल तो स्वयं पक रहा है, यह बतलाने  
को कर्त्ता बना दिया जाता है । तब कर्त्ता में लकार होने पर  
‘तुल्यक्रियः’ के अनुसार कर्मबद्भाव होता है और कर्मवाच्य  
भारमनेपद होकर पच्यते रूप बनता है ।

यहाँ कर्तृवाच्य होने से कर्त्ता उक्त है, अतः ‘फलम्’ में (प्र  
मे) प्रथमा विभक्ति होती है । इसी प्रकार भिद्यते काष्ठम् ।

अपावि—पष् धातु से कर्मकर्तृ में लुङ् लकार प्रथमपुरुष ।  
‘अप-+वि-+’ इस अवस्था से कर्मबद्भाव होने से चित् को  
है तथा ‘त’ का सोप और पष् के अकार (उपधा) की वृद्धि (प्र  
अपावि रूप बनता है । इसी प्रकार अभेदि ।

भावे स्थिति—धर्म को कर्तृ रूप में बहने पर अब धातु से ।  
होता है तब तो ‘भिद्यते काष्ठेन’ इस प्रकार कर्त्ता में मृगीया विभ  
करोति यही कर्त्ता अनृत है ।

॥ इति कर्मकर्तृप्रक्रिया ॥

लकारार्थप्रक्रियेति—जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया ।  
व्याकरण में इस लकारों का विवेचन किया जाता है । उनके अर्थ ।  
मुख्य धातुगण वाने प्रभृत प्रकरण में बतलाई जा रही हैं—

लट्—वर्तमान काय मे (वर्तमाने लट् १।२।१२३॥) जैसे अणु  
पठति ।

लिट् जो छात्र को न हो (धनदत्तन) तथा बहने वाले को प्र  
(परोक्ष ऐमी क्रिया को प्रशंसा करने के लिये; (परोक्षे लिट् १।  
जैसे—स हिम पुरा पपाठ ।

सुद्—अनद्यतन भविष्यत् काल में (अतद्यत्ने सुद् ३।३।१५॥  
इवः पठिष्यति—यह कल पढ़ेगा ।

सूद्—सामान्य भविष्यत् काल में (सूद् शेषे च ३।३।१३॥  
अथ पठिष्यति, चः पठिष्यति ।

सोद्—केवल वेद में ही (इसका विविध अर्थों में) प्रयोग होता

सोद्—विधि, आज्ञा आदि अर्थों में (सोद् च ३।३।१६॥  
पठतु । आशीर्वाद अर्थ में भी (आशिषि लिङ् सोढी ३।३।१७॥  
पठतात् ।

सद्—अनद्यतन भूतकाल में (अनद्यतने सद् ३।२।१११), जैने  
अपठत्—उत्तने कल पढ़ा ।

लिङ्—(१) 'विधिलिङ्' विधि प्रेरणा आदि अर्थों में । इसमें  
आगे दिये जा रहे हैं ।

(२) आशिषि लिङ्—इसका आशीर्वाद अर्थ में प्रयोग वि  
(आशिषि लिङ् सोढी ३।३।१७३) आशीः का अर्थ है असाप्त इष्ट  
इच्छा । जैसे—भिरञ्जीव्यात् भवान् । तत्किमप्यदाशास्महे केवल  
भूयाः । उत्तम पुरुष में वरुणा की अविनाशा को प्रबल करने के  
प्रयोग किया जाता है । जैसे—वृत्तार्था भूयासम् ।

सुद्—सामान्य भूतकाल में (सुद् ३।१।११० (जैसे—सोम  
(अव्यय) के साथ सब सवारों के विषय में सुद् का ही प्रयोग होता  
सुद् ३।३।१७५) जैसे—भर्तुर्विप्रकृताणि रोषणवया मा स्म प्रतीप न

सूद्—क्रिया की अनिष्पत्ति (असिद्धि) होने पर हेतुहेतुमद्भाव (C  
आदि को प्रकट करने के लिये भविष्यत् काल में सूद् सवार का प्र  
है । (लिङ्-निमित्ते सूद्-क्रियाविपत्ती ३।३।१३६), जैसे—अमोक्ष

६७२ अभिज्ञावनने लृट् ३।३।११२॥

भूतानद्यतने घातोन्ट् । लङोऽप्यादः ॥ वयं निव  
गोकुले यत्स्यामः । एव बुध्यसे, चेतयसे इत्यादि प्र

धृतेन यदि नरसमीपमागमिष्यत् (काशिका) । गुह्यं  
गुभिर्ज्ञाय भविष्यत् (यदि अच्छी वर्षा होगी तो सुवास हं

संधेय में सब सखारों का धर्म निम्न कारिका में दिया

लट् वर्तमाने लेट वेदे भूने लुट् लट् लिटस्तथा ।

विध्याक्षिपोन्तु लिङ्लोटो लुट् लृट् लृट् च भविष्यति

सखारों के धर्म में विषय के कुछ अन्य बातें यहाँ बताने

६७२. अभिज्ञेति—स्मरणबोधक उपपद होने पर भन  
से लृट् लकार होता है ।

दिप्यन्ती—(१) यहाँ उपपद का धर्म है समीप में स्थि  
भाषा पदमुपपन्नम्) । (२) भनद्यतन—जो भान का का त ।

लट् इति—भनद्यतन भूत धर्म में सामान्यतः लट् लकार  
इस विशेष स्थल में लृट् का विधान किया गया है भनः यह  
का धपवाद बाधक) है ।

स्मरसि कृष्ण. गोकुले यत्स्यामः—(हे कृष्ण, तुम्हें  
गोकुल में निवास करते थे) यहाँ स्मरणबोधक 'स्मर'   
भनद्यतन भूत धर्म में वस् घातु में लृट् लकार हो जाता है  
'... + मस्) यह लृट् लकार के उत्तम पुरुष बहुवचन का

एवं बुध्यसे इति—इसी प्रकार बुध्यसे, चेतयसे इ  
... रूप में) प्रयोग होने पर भी (भनद्यतन भूत में लृट्

# अथ संस्कृतव्याकरणस्थ-सूत्राणाम् अकारादिवर्णानुक्रमः

—१०१—

| सूत्राङ्कः सूत्राणि | अध्यायपाद-<br>सूत्राङ्काः | सूत्राङ्कः सूत्राणि   | अध्यायपाद-<br>सूत्राङ्काः |
|---------------------|---------------------------|-----------------------|---------------------------|
| ८ अकवितं च          | १।४।११                    | ५३३ अनु               | ५।३।५                     |
| २६४ अकतंरि च०       | ३।३।१६                    | ५ अनभिहिते            | २।३।१                     |
| ७० अकतंयुले०        | २।३।२४                    | ५४४ अनद्यनेहित्०      | ५।३।२१                    |
| ६४८ अकर्मकाण्य      | १।३।३                     | १२६ (क) अगण           | ५।४।१०८                   |
| ६७ अकेतोः०          | २।३।७०                    | ६३७ अनुनासिकस्य०      | ६।४।१६                    |
| २०५ अदणोऽर्जोऽण्    | ५।४।७६                    | ६३६ अनुगुराभ्यां कृयः | १।३।७६                    |
| १८३ अदित्तहस्ति०    | ४।२।४७                    | ४८ अनुप्रतिगुणश्च     | १।४।४१                    |
| २१५ अथो यन्         | १।१।६७                    | १६ अनुर्मलणे          | १।४।४८                    |
| ३८० अजाद्यनष्टाप्   | ४।१।४                     | ४२७ } अनुसतिवा०       | ७।३।२०                    |
| १६६ अजाद्यनन्तम्    | २।२।३३                    | ४७८ }                 |                           |
| ६१८ अगमनयमो सनि     | ६।४।१६                    | ३४६ अगृह्यान्०        | ४०।१।४०                   |
| ५६३ अगाते           | ३।३।७३                    | १०७ अनेकयाम्य०        | २।२।२४                    |
| ३४७ अत इन्          | ४।१।६३                    | ६० अण्ठो०             | १।४।२८                    |
| ५२२ अत इतिठ्ठी      | ५।२।११५                   | १८४ अन्वर्हिर्म्याम्  | ५।४।११७                   |
| २५ अतिरतिचमणौ च     | १।४।६३                    | १४ अन्तरान्तरेण०      | २।३।४                     |
| ६४६ अनिनायने०       | ५।३।३३                    | ३२६ अण्यर्पकय०        | ३।४।२७                    |
| १६१ अहूरमवाच        | ४।२।७०                    | ६४ अग्यादादितरु०      | २।३।२६                    |
| ६५ अघिकरण०          | २।३।६८                    | २४१ अग्येभ्योऽपि०     | ३।२।७३                    |
| ४३८ अघिहृष्य०       | ४।३।८७                    | ३१६ अघर्ष गो०         | ५।१।१६२                   |
| २३ अघिपरी०          | १।४।६३                    | ६३ अघातो वज्रे        | १।४।८८                    |
| ११३ अघिरीमरे        | १।४।६७                    | ३२ अघवर्णे दुर्गोवा   | २।३।६                     |
| ११ अघिरीहृ०         | १।४।४६                    | ६४७ अघवर्णे कः        | १।४।४४                    |
| ८२ अघीकर्म०         | २।३।३२                    | २६ अघि पदाघे०         | १।४।६६                    |
| ३३७ अनु             | ६।४।१६७                   | ३६ अघादादे वज्रवदी    |                           |



अकारादिवर्णानुक्रमः

४३६

| सूत्राङ्कः सूत्राणि  | अध्यायपाद-<br>सूत्राङ्काः | सूत्राङ्कः सूत्राणि   | अध्यायपाद-<br>सूत्राङ्काः |
|----------------------|---------------------------|-----------------------|---------------------------|
| ५३२ इदम इत्          | ५३३३                      | ३०४ उपसर्गं धोः क्तिः | ३३३६२                     |
| ५४७ इदमस्त्वमुः      | ५३३२४                     | २२५ उपसर्गं च         | ३३३६६                     |
| ५४२ इदमोहित्         | ५३ १२६                    | १२२ उपसर्जनं पूर्वम्  | २३३३०                     |
| ५३६ इदमो हः          | ५३३११                     | ६६१ उपाण्व            | १३३५४                     |
| ५०२ इदमिमोरीमकी      | ६३३६०                     | १३ उपाण्वध्याद्       | १३३५५                     |
| १५१ इदमण्यनपरये      | ६३३१६४                    | २० उपोऽधिके च         | १३३५७                     |
| ५६४ इदमवस्थाभव०      | ५३३५६                     | ६३ उभयप्राप्ती०       | २३३६६                     |
| ५६६ इवे प्रतिकृती    | ५३३६६                     | ५०५ उभादुदात्तो०      | ५३३४४                     |
| ५१५ इष्टादिभ्यश्च    | ५३३५५                     | १६० उरः प्रभृतिः      | ५३३१५१                    |
| ५५६ इष्टस्य मिद् च   | ६३३१२६                    | [क]                   |                           |
| ३५४ इत्सुस्तान्तरकः  | ७३३५१                     | ६०२ ऊङुतः             | ५३३६६                     |
| [ई]                  |                           | ३०६ ऊतिसूनि०          | ३३३६७                     |
| २१६ ईयति             | ६३४६३                     | ६०४ ऊहत्तरपदा०        | ५३३६६                     |
| ५६१ ईपदसमाप्ती०      | ५३३६७                     | १६१ ऊपःदिक्वि०        | १३३६१                     |
| ३१५ ईपदङुः सुपु०     | ५३३१२६                    | [ख]                   |                           |
| [उ]                  |                           | २०४ ऊरूपूरतपुः०       | ५३३७४                     |
| ४७० उगावादिभ्यो यत्  | ५३३१२                     | ३३१ ऊव्यन्धक०         | ५३३११४                    |
| ५५१ उगितरश्च         | ५३३१६                     | २२२ ऊहलोभ्यत्         | ३३३१२४                    |
| ५५४ उगधति            | ५३३३२                     | [ग]                   |                           |
| २६० उगादयो०          | ३३३३१                     | २६५ ऊदोरप्            | ३३३५७                     |
| ३३५ उरसादिभ्योऽण्    | ५३३५६                     | [घ]                   |                           |
| ६४६ उदश्चरः सक०      | १३३३३                     | १६२ एकविभक्ति०        | १३३४४                     |
| ३२४ उदितो वा         | ७३३५६                     | २४० एको गोत्रे        | ५३३६३                     |
| १५७ उद्विभ्यां कानु० | ५३३१४५                    | २३५ एवेऽयम्           | ३३३२५                     |
| १६५ उपपदमतिद्        | २३३१६                     | ५५५ एतद्              | ५३३३५                     |
| ६३६ उपमानादाचारे     | ३३३१०                     | २१५ एतिस्तुताव०       | ३०३१०६                    |
| १२६ उपमानानि०        | २३३३५                     | ५५३ एतेतो रपोः        | ५३३४४                     |
| २०६ उपसर्गादिवनः     | ५३३५३                     | ७६ एतन्ना द्वितीया    | ७३३३१                     |



| सूत्राङ्कः | सूत्राणि          | अध्यायपाद-<br>सूत्राङ्काः | सूत्राङ्कः | सूत्राणि      |
|------------|-------------------|---------------------------|------------|---------------|
| १८१        | अप्पुरणी०         | ५।४।११६                   | १६७        | अहः सर्वक०    |
| ३०६        | अ प्रत्ययात्      | ३।३।१०२                   |            | [भा           |
| ६७२        | अभिज्ञावचने०      | ३।२।११२                   | २७८        | आनवेस्तच्छीत् |
| १२         | अभिनिविष्टश्च     | १।४।४७                    | ६१         | आख्यातोऽनयो   |
| ४३७        | अभिनिष्कामति०     | ४।३।८६                    | ६६         | आह्मर्यादावच  |
| ६५७        | अभिप्रत्यतिभ्यः   | १।३।८०                    | ४८६        | आ च त्वात्    |
| २२         | अभिरभाये          | १।४।८१                    | २३०        | आतश्चोपसर्गे  |
| २०६        | अर्द्धपदज०        | ६।३।६७                    | २३३        | आतोऽनुपसर्गे  |
| २८८        | अतिनूप्रसू०       | ३।२।१८४                   | ६६८        | आतो मुक्०     |
| ६१२        | अतिहो०ली०         | ७।३।३६                    | ३१६        | आतो मुक्      |
| १७५        | अर्धचाः०          | २।४।३१                    | ४७३        | आत्मन्विष्ट०  |
| १४४        | अर्धं नपुंसकम्    | २।२।२                     | २४७        | आत्ममाने०     |
| ५२६        | अर्शं आदिभ्योऽन्  | ५।२।१२७                   | ४७४        | आत्माध्वानी०  |
| ३२०        | असंखल्वोः०        | ३।४।१८                    | १०१        | आधारोऽधि०     |
| २००        | अल्पाक्षरम्       | २।२।३४                    | २७४        | आने मुक्      |
| ४४३        | अथयवे च०          | ४।३।१३५                   | १७०        | आन्महतः०      |
| ३१६        | अवे तृप्तोः०      | ३।३।१२०                   | ३२७        | आभीष्टये०     |
| ५७८        | अव्यक्तानुकर०     | ५।४।५७                    | ३४६        | आपनेपो०       |
| ५६४        | अव्ययसर्व०        | ५।३।७१                    | १०६        | आयुक्त०       |
| ४०६        | अव्ययाख्यप्       | ४।२।१०४                   | ८५         | आतिपि०        |
| १२३        | अव्ययीभावश्च      | २।४।१८                    |            | [इ]           |
| १२३        | अव्ययीभावे च०     | ६।३।८१                    | ६१६        | इको भत्       |
| १२६        | अव्ययीभावे शरत्०  | ५।४।१०७                   | ५८६        | (क) इगन्ताञ्  |
| ११६        | अव्ययीभावः        | २।१।५                     | २२६        | ..            |
| १२०        | अव्ययं विभक्ति०   | २।१।६                     | ३०८        | ..            |
| ३३१        | अक्षपत्यादिभ्यश्च | ४।१।८४                    | ५          | ..            |
| ५२४        | अस्मायामेधा०      | ५।२।१२०                   |            | ..            |
| ५७४        | अस्य व्यो         | ७.                        |            | ..            |
| ५२७        | अहं शुभमोमुंस्    | ५                         |            | ..            |

| सूत्राङ्कः सूत्राणि  | अध्यायपाद-<br>सूत्राङ्काः | सूत्राङ्कः सूत्राणि   | अध्यायपाद-<br>सूत्राङ्काः |
|----------------------|---------------------------|-----------------------|---------------------------|
| ५० क्रियार्थेति०     | २।३।१४                    | ४०२ धामाद्यध्वजो      | ४।२।१४                    |
| ५१५ जीतात्           | ४।१।५०                    | [घ]                   |                           |
| ४४ नृपद्वहे०         | १।४।३७                    | २१५ धजि व०            | ६।४।२७                    |
| ४५ नृपद्वहे०         | १।४।३८                    | [च]                   |                           |
| २७१ कवमुच्य          | ३।२।१०७                   | २२३ चजोः कु वि०       | ५।३।५२                    |
| ५१८ कवाति            | ७।२।१०५                   | १०० चतुर्थी चाशि०     | २।३।७३                    |
| २४४ किवप् क          | २।२।७६                    | १३८ चतुर्थी तदर्था०   | २।१।३६                    |
| ३५८ सत्रादयः         | ४।१।१३८                   | ३६ चतुर्थी सम्प्रदाने | २।३।१३                    |
| २६५ सापो मः          | ८।२।५३                    | ४५२ चरति              | ४।४।८                     |
| ६२७ शुभ्नादिषु च     | ८।४।३६                    | २३४ चरेष्टः           | ३।२।१६                    |
| [छ]                  |                           | १६६ चार्थे द्रव्य     | २।२।२६                    |
| २४८ विरयनव्यवस्थ     | ६।३।६६                    | ६३५ चिन्मात्रवर्मणोः  | ३।१।६६                    |
| [ग]                  |                           | २८५ चष्टो. गूढ०       | ६।४।१६                    |
| ६ गतिबुद्धि०         | १।४।५२                    | ५७७ च्यो च            | ७।४।२६                    |
| ५४ गत्यर्थवर्मणि०    | २।३।१२                    | [घ]                   |                           |
| ६५४ गन्धनावसापण०     | १।३।३२                    | ३१५ छादेर्षे०         | ६।४।६६                    |
| ३४१ गणादिभ्यो यञ्    | ४।१।१०५                   | [ज]                   |                           |
| ४१० गहादिभ्यश्च      | ४।२।१३८                   | ३६१ जनपदशब्दात्०      | ४।१।१६८                   |
| ४६१ गुणवचन०          | ५।१।१२४                   | ३६२ जनपदे सुप्        | ४।२।८१                    |
| ६२२ गुणभे यङ्लुङोः   | ७।४।८२                    | ६२ जनितुः०            | १।४।३०                    |
| ३१० गुरोश्च हलः      | ३।३।१०३                   | २८० सत्ताभिस्त०       | ३।२।१५५                   |
| २३१ गेहे कः          | ३।१।१४४                   | ३२५ जहातेश्च वित्त्वं | ७।४।४३                    |
| ३४४ गोत्राद् द्रव्य० | ४।१।१६४                   | ६०० जातेरस्त्रीविषया० | ४।१।६३                    |
| १४७ गोत्र्यसौर्वत्   | ४।२।१६०                   | ८६ जातिनिग्रहण०       | २।३।५६                    |
| १२० गोरनञ्जि०        | ५।४।६२                    | ४२८ जिह्वामूला०       | ४।३।६२                    |
| ४४६ गोत्रश्च पुरीषे  | ४।३।१४५                   | ३४३ जीवति तु०         | ४।१।६३                    |
| १६६ गोत्रिचो०        | १।२।४८                    | ८१ गोत्रिचयस्य०       | २।३।५१                    |
| ३८२ धामजनवन्तु०      | ४।२।४३                    | ५५६ ज्य च             | ५।१।८८                    |



